भैया भगवतीदास
और
उनका साहित्य

डॉ0 उषा जैन
रीडर एवं पूर्व अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
वर्धमान कॉलेज, बिजनौर

-: प्रकाशक :-
अखिल भारतीय साहित्य कला मंच
मुरादाबाद (उ० प्र०)

प्रकाशक	:	अ०भा० साहित्य कला मंच मुरादाबाद (उ० प्र०)
प्रकाशन वर्ष	:	सन् 2006
सर्वाधिकार	:	डॉ० उषा जैन
वितरक	:	अ०भा० साहित्य कला मंच मुरादाबाद (उ० प्र०)
मूल्य	:	250/- रूपये
लेजर टाइपसैटिंग	:	कुमार कम्प्यूटर्स 25, चिम्मन-बजरिया चाँदपुर (बिजनौर) उ० प्र० ✆: 01345 - 221119

Bhaiyya Bhagvati Das Aur Unka Sahitya

by

Dr. Usha Jain

भूमिका

17वीं एव 18वीं शताब्दियो में ऐसे पचासों कवि हुए हैं जिन्होंने हिन्दी पद्य एव गद्य में सभी तरह की रचनाएँ निबद्ध करने का श्रेय प्राप्त किया। इन दो शताब्दियो में रचित विशाल साहित्य की अभी तक पूरी खोज भी नहीं हो सकी है। विगत 40 वर्षों से इस क्षेत्र में कार्यरत होने पर मुझे स्वय को भी पूरी कृतियो का पता लगाना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि छोटे से छोटे ग्रथ सग्रहालय मे एक दो नई कृतियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो जैन कवियो का कृतित्व पूरी तरह उपेक्षित रहा है और पचासो कृतियो के प्रकाशन पर भी अभी तक इतिहासकारों का उस ओर ध्यान नहीं जा सका है। इसी तरह जैन साहित्य के इतिहास मे भी पूरी कृतियो का समावेश नहीं हो पाया है। डॉ॰ कामताप्रसाद जैन डॉ॰ नेमिचद शास्त्री डॉ॰ प्रेम सागर जैन ने अपने हिन्दी जैन साहित्य में कुछ कृतिया का परिचय तो अवश्य दिया है लेकिन कृतियो की विशाल सख्या को देखते हुए वह प्रयास भी ऊँट के मुँह मे जीरे के समान है। महापंडित राहुल साकृत्यायन ने महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ को हिन्दी का आदि-काव्य मानकर तथा डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी न जैन हिन्दी-साहित्य का भारतीय साहित्य का अग मानकर जैन हिन्दी-कवियों के गौरव को बढ़ाया है लेकिन जिम गति से जैन-कवियों के हिन्दी साहित्य का मूल्याकन होना चाहिए था वह अभी तक नही हो पाया है।

हिन्दी के जैन-कवि आरम्भ से ही किसी एक धारा से चिपके हुए नही रहे किन्तु उन्होने स्वय ही अपनी-अपनी रचनाओ को काव्य की विभिन्न धाराओ में निबद्ध करके हिन्दी साहित्य की विशालता में अभिवृद्धि की और जन सामान्य मे हिन्दी पठन-पाठन के क्षेत्र को विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की। राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो मे हिन्दी की सैंकडों पाडुलिपियाँ संगृहीत हैं, जिनको देखने से पता चलता है कि ये रचनाएँ कथा, रासो, रास, पूजा, मगल, जयमाल, प्रश्नोत्तरी, सार समुच्चय स्तोत्र, पाठ, वर्णन, सुभाषित, चौपाई, शुभमालिका निशाणी जकडी, ब्याहलो, बधावा, विनती पत्री, आरती, बोल, चरचा, विचार

बात, गीत, लीला, चरित्र, छद, छप्पय, भावना, विनोद, कल्प, नाटक, धमाल, चौढालिया, चौमासिया, बारामासा, बटोई, बेलि, हिण्डोलना, चूनड़ी, सज्झाय, बाराखडी, भक्ति वदना, पच्चीसी, बत्तीसी, पचासा, बावनी, सतसई, सहस्त्रनाम, नामावलि, गुरुवावली, स्तवन, सबोधन, आदि नामो के अतर्गत निबद्ध की गईं। इन विविध साहित्य रूपों मे से किसका कब आरम्भ हुआ और किस प्रकार विकास एव विस्तार हुआ यह शोध का रोचक विषय है।

हिन्दी की जननी अपभ्रश भाषा पर तो जैन कवियो का एकमात्र अधिकार रहा है। उन्होने अपभ्रश के माध्यम से हिन्दी के विकास मे जो योग दिया, वह तो ऐसी कहानी है, जिस पर जितना लिखा जावे वही कम है। जैन कवियो ने 12-13 शताब्दी मे छोटे-छोटे रास काव्य निबद्ध कर हिन्दी भाषा के पठन-पाठन को लोकप्रिय बनाने का पूरा प्रयास किया और उसमे वे पूरी तरह सफल हुए। उन्होने जायसी जैसा महाकाव्य तो नही लिखा किन्तु सवत् 1354 मे जिणदत्त चरित लिखकर प्रबन्ध काव्य लिखने की परम्परा को जन्म दिया। इसी तरह सवत् 1411 (सन् 1354) मे ब्रजभाषा मे प्रद्युम्न चरित निबद्ध करके प्रादेशिक भाषाओ को समृद्ध बनाने का महान उपक्रम किया। इससे हिन्दी का विकास होता ही गया और उसमे लिखने पढने को राष्ट्रीय पांडित्य की मान्यता मिलने लगी।

16वी शताब्दी मे बूचराज, छीहल चतुरुमल, गौरवदास एव ठक्कुरसी जैसे कवि हुए जिन्होने अपनी लघु किन्तु सशक्त कृतियों से हिन्दी का भडार भर दिया। छीहल की पचसहेली गीत एव बावली हिन्दी साहित्य के इतिहास मे चर्चित कृतियो मे रही है। सवत 1560 से 1600 तक की अर्धशती एक सधिकाल था। राजस्थान का छाडकर प्राय सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर मुस्लिम शासन था। अपभ्रश साहित्य मे सृजन का युग समाप्त हो रहा था और हिन्दी शनै--शनै उसका स्थान ल रही थी। जैन कवि हिन्दी की ओर विशेष आकृष्ट थे। राजस्थान मे वे निर्भय होकर हिन्दी-राजस्थानी मे कृतियाँ निबद्ध करने मे लगे हुए थे। बूचराज, छीहल, चतुरूमल एव ठक्कुरसी सभी राजस्थानी कवि थे। इसके अतिरिक्त 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे हिन्दी मे ब्रह्म जिनदास जैसे महाकवि हुए जिन्होंने राजस्थानी भाषा में 70 से भी अधिक रास काव्य लिखकर एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया। एक कवि द्वारा राजस्थानी में इतने अधिक काव्य प्रथम बार लिखे गए और कवि के प्रभाव से सारा बागड प्रदेश हिन्दीमय हो गया। और उसके पश्चात् जैन सन्तो के रूप मे नये-नये कवि होते गए और अपनी रचनाओ द्वारा माँ भारती का भण्डार भरते गए।

17वीं एवं 18वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्णयुग माना जाता है। इन दो शताब्दियों में हिन्दी कवियों में होड़ सी लग गई और सारे देश में हिन्दी के ग्रन्थों की लोकप्रियता में वृद्धि होने लगी, एक साथ कितने ही कवि होने लगे। जैन भट्टारकों ने हिन्दी को बहुत ही प्रश्रय दिया। उन्होंने स्वयं हिन्दी राजस्थानी में अनगिनत रचनाएँ निबद्ध की। भट्टारक रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र के समकालीन होने वाले 70 कवियों का नामोल्लेख परिचय तो हमने श्री महावीर ग्रंथ अकादमी के चतुर्थ भाग में दिया है, जिसे हम पूर्ण नहीं कह सकते। स्वयं कवि रत्नकीर्ति ने छोटी-बड़ी 44 कृतियों को निबद्ध करने का श्रेय प्राप्त किया और उनके शिष्य कुमुदचन्द्र ने 30 कृतियों की रचना करके हिन्दी के गौरव को बढ़ाया और अपनी कृतियों के माध्यम से सारे बागड़ प्रदेश में हिन्दी रचनाओं की धूम मचा दी।

इसी शताब्दी में बनारसीदास जैसे यशस्वी महाकवि हुए जिन्होंने समयसार नाटक की रचना करके अध्यात्म क्षेत्र में हिन्दी को प्रवेश दिलाया। समयसार नाटक का स्वाध्याय करने के लिए जन सामान्य ने हिन्दी पढ़ना लिखना प्रारम्भ किया। यही कारण है कि राजस्थान के छोटे-बड़े सभी ग्रंथागारों में समयसार नाटक की पाण्डुलिपि उपलब्ध होती है। बनारसीदास के 'बनारसी विलास' में छोटी-बड़ी 49 रचनाओं का संग्रह मिलता है। जो भाषा, शैली एवं विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। यदि साम्प्रदायिकता का चश्मा उतार कर बनारसीदास की रचनाओं का गहन अध्ययन किया जावे तो आनन्द विभोर हुए बिना नहीं रहा जावेगा। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि जैन कवि नारी सौन्दर्य के चक्कर में नहीं पड़ कर जगत् की असारता, आत्मा की अनन्त शक्ति का आत्मा पर विजय पाने के उपाय पर काव्य रचना करते रहे और अपने पाठकों को शृंगार रस से दूर रखते रहे। बनारसीदास ने अपने जीवन के 55 वर्ष की जीवन कहानी को सही रूप में अर्थात् जो जैसी थी उसी रूप में बिना नमक मिर्च लगाये प्रस्तुत की। यही कारण है कि बनारसीदास का अर्धकथानक विश्व की महान आत्मकथा मानी जाती है।

18वीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में महाकवि सभाचन्द हुए जिन्होंने पद्मपुराण को महाकाव्य के रूप में छन्दोबद्ध करने का श्रेय प्राप्त किया। संवत् 1711 में रचित इस महाकाव्य में पूरी जैन रामायण छन्दोबद्ध की गई है जिसकी छन्द संख्या 6606 है तथा जो मुख्यत: दोहा चौपाई प्रधान हिन्दी काव्य है। इसके पूर्व किसी भी जैन कवि ने हिन्दी पद्य में इतनी बड़ी रचना नहीं लिखी थी। रचना धारा प्रवाह चलती है। भाषा सत्य, मधुर एवं सरल है। इस रचना के दो वर्ष

पश्चात् बालक कवि ने संवत् 1713 में 3600 पद्यों में सीताचरित्र लिखकर राम कथा को जैन समाज में लोकप्रिय बना दिया।

इसके पश्चात् भैया भगवतीदास का समय आता है। ये आगरा निवासी थे। आगरा को 200 वर्षों तक संवत् 1601 से 1800 तक हिन्दी जैन कवियों का केन्द्र रहने का सौभाग्य मिला। इन दो सौ वर्षों में बीसों कवि हुए जिन्होंने हिन्दी काव्यों को एक नया स्वरूप प्रदान किया। आगरा में भैया भगवतीदास के पूर्व होने वाले इन कवियों में महाकवि बनारसीदास के अतिरिक्त पाण्डे रूपचन्द, अर्गलपुर जिन वन्दना के रचयिता पं० भगवतीदास, पाण्डे जिनदास, जगजीवन, कुंअरपाल, परिहानन्द, परिमल्ल हीराचन्द मुकीम, पं० हीरानन्द के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। भैया भगवतीदास के उत्तरकालीन कवियों में कविवर दौलतराम कासलीवाल एवं कविवर भूधरदास के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। भूधरदास संभवत: आगरा में होने वाले उस कड़ी के अन्तिम कवि थे जिन्होंने पार्श्वपुराण जैसे श्रेष्ठ काव्य की रचना करने का गौरव प्राप्त किया। इस शताब्दी की एक विशेषता यह रही कि स्वयं कवि ही अपनी लघु रचनाओं को एक ही स्थान पर संकलन करके उसे अपने नाम के साथ विलास नाम देना अधिक उपयोगी मानने लगे। बनारसी विलास, द्यानतविलास, ब्रह्म विलास, विवेक विलास, भूधर विलास इसी तरह की कृतियाँ हैं। इतना अवश्य है कि बनारसीदास की लघु रचनाओं का संकलन जगजीवन कवि ने किया। किन्तु ब्रह्म विलास एवं भूधर विलास स्वयं कवि द्वारा दिया हुआ नाम है।

भैया भगवतीदास 18वी शताब्दी के प्रतिनिधि कवि थे। जैन कवियों की पंक्ति में उनका सम्मानीय स्थान है किन्त उनका अभी तक व्यापक अध्ययन नहीं हो सका था। यद्यपि हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास लेखकों विशेषत: डॉ० कामताप्रसाद जैन, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० प्रेमसागर जैन ने भैया भगवतीदास का अपने इतिहास में सामान्य परिचय तो दिया है लेकिन उनके जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका था, इसलिए श्रीमती उषा जैन ने ऐसे महत्त्वपूर्ण कवि पर शोध ग्रन्थ लिखकर तथा उसके व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व पर विशद प्रकाश डालकर एक यशस्वी कार्य किया है, जिसके लिए वे धन्यवाद की पात्र हैं।

भगवतीदास के नाम के पूर्व भैया शब्द का प्रयोग संभवत: उनके माता-पिता के सम्पन्न घराने के होने का द्योतक है तथा वे अपने माता-पिता के

लाड़ले पुत्र थे इसलिए भी जनसामान्य उन्हें भैया नाम से सम्बोधित करता होगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं के संकलन को ब्रह्म विलास के नाम से नामकरण किया यह भी महत्त्वपूर्ण बात है जो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि अध्यात्मपरक रचनाओं के लेखन में उनकी विशेष रुचि रही होगी।

श्रीमती उषा जैन ने भैया भगवतीदास की सभी रचनाओं का विस्तृत परिचय दिया है तथा उनकी भाषा, शैली, छन्द, अलंकार आदि सभी विशेषताओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। इस शोध ग्रंथ में कवि की सभी विशेषताओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। आपके इस अध्ययन से हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त कवि जो अब तक अल्प चर्चित रहा अपने पूरे कृतित्व के साथ सामने आया है जिससे हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसे विशेष स्थान प्राप्त होगा तथा उनकी कृतियों के पठन-पाठन एवं अध्ययन की ओर सभी पाठकों का ध्यान होगा। डॉ॰ श्रीमती उषा जैन के इस भगीरथ प्रयत्न की जितनी प्रशंसा की जावे वही कम है। भविष्य में वे और भी अचर्चित कवियों को प्रकाश में लाने का प्रयास करेंगी ऐसी उनसे आशा की जाती है। हिन्दी जैन-साहित्य की विशालता को देखते हुए इस ओर विशेष प्रयास की आवश्यकता है लेकिन फिर भी श्रीमती जैन का यह शोध ग्रंथ इस क्षेत्र मे मशाल का कार्य करेगा ऐसी मेरी मनोभावना है।

डॉ० कस्तूर चन्द कासलीवाल
निदेशक
श्री महावीर गथ अकादमी, जयपुर

867, अमृत कलश
बरकत नगर किसान मार्ग
टोंक रोड, जयपुर

अंतर्दर्शन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जैन, नाथ-पंथ तथा सिद्धों के साहित्य को 'साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र' तक मानकर उसे 'शुद्ध साहित्य' के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया था। इस मान्यता की पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल जी का अपना विशुद्धतावादी दृष्टिकोण ही प्रमुख है पर इसमें भी संदेह नहीं है कि उनके जीवन-काल में उक्त साहित्य के ऐसे अनेकानेक ग्रंथ प्रकाश में नहीं आ पाए थे, जिनमें सिद्धांत निरूपण के साथ-साथ साहित्य की कोमल भावना प्रवाहित थी। अत: आचार्य शुक्ल जी को अपनी स्थापनाओं पर पुनर्विचार का अवसर नहीं मिला।

डॉ॰ पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा डॉ॰ रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानों के सत्प्रयासों से संत-साहित्य के साथ-साथ जैन, नाथ-पंथ तथा सिद्धों का साहित्य भी विशाल परिमाण मे प्रकाश में आया। इसके आधार पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने शोध-ग्रथ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' मे जोरदार शब्दों मे इसकी महत्ता को स्वीकारते हुए लिखा ''केवल नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमे आदि-काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पडेगा और जायसी को भी दूर से दंडवत् करके विदा कर देना होगा।'' आगे चलकर सिद्ध-साहित्य, नाथ-पंथ तथा जैन-साहित्य पर अनेक विद्वानों ने अपना ध्यान केन्द्रित किया।

भारत में ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति की धाराएँ समानान्तर रूप में प्रवाहित रही हैं। जैन धर्म भी भारतीय संस्कृति का अविच्छिन्न अंग रहा है। अत: संत-साहित्य के क्षेत्र में जैन साहित्यकारों का योगदान भी अत्यत महत्त्वपूर्ण है। डॉ॰ प्रेमसागर जैन ने हिन्दी जैन भक्ति काव्य का आरम्भ सं॰ 1405 वि॰ से माना है। उन्होंने प्रारम्भिक जैन कवियों के पक्ष में राजशेखर सूरि (1405 वि॰), सधारू (1411 वि॰) विनयप्रभ उपाध्याय (1412 वि॰) आदि का उल्लेख किया है। अपने शोध-प्रबंध 'जैन भक्ति काव्य और कवि' में उन्होंने जैन संत कवियों

की लम्बी सूची दी है, जिसमें भैया भगवतीदास तथा उनकी कृतियों का भी संक्षेप में उल्लेख किया है। डॉ॰ श्रीमती उषा जैन ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं भैया भगवतीदास तथा उनके कृतित्व पर सविस्तार विचार किया है।

भैया भगवतीदास की समस्त कृतियाँ संवत् 1731 वि0 से 1755 वि0 के मध्य रचित हैं, जो 'ब्रह्म विलास' शीर्षक से स्वयं कवि द्वारा ही संगृहीत हैं। हिन्दी-साहित्य में यह काल-खंड रीति-काल के अन्तर्गत आता है। भैया भगवतीदास की रचनाओं में अलंकारों के प्रयोग पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। उनके द्वारा रचित 'चित्र-काव्य' भी इसी की प्रेरणा का परिणाम है। फिर भी भैया भगवतीदास को हम संत एवं भक्त कवियों के अधिक निकट पाते हैं।

भैया भगवतीदास ने श्रेष्ठ रूपक-काव्यों की रचना की है। उनकी स्तुतिपरक रचनाएँ भी उच्चकोटि की हैं। इस प्रकार एक ओर उन्होंने प्रेमगाथाकारों के रूपक काव्यो का अनुसरण किया तो दूसरी ओर कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों की स्तुतिपरक परम्परा को आगे बढ़ाया। उनकी रचनाओं में शांत रस की प्रधानता है। इस दृष्टि से वे कबीरदास के अधिक निकट हैं।

भैया भगवतीदास की रचनाओं में ज्ञान तथा भक्ति का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनमें श्रेष्ठ आचरण का भी निरूपण उनका अपना वैशिष्ट्य है। दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में जैन धर्म के सिद्धान्तो के सप्रमाण विवेचन के साथ भैया भगवतीदास के विचारों से उनका तारतम्य स्थापित किया गया है।

'भैया भगवतीदास और उनका साहित्य' ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से अप्रतिम है। इसमें एक विस्मृतप्राय कवि एवं भक्त की कीर्ति-रक्षा का स्तुत्य प्रयास किया गया है, जो लोकहित के साथ-साथ स्वयं में भी एक पुण्य कार्य है। आशा है कि विद्वज्जनों को इससे परितोष होगा।

-डॉ॰ रामस्वरूप आर्य
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
वर्धमान कालेज, बिजनौर

भगवान महावीर जंयती, 2049 वि0

अभिमत

हिंदी जैन साहित्य में भैया भगवतीदास जी की रचनाएँ 'ब्रह्मविलास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आध्यात्मिक कविवर भैया जी ने अपनी रचनाओं को स्वयं ही ब्रह्मविलास के नाम से संस्कारित किया था। इसमें कुछ रूपक काव्यमय हैं तो कुछ दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक हैं। कुछ शिक्षा तथा उपदेश प्रधान हैं। चित्रकाव्य का भी भैया जी ने सृजन किया था; किन्तु उनमें भक्ति एवं अध्यात्मपरक रचनाओं का प्राबल्य है। इन सब बहुआयामी रचनाओं में विविध अलंकारों का प्रयोग करते हुए कवि ने जो अपने विशुद्ध आध्यात्मिक भावों को अभिव्यक्त किया था, उससे कवि की विपुल-प्रतिभा एवं भावाभिव्यक्ति में निपुणता का सहज ही आभास हो जाता है। उनकी रचनाओं में हृदयस्पर्शी काव्य सौन्दर्य दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

भैया जी के अतिरिक्त अन्य जैन कवियों ने भी हिंदी साहित्य के भण्डार को अपनी बहुआयामी महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा भरा ही है; किंतु उनके प्रचार प्रसार के अभाव तथा शास्त्र भण्डारों में ही सिमट कर रह जाने के कारण वे प्रकाश में न आ सकीं। फिर हिंदी साहित्य के महारथियो द्वारा उन रचनाओं की साम्प्रदायिक कह कर पर्याप्त उपेक्षा भी की गई। जब स्वनामधन्य अध्यात्म रसिक कविवर प्रतिभाशाली विद्वान श्री पं0 बनारसीदास जी की 'अर्द्धकथानक' एवं 'नाटक समयसार' जैसी रचनाएँ साहित्य मनीषियों की दृष्टि में आयीं तब निष्पक्ष भाव से अवलोकन करने से उनका भ्रम दूर हुआ। हिंदी एवं आध्यात्मिक साहित्याकाश में कविवर बनारसीदास जी सचमुच ही एक कांतिमान नक्षत्र की भांति उदित हुए थे।

इसी संदर्भ में 18वीं शताब्दी में आगरा में कविवर भैया भगवतीदास उदित हुए। जिन्होंने तथोक्त ब्रह्मविलास नाम से अपनी रचनाओं का सृजन कर हिंदी काव्य साहित्य को एक बहुमूल्य रत्न समर्पित किया।

विदुषी डॉ॰ श्रीमती उषा जैन ने कुछ समय पूर्व ग्रंथ भंडारों में डुबकियाँ लगाकर काव्य रत्नों में से ब्रह्मविलास को अपने शोध प्रबंध के लेखन हेतु चुना

और उसका अध्ययन कर अपने वैदुष्यपूर्ण अध्यवसाय द्वारा उसका सर्वांग आलोड़न करते हुए 'भैया भगवतीदास और उनका साहित्य' नाम से सुन्दर ग्रंथ लिखा। जिससे भैया जी की काव्य कला साकार हुई एवं आगरा विश्वविद्यालय से उन्हें मानद 'डाक्टर' की उपाधि भी प्राप्त हुई।

अब उक्त शोध ग्रंथ डॉ॰ उषा जैन द्वारा संपादित होकर प्रकाशित है। जिसमें 7 अध्याय हैं- जिनमें भैया जी की बहुआयामी सभी कृतियों की विशेषताओं को भली भाँति विवेचना कर उजागर किया गया है। इस शोध ग्रंथ को लिखकर श्रीमती डॉ॰ जैन ने वास्तव में एक श्रमसाध्य महत्वपूर्ण तथा अभिनंदनीय कार्य किया है- जिसके लिये उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाये कम है।

डॉ॰ जैन ने अपने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में कविवर भैया जी का जीवनवृत्त लिख कर उनका विस्तृत परिचय दिया है। द्वितीय अध्याय में देश में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का उल्लेख किया है। तृतीय अध्याय में उनकी सभी कृतियों का ऊहापोह पूर्वक विस्तृत विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में भाव पक्ष के अंतर्गत शांत रस, भक्ति, वीर, अद्‌भुतादि रसों का विश्लेषण है। पंचम में कला पक्ष के अंतर्गत अलंकार छन्द, भाषा एवं लोकोक्तियों का कृति में यथास्थान वर्णन है। षष्ठ अध्याय में दार्शनिक विवेचना है- जिसमें सृष्टि कर्तृव्य, कर्म सिद्धांत, गुणस्थान, सम्यक्त्व, मिथ्यात्वादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। सप्तभंगी न्याय भी इसी में सम्मिलित है। सप्तम अध्याय में भैयाश्री के काव्य का मूल्यांकन करते हुए उसका महत्व एवं उपयोगिता दर्शायी गयी है।

इसी संदर्भ में ब्रह्मविलास ग्रंथ का पारायण करते हुए डॉ॰ जैन ने प्रसंगानुसार अनेक पद्यों का चयन करते हुए अपने शोध प्रबंध में समावेश किया है- जो भैया जी की प्रतिभा एवं भावाभिव्यक्ति को उजागर करने के लिए आवश्यक था। इससे कवि की अध्यात्मरसिकता, पांडित्य, दीर्घदर्शिता, सहृदयता, निरभिमानता एवं महानता का सहज ही आभास हो सकता है।

ग्रंथ में कवि ने स्वयं को जिस पद्य द्वारा परिचित कराया है वह वस्तुतः उनकी विनम्र वृत्ति दर्शाने हेतु पर्याप्त है- वे लिखते हैं-

''एहो, बुद्धिवंत नर हँसो जिन मोहि कोऊ
बाल ख्याल लीनो तुम लीजियो सुधार के।
मैं न पढ्‌यो पिंगल न देख्यो छंदकोश कोक
नाममाला नाम को पढ्‌यो नहीं विचार के।

संस्कृत प्राकृत व्याकरणहू न पढ्यो कहूँ-
तातें मोको दोष नाहि शोधियो निहार के।
कहत भगौतीदास ब्रह्म को लह्यो विलास
तातें ब्रह्मरचना करी है विस्तार के।"

इसी प्रकार मोही मानवों की सांसारिक दशा का चित्रण करते हुए वे कहते हैं-

"कोऊ तो करै किलोल भामिनी सों रीझि-रीझि-
वाही सों सनेह करैं काम राग अंग में।
कोऊ तो लहैं अनद लक्ष कोटि-कोटि जोरि
लक्ष-लक्ष मान करें लच्छि की तरंग में।
कोऊ महाशूरवीर कोटिक गुमान करैं
मो समान दूसरो न देखो कोऊ जंग में।
कहें कहा 'भैया' कछु कहवे की बात नाहि
सब जग देखियतु राग रस रंग में।"

फिर अपने इष्टदेव की भक्ति रस में भीगे भैया जी का एक पद्य भी देखिये-

"काहे को देश दिशांतर धावत काहे रिझावत इंदनरिंद।
काहे को देवि औ देव मनावत काहे को शीश नमावत चद।
काहे को सूरन सों कर जोरत काहे निहोरत मूढ़ मुनिंद।
काहे को सोच करैं दिन रैन तू काहे न सेवत पार्श्व जिनंद।"

भैया जी ने विश्वव्यापी एकांती मतों पर भी ध्यान दिया था। लिखते हैं-

"एक मतवारे कहें- अन्य मतवारे सब
मेरे मतवारे पर वारे मत सारे हैं।
एक पंच तत्व वारे एक एक तत्व वारे-
एक भ्रम मतवारे एक-एक न्यारे हैं।
जैसे मतवारे बकें तैसे मतवारे बकें
तासों मतवारें तकें बिना मत वारे हैं।
शांत रखवारे कहे मन को निवारे रहें
तेई प्रान प्यारे लहें और सब वारे हैं।'

संसार में मोहग्रस्त आत्मा को संबोधन करते हुए उनकी चेतावनी सुनिये-

"रैन समे सुपनो जिय देखतु प्रात समै सब झूठ बताया।
त्यों नदि नाव संयोग मिल्यो तुम चेतहु चित में चेतन राया।"

इस भाँति श्रीमती डॉ॰ जैन का यह शोध ग्रंथ सभी दृष्टियों से ज्ञानवर्द्धक होकर पठनीय एवं संग्रहणीय बन पड़ा है। इसकी भाषा सरल एवं मुहावरेदार होने से मूल ग्रंथ (ब्रह्मविलास) में निहित गूढ़ विषयों को भी आसानी से समझा जा सकता है। विषय प्रतिपादन की शैली रोचक और तर्कसंगत है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से डॉ॰ जैन का प्रयास प्रशंसनीय है। आशा है वे अन्यान्य ग्रंथों का भी इसी प्रकार आलोड़न कर अपनी प्रतिभा द्वारा समाज को आध्यात्मिक मार्गदर्शन कराती रहेंगी।

-नाथूराम डोंगरीय जैन
549, सुदामानगर
इंदौर (म0 प्र0)

30.10.1994

प्राक्कथन

हिन्दी भक्त कवियों की काव्य-धारा शताब्दियों तक उत्तरी भारत की भूमि को रससिंचित करती रही है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्त कवियों की वर्गीकृत एवं विस्तृत शृंखला उपलब्ध है किन्तु खेद का विषय है कि उसमें जैन भक्त कवियों का उल्लेख तक नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्य के विद्वान एवं मान्य इतिहासकारों को हिन्दी जैन साहित्य के अवलोकन का अवसर ही नहीं मिला। इसका एक कारण यह भी था कि जैन साहित्य सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं था। आज भी साहित्य के अनेक अमूल्य रत्न जैन शास्त्रगारों के गर्भ में छिपे पड़े हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक साम्प्रदायिक कहकर जैन साहित्य की उपेक्षा करते रहे। सर्वप्रथम डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का ध्यान इस तथ्य की ओर गया और उन्होंने घोषित किया कि यदि जैन साहित्य साम्प्रदायिक कहकर हिन्दी साहित्य की सीमाओं से निष्कासित किया जाता है तो हिन्दी के रामचरितमानस, पद्मावत जैसे अनेक अमूल्य ग्रंथ रत्न भी उसकी सीमाओं के भीतर प्रवेश न पा सकेंगे। वस्तुत: जैन साहित्य अत्यन्त विशाल है, उसके समुचित मूल्याकन की आवश्यकता अभी भी शेष है। तत्पश्चात् अवश्य ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में कुछ नये आयाम खुलेंगे, कुछ नवीन धारायें जुड़ेंगी। प्रस्तुत शोध ग्रथ इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

मेरे पूज्य पिता जी स्व0 श्री रतनलाल जैन, जैन धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान थे, मेरी माता स्व0 चंद्रवती जैन भी एक विदुषी महिला थीं। घर में जैन पंडितों तथा विद्वत् जनों का प्राय: आगमन होता था, तथा जैन दर्शन के सिद्धान्तों और साहित्य की प्राय: चर्चा होती थी। ऐसे धर्ममय वातावरण में रहते हुए जैन दर्शन और साहित्य के प्रति लगाव संस्कार रूप में आना सहज स्वाभाविक था। जैन साहित्य के उच्च कोटि के विद्वान, शोधक और विशाल संग्रहकर्ता स्व0 अगरचन्द नाहटा तथा स्व0 डॉ0 कस्तूर चंद कासलीवाल जी ने एक मुझे कुछ अज्ञात हिन्दी जैन कवियों को लेखन द्वारा प्रकाश में लाने की प्रेरणा प्रदान की। औरगजेबकालीन जैन भक्त कवि भैया भगवतीदास के समस्त ग्रंथों के संग्रह

'ब्रह्मविलास' की हस्तलिखित प्रति, जो मेरे प्रपितामह लाला भूप सिंह जी ने स्वपठनार्थ तैयार कराई थी, स्थानीय जैन मंदिर के शास्त्रागार में उपलब्ध थी। तब तक इस ग्रंथ के प्रति मेरी श्रद्धा अन्य जैन धर्मावलम्बियों की भाँति हाथ जोड़कर मस्तक झुका लेने तक ही सीमित थी, किन्तु इसके पश्चात् इस ग्रंथ के साहित्यिक सौंदर्य एवं दार्शनिक महत्व का अवलोकन किया तथा उसे हिन्दी संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का निश्चय किया।

मैंने डॉ0 रामस्वरूप आर्य (तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष, वर्धमान कालेज, बिजनौर) के कुशल निर्देशन में भैया भगवतीदास और उनके कृतित्व पर आगरा विश्वविद्यालय से सन् 1976 में शोध-कार्य सम्पन्न किया।

भैया भगवतीदास कृत अनेक रचनाएँ जैन धर्मावलम्बियों को कंठस्थ हैं, उनका नित्यप्रति पाठ किया जाता है किन्तु उनके नाम तथा महत्व से सामान्यता वे अपरिचित ही हैं, हिन्दी साहित्य संसार की तो बात ही क्या है? अभी तक इस दिशा में कोई भी विशेष कार्य नहीं हुआ है। उनके सम्बन्ध में उपलब्ध जानकारी के नाम पर हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास तथा जैन भक्त कवियों की परम्परा में उनका अति संक्षिप्त परिचय एव पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ लेख मात्र ही प्राप्त हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का प्रकाशन इसी अभाव की पूर्ति करने का एक विनम्र प्रयास है। इस ग्रंथ मे भैया भगवतीदास के जीवन एवं कृतित्व के सम्बन्ध में यथासम्भव विस्तृत एव गम्भीर सामग्री प्रस्तुत की गई है। यह 'भैया भगवतीदास और उनका साहित्य' का दूसरा संस्करण है। प्रथम संस्करण मित्तल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत शोध-ग्रंथ सात अध्यायों में विभक्त है तथा अन्त में परिशिष्ट भाग है।

प्रथम अध्याय में भैया भगवतीदास का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। इस में अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य के आधार पर यथा सम्भव उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है तथा जैन साहित्य में भगवतीदास नाम के अनेक विद्वानों का अस्तित्व होने के कारण व्याप्त भ्रान्तियों का निराकरण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भैया भगवतीदास जी की समकालीन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण किया गया है। यह अध्याय चार उपविभागों में विभक्त है- राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक। कवि का साहित्य तत्कालीन परिस्थितियों से किस सीमा तक प्रभावित हुआ है यही इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

तृतीय अध्याय में भैया भगवतीदास जी की समस्त कृतियों का परिचय दिया गया है। यह अध्याय सात उपविभागों में में विभक्त हैं- रूपक काव्य, दर्शन

प्रधान रचनाएँ, स्तुति और जयमाला साहित्य, उपेदशात्मक साहित्य, चित्रकाव्य, ज्योतिष के छंद, तथा काव्यानुवाद। इन उपविभागों के अन्तर्गत उनकी समस्त कृतियों को वर्गीकृत किया गया है तथा उनकी सविस्तार चर्चा की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में रस निरूपण का संक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात् भैया भगवतीदास जी के काव्य के भाव-पक्ष का अवलोकन किया गया है। जैन धर्म में भक्ति की सम्भावना दिखाकर, उनके काव्य में भक्ति का स्वरूप- दास्य भक्ति, दाम्पत्य भक्ति एवं शान्तिभक्ति अथवा शान्त रस उपविभागों के अन्तर्गत प्रकट किया गया है तथा उनके काव्य में शान्त रस का रस-राजत्व दिखाया गया है।

पंचम अध्याय में भैया भगवतीदास जी के काव्य के कला-पक्ष पर विचार किया गया है। इस अध्याय को पाँच उपविभागो में विभक्त किया गया है- अलंकार योजना, छंद योजना, भाषा, मुहावरे और लोकोक्तियां तथा चमत्कारिक शैलियां।

षष्ठ अध्याय में जैन धर्म के विभिन्न सिद्धान्तो का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करके उसके परिप्रेक्ष्य मे भैया भगवतीदास जी के काव्य का मूल्यांकन किया गया है। यह अध्याय आठ उपविभागों में विभक्त है- सृष्टि कर्तृत्व विचार, लोकरचना, ईश्वरत्व मीमांसा, गुण स्थान, कर्म सिद्धान्त, सप्तभंगी, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व तथा उपादान-निमित्त विचार।

सप्तम अध्याय में भगवतीदास के काव्य का सांगोपांग अवलोकन करने के पश्चात् उसका मूल्यांकन किया गया है तथा धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव साहित्यिक क्षेत्र में उसके प्रदेय का महत्व अँकित किया गया है।

ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट भाग है। इसमें ग्रंथ में व्यवहृत जैनधर्म की पारिभाषिक शब्दावली तथा संदर्भ-ग्रथ-सूची दी गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ तैयार करने में जिन विद्वानों के ग्रंथों से मैंने उपयोगी सामग्री प्राप्त की है तथा वे किसी भी रूप में सहयोगी बने है उन सबके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती हूँ। इन ग्रंथों का उल्लेख परिशिष्ट के अन्तर्गत संदर्भ-ग्रंथ-सूची में किया गया है। इनमें से **स्व० डॉ० प्रेमसागर जैन** के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ जिनकी पुस्तक 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' तथा 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' से मुझे विशेष सहायता प्राप्त हुई है। **डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, डॉ० कुन्दनलाल जैन तथा डॉ० रमेशचन्द्र जैन,**

अध्यक्ष संस्कृत विभाग, वर्धमान कालेज बिजनौर के ग्रंथों तथा सत्परामर्श से भी मुझे बहुत सहायता मिली है।

धर्मपुरा देहली निवासी वयोवद्ध सज्जन **श्री पन्नालाल जी अग्रवाल** के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने बिना किसी पूर्व परिचय के दिल्ली के जैन शास्त्रागारों से हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियाँ तथा प्रतियाँ उपलब्ध कराने में मेरी सहायता की। मैं **पं० परमानन्द जी शास्त्री** तथा **पं० बालचन्द जी शास्त्री** के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने वीर सेवा मन्दिर, देहली से उपयोगी सामग्री प्राप्त करने की पूर्ण सुविधा मुझे प्रदान की तथा समय-समय पर मेरी शंकाओं का समाधान किया। उन सभी शुभाकांक्षी बंधुओं के प्रति मैं आभारी हूँ जो किसी न किसी रूप में इस कार्य में सहायक बने हैं। मेरी बेटी मनीषा, रुचिका, पुत्र मयंक एवं पति श्री ब्रजवीर प्रसाद जैन (अब स्वर्गीय) ने मुझे इस महती साधना को पूर्ण करने में पूरा सहयोग दिया।

हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान **डॉ० रामस्वरूप आर्य** ने अंतर्दर्शन तथा जैन साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ ज्ञाता एवं मनीषी **डॉ० कस्तूर चन्द कासलीवाल** ने प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका लिखने की जो कृपा की है, उसके लिये मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ। प्रथम संस्करण को देख कर जैन धर्म के परम विद्वान **पं० नाथूराम डोंगरीय जैन** ने अपनी जो सम्मति भेजी थी उसे भी इस संस्करण में सम्मिलित किया गया है, उनके प्रति भी मैं बहुत आभारी हूँ।

इस ग्रंथ के द्वितीय संस्करण को प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व अखिल भारतीय साहित्य कला मंच के संस्थापक अध्यक्ष **डॉ० महेश 'दिवाकर'** अध्यक्ष, हिन्दी विभाग गुलाब सिंह हिन्दू डिग्री कॉलेज, चाँदपुर ने स्वयं लेकर मुझे अनुग्रहीत किया है।

-उषा जैन

विषय सूची

अध्याय – 1

जीवनवृत्त

प्राचीन कवियों से सम्बन्धित पर्याप्त तथा निश्चित सामग्री के अभाव में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो जाती हैं। अधिकतर हिन्दी कवि विपुल साहित्य की रचना करते हुए भी अपने संबंध में प्राय: मौन ही रहे हैं। इसको हम उनकी 'स्वान्त: सुखाय' काव्य रचना की प्रवृत्ति का परिणाम कहें अथवा स्वयं को भौतिक यश एवं प्रसिद्धि से दूर रखने की इच्छा का निदर्शन, किन्तु इससे हम उनके जीवन सम्बन्धी अनेक तथ्यों से अनभिज्ञ ही रह जाते हैं। उन्हें इस बात का क्या पता था कि अनेक शताब्दियों के पश्चात् अनुसंधित्सु उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में भी उतनी ही जिज्ञासा रखेंगे जितनी उनके साहित्य के सम्बन्ध में रुचि रखते हैं। उनसे सम्बन्धित तथ्य अतीत के अंतराल में लुप्त हो गये है। बहुत प्रयास करने पर कभी-कभी कोई तथ्य दृष्टिगत हो जाता है जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात हो पाता है। जैन कवियों ने प्राय: अपनी कृतियों के अन्त में अपना नाम रचना-काल, और कभी-कभी अपने वंश का परिचय तथा तत्कालीन शासक का संकेत दे दिया है जिससे उनके काल-निर्धारण में तथा कृतियों के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी प्राप्त हो जाती है किन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में वे भी प्राय: मौन ही रहे हैं, जिससे उनके सम्बन्ध में बहुत प्रयास करने पर भी कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो पाता। किसी भी साधन के अभाव में शोधकर्ता को विवश होकर तत्सम्बन्धी ज्ञान से वंचित ही रह जाना पड़ता है। भैया भगवतीदास ने भी ग्रथ ब्रह्मविलास के अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जिसके आधार पर हम उनके जीवन-वृत की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

जीवन-परिचय

भैया भगवतीदास आगरा के निवासी थे। उस समय भारतवर्ष में मुगल शासक औरंगजेब का शासन था। उनका जन्म ओसवाल कुल में हुआ था। उनका गोत्र कटारिया था, उनके पितामह का नाम दशरथ साहु था जो आगरा के प्रसिद्ध व्यापारियों में से एक थे, लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा थी, उनके

पुत्र लाल जी अर्थात् भैया भगवतीदास के पिता धार्मिक प्रवृत्ति के एक सज्जन व्यक्ति थे अत: धन, वैभव एवं अध्यात्म के प्रति रुचि उन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपनी रचनाओं का संग्रह सम्वत् सत्रह सौ पचपन में वैशाख मास की शुक्ल पक्ष तृतीया, रविवार के दिन ब्रह्मविलास के नाम से किया। इस ग्रंथ में उनकी **67** कृतियां संगृहित हैं। उन्होंने अधिकतर कृतियों के अंत में उनके रचनाकाल का संकेत दिया है जिससे ज्ञात होता कि उनकी कृतियों की रचना संवत् **1731** वि0 से सं0 **1755** वि0 तक के मध्य में की गई थी। 'भैया' उनका उपनाम था।[1] केवल ये ही वे तथ्य हैं जो कवि ने अपने ग्रंथ के अन्त में प्रस्तुत किये हैं। ये अत्यल्प होते हुए भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

भैया भगवतीदास सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण

भैया भगवतीदास का रचना-काल निश्चित होने पर भी उनके सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तिपूर्ण स्थिति बहुत समय तक बनी रही और कुछ सीमा तक अब भी बनी हुई है। इसका मुख्य कारण है कि हिन्दी जैन साहित्य में भगवतीदास नाम के अनेक विद्वान हुए है। पं0 परमानन्द शास्त्री के एक लेख के अनुसार भगवतीदास नाम के चार विद्वान जैन साहित्य मे हुए हैं। प्रथम 'भगवतीदास' पाडे जिनदास के गुरु थे, दूसरे भगवतीदास प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास के मित्रगण पंच महापुरुषों[2] में से एक थे जिनकी प्रेरणा पर उन्होंने नाटक समयसार की रचना की थी, तीसरे भगवतीदास भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे और पंडित भगवतीदास के नाम से विख्यात थे, इनका जन्म अम्बाला जिले के बूढ़िया ग्राम मे हुआ था और चौथे भगवतीदास ब्रह्मविलास के रचयिता भैया भगवतीदास थे। इसी आधार पर डॉ0 प्रेम सागर जैन[3] ने भी भगवतीदास नाम के चार विद्वानों का अस्तित्व स्वीकार किया है। इनमे से चौथे भैया भगवतीदास को इन्होने श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार, प0 हीरानन्द के पचास्तिकाय (सं0 **1711** में रचित) में उल्लिखित भगवती दास ही माना है। पं0 परमानन्द शास्त्री के उपर्युक्त लेख से पूर्व एक और लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने 'ब्रह्मविलास' के रचयिता भगवतीदास को ही कविवर बनारसीदास (सवत् **1643-1700**) के साथी भगवतीदास बताया था। किन्तु कालान्तर में उन्हें अपनी भ्रान्ति का ज्ञान हुआ तत्पश्चात् उन्होंने भगवतीदास नामक उपर्युक्त चार भिन्न-भिन्न विद्वानों की कल्पना की। मुनि श्री कान्ति सागर जी ने भी इन्ही चतुर्थ भैया भगवतीदास को कविवर बनारसीदास के पाँच मित्रों में तीसरा स्थान (तृतीय भगौतिदास नर) दिया है तथा उनका रचनाकाल सम्वत्

1687-1755 तक स्वीकार किया है एवं सम्वत् **1711** में पं0 हीरानन्द कृत पंचास्तिकाय में उल्लिखित भगौतीदास भी इन्हीं भैया भगवतीदास को माना है।

इस प्रकार हमारे सम्मुख अनेक प्रश्न उभर कर आते हैं। क्या कविवर बनारसीदास (जीवनकाल सं0 **1643-1700**) के मित्र भगौतिदास तथा ब्रह्मविलास (संग्रह काल सं0 **1755**) के रचयिता एक ही व्यक्ति हो सकते हैं? जिनको पंडित परमानन्द जी ने पहले (अनेकान्त फरवरी मार्च **1942**) एक ही व्यक्ति स्वीकार किया किन्तु कुछ समय पश्चात् ही (अनेकान्त दिसम्बर जनवरी सन् **1944-45**) भगवतीदास नाम के चार विद्वानों का अनुमान कर के क्रमश: द्वितीय तथा चतुर्थ माना, उसी के आधार पर डॉ0 प्रेमसागर जैन ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य ओर कवि' में द्वितीय एवं चतुर्थ भगवतीदास को क्रमश: यह स्थान दिया। मुनि श्री कान्तिसागर जी का दृष्टिकोण निश्चित रूप से भ्रान्तिपूर्ण है। कविवर बनारसीदास का जीवन काल सं0 **1643** से **1700** तक है। और भैया भगवतीदास जी की ब्रह्मविलास में संगृहीत कृतियों का रचनाकाल संवत् **1731** से **1755** तक है। मुनि श्री ने भैया भगवतीदास का रचनाकाल सं0 **1687** से **1755** तक माना है। एक ही लेखक का रचनाकाल सामान्यतया **68** वर्ष जैसा विस्तृत युग नहीं हो सकता। फिर भैया भगवतीदास जी की सम्वत् **1731** से पूर्व की कोई रचना भी उपलब्ध नहीं है। भैया भगवतीदास जी का जन्म सम्वत् अज्ञात है, और सम्प्रति उसे जानने का कोई साधन भी नहीं है, फिर भी हम यदि उनका जन्म कविवर बनारसीदास के जीवन काल मे ही मान लें तो भी दोनों की आयु में प्रौढ़ एवं किशोर अवस्था का अन्तर रहा होगा जिनके मध्य मित्रता जैसा समवयस्कता का सम्बन्ध नहीं हो सकता अत: कविवर बनारसीदास के समकालीन भगवतीदास और ब्रह्मविलास के रचयिता भैया भगवतीदास निश्चित रूप से भिन्न-भिन्न व्यक्ति रहे हैं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि कविवर बनारसीदास के मित्र भगवतीदास तथा कविवर पं0 भगवतीदास को जिन्हें पं0 परमानन्द जी तथा डॉ0 प्रेमसागर जैन ने क्रमश: दूसरे तथा तीसरे भगवतीदास माना है, पृथक-पृथक व्यक्ति मानना कहाँ तक उचित है, जबकि यह तथ्य किसी भी ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं है। डॉ0 जैन के अनुसार (तीसरे) प0 भगवतीदास भट्टारक महेन्द्र सैन के शिष्य थे, उनका जन्मस्थल अम्बाला जिले का बूढ़िया ग्राम था। उनकी कृतियों का रचना काल सम्वत् **1680** से **1700** तक है। उनकी 'मुगती

रमणी चूनड़ी' की रचना वि0 **1680** में तथा मृगांक लेखाचरित की रचना संवत् **1700** में हुई थी। यही समय कविवर बनारसीदास का था फिर दूसरे कवि भगवतीदास की, जिनकी कवि बनारसीदास के मित्र के रूप में कल्पना की गई है, कोई कृति उपलब्ध नहीं है, न ही उनके सम्बन्ध में अन्य कोई तथ्य ज्ञात है। अत: यही उचित प्रतीत होता है कि पं0 परमानन्द शास्त्री द्वारा कल्पित दूसरे और तीसरे भगवतीदास एक ही व्यक्ति थे। सम्भवत: कविवर बनारसीदास तथा पं0 भगवतीदास का निवास-स्थान भिन्न होने के कारण बनारसीदास के मित्र भगवतीदास तथा पं0 भगवतीदास के भिन्न होने की धारणा बन गई है। कविवर बनारसीदास आगरा निवासी थे तथा पं0 भगवतीदास का जन्म तो अम्बाला जिले में हुआ था किन्तु उनकी रचनाएं विभिन्न स्थानों, आगरा, हिसार आदि में रची गई हैं जिससे प्रतीत होता है कि आगरा भी उनका निवास स्थान अवश्य रहा है। जहाँ तक जन्म-स्थान का प्रश्न है कविवर बनारसीदास का जन्म जौनपुर में हुआ था, किन्तु उनका निवास स्थान आगरा रहा। अत: कविवर पं0 भगवतीदास ही कविवर बनारसीदास के मित्र पंच महापुरुषों में प्रतीत होते हैं कोई अन्य (दूसरे) भगवतीदास नहीं। श्री कामता प्रसाद जैन, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री नाथूराम प्रेमी तथा डॉ0 बासुदेव सिंह ने पं0 भगवतीदास को कवि बनारसीदास का मित्र स्वीकार किया है।

अब तीसरा प्रश्न यह उठता है कि प0 हीरानन्द प्रणीत पंचास्तिकाय (रचनाकाल सं0 **1711**) में जिन भगवतीदास का ज्ञाता के रूप में उल्लेख है, क्या वे भगवतीदास वास्तव में भैया भगवतीदास थे? श्री नाथूराम प्रेमी, मुनि श्री कान्तिसागर जी तथा डॉ0 प्रेमसागर जैन, तीनों विद्वानों ने एक स्वर से इन्हें ब्रह्मविलास के रचयिता भैया भगवतीदास ही माना है, जिसकी सत्यता में मुझे सन्देह है। प0 हीरानन्द जी की रचनाएं सम्वत् **1701** से **1711** तक की ही उपलब्ध हैं जबकि भैया भगवतीदास जी का रचना काल सं0 **1731** से **1755** तक है।

पं0 हीरानन्द जी ने 'पंचास्तिकाय' में ग्रंथकर्ता के रूप में अपना परिचय देते हुए अपनी विद्वत्मंडली के जिन प्रमुख मित्र जगजीवन का विस्तृत वर्णन किया है, जिनकी प्रेरणा से ही उन्होंने 'पंचास्तिकाय' की रचना की जो कविवर बनारसीदास के परममित्र थे तथा जिन्होंने उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी बिखरी हुई रचनाओं का संग्रह बनारसी विलास के नाम से सं0 **1701** में किया था उनका रचना काल **18** वीं शती का आरम्भिक समय था। यही

समय पंचास्तिकाय का है। पंचास्तिकाय में ही पं0 हीरानन्द ने एक अन्य विद्वान मित्र पं0 हेमराज का भी उल्लेख किया है। पांडे हेमराज का साहित्य रचना काल भी डॉ0 प्रेमसागर जैन के अनुसार सं0 **1703** से **1730** तक है। इस प्रकार पं0 हीरानन्द, पं0 जगजीवन, और पांडे हेमराज तो समकालीन थे किन्तु भैया भगवतीदास के रचना काल (सं0 **1731-55**) से उनका कालगत वैषम्य है। यद्यपि भैया भगवतीदास का जन्म **18** वीं शताब्दी के प्रारम्भ में निश्चित रूप से हो गया होगा किन्तु यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि सं0 **1711** में जब पंचास्तिकाय प्रणीत हुआ तब उनकी कीर्ति 'ज्ञाता' के रूप में विस्तार पा चुकी होगी। किसी भी कवि अथवा लेखक को प्रसिद्धि तब ही प्राप्त होती है जब वह पर्याप्त उच्च कोटि के साहित्य का सृजन कर चुका हो, किन्तु भैया भगवतीदास का साहित्य सृजन काल सं0 **1731** से आरम्भ होता है। यदि पंचास्तिकाय में वर्णित 'भगौतीदास' को हम भैया भगवतीदास ही मानें तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि जब उनके मित्रवर पं0 हीरानन्द, पं0 जगजीवन तथा पांडे हेमराज साहित्य सृजन कर रहे थे, उस समय वे (भैया भगवतीदास) कुछ भी रचनात्मक कार्य न कर रहे होंगे और उन्होंने अपने मित्रों के लगभग तीस वर्ष पश्चात् साहित्य सृजन का कार्य आरम्भ किया होगा?

डॉ0 प्रेमसागर जैन के अनुसार जो तीसरे पं0 भगवतीदास हैं उनका साहित्य सृजन काल सं0 **1680** से **1700** तक है। उनका मृगांक लेखाचरित सं0 **1700** में रचित है। इस समय तक उनकी ख्याति 'ज्ञाता' के रूप में फैल चुकी होगी। विद्वानों के द्वारा पंचास्तिकाय में उल्लिखित 'भगौतीदास' को कविवर पं0 भगवतीदास न मानकर भैया भगवतीदास मानने की भ्रान्ति का एक कारण यह भी हो सकता है कि पं0 भगवतीदास का जन्मस्थान आगरा नहीं था और पं0 हीरानन्द तथा उनके मित्रगण आगरा निवासी थे तथा भैया भगवतीदास भी आगरा निवासी थे। किन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि पं0 भगवतीदास का जन्मस्थान अवश्य ही अम्बाला जिले में था किन्तु उनकी रचनाएं दिल्ली आगरा आदि विभिन्न स्थानों पर निर्मित हुई है। अत: उनका निवास स्थान आगरा भी रहा है। इस प्रकार पं0 हीरानन्द प्रणीत पंचास्तिकाय में वर्णित ज्ञाता भगौतीदास भैया भगवतीदास न होकर पं0 भगवतीदास होने की ही सम्भावना है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कविवर बनारसीदास के मित्रगण पंच महापुरुषों में वर्णित भगौतीदास तथा

पं0 हीरानन्द द्वारा उल्लिखित ज्ञाता भगौतीदास दोनों एक ही व्यक्ति हैं और वे भी ब्रह्मविलास के रचयिता भैया भगवतीदास न होकर पं0 भगवतीदास हैं। डॉ0 बासुदेव सिंह ने भी पं0 हीरानन्द प्रणीत पंचास्तिकाय में वर्णित 'भगौतीदास' को पं0 भगवतीदास ही माना है।

काल-निर्णय

भैया भगवतीदास के जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई तथ्य प्रकाश में नहीं आ सके हैं, न अन्तर्साक्ष्य के आधार पर और न ही बहिर्साक्ष्य के आधार पर उनका जन्म अथवा मृत्यु संवत् ज्ञात हो सका। हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि संवत् **1731** में जब उन्होंने काव्य सृजन प्रारम्भ किया तब उनकी आयु लगभग पच्चीस वर्ष तो रही होगी, अत: उनका जन्म अट्ठारवीं शताब्दी के प्रथम दशक में अनुमानित है। सम्वत् **1755** में उन्होंने अपनी कृतियों का सग्रह ब्रह्मविलास के नाम से किया, इसके अतिरिक्त उनकी अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई। अत: हमारा अनुमान है कि सम्वत् **1755** के पश्चात् वे अधिक समय तक जीवित नहीं रहे होंगे। संवत् **1760** के लगभग उनकी मृत्यु हो गई होगी।

मित्र

कविवर बनारसीदास ने अपने मित्र-पांच महापुरुषों के नाम का उल्लेख किया है जिनमें से एक नाम भगवतीदास भी है, पं0 हीरानन्द ने अपने पंचास्तिकाय में अपने साथी विद्वानो का उल्लेख किया जिनमे से एक भगवतीदास भी रहे, किन्तु भैया भगवतीदास ने अपनी समस्त रचनाओ मे कही भी इस प्रकार का संकेत नहीं किया, करते भी कैसे? ये सब उनके साथी मित्र थे ही नहीं। इनके तथा भैया भगवतीदास के कालगत वैषम्य पर विचार किया जा चुका है। उनकी रचनाओं में एक नाम आता है मान सिंह का, जिसको ब्रह्मविलास के प्रकाशक ने उनका परम मित्र माना है[4] और सम्भवत: इसी आधार पर डॉ0 प्रेमसागर जैन ने भी मानसिंह को भैया भगवतीदास का मित्र स्वीकार किया है।[5] उन्होंने द्रव्य संग्रह के अनुवाद को भैया भगवतीदास के मित्र मानसिंह की रचना माना है, किन्तु कविवर 'भैया' जी के अनुसार प्रस्तुत अनुवाद दोनों मित्रों का सम्मिलित प्रयास प्रतीत होता है।[6] अत: इस बात का संकेत मिलता है कि मानसिंह तथा भैया भगवतीदास दोनों के मध्य अवश्य ही मित्रता का भाव रहा होगा। सम्मिलित रूप से किसी कृति की रचना करने का अर्थ ही निकट सम्पर्क का द्योतक है। इसके अतिरिक्त मानसिंह का नाम भैया

भगवतीदास की रचनाओं में एक अन्य स्थान पर भी आता है, वह है परमार्थ पद पंक्ति के अष्टम पद की अन्तिम पंक्ति जो इस प्रकार है -

"मानसिंह महिमा निज प्रगटे, बहुर न भव में आऊ।।" अत: मानसिंह निर्विवाद रूप से भैया भगवतीदास के परम मित्र थे।

नाम तथा उपनाम

'भैया' भगवतीदास जी का उपनाम था जिसका उन्होंने 'ग्रंन्थकर्ता परिचय' में संकेत भी किया है।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि कविवर अपने 'भैया' उपनाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राय: उपनाम 'भैया' का ही प्रयोग किया है। अनेक स्थलों पर 'भविक' शब्द का प्रयोग भी उपनाम के रूप में किया है। यहां कवि को एक लाभ और प्राप्त हो गया है। 'भव्य' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है ऐसे जीव जिनमें मोक्षपद प्राप्ति की सामर्थ्य है। कवि ने इस अर्थ में भवि तथा भविक दोनों शब्दो का प्रयोग किया हैं।[8] कुछ स्थानों पर कवि ने रचनाओं के अन्त में अपने पूरे नाम 'भगवतीदास' अथवा उसके विकृत रूप 'भगौतीदास' का प्रयोग किया है। कुछ स्थानो पर नाम के स्थान पर 'दास भगवंत' का प्रयोग किया गया है,[9] जिससे ईश्वर के प्रति कवि की विनयशीलता का परिचय मिलता है।

जन्म-स्थान

कविवर भैया भगवतीदास का जन्म स्थान आगरा था जिसका उल्लेख कवि ने स्वय किया है। उन्होंने आगरा का नाम प्राय: उग्रसेनपुर लिखा है। कवि ने कुछ कृतियों के अन्त में रचनास्थान के रूप में आगरा नगर का वर्णन भी किया है जिससे उनके अपने जन्म स्थान के प्रति विशेष प्रेम, आदर भाव एव गर्वानुभूति की झलक मिलती है। आगरा तत्कालीन युग में जैन साहित्य एवं संस्कृति का गढ़ रहा है। डॉ0 नेमिचन्द शास्त्री ने आगरा के इस महत्व का उचित मूल्यांकन किया है "आगरा की इस भूमि ने लगभग दो सौ वर्षों तक अकबर और औरंगजेब के साम्राज्यकाल में जैन हिन्दी साहित्य का नेतृत्व किया है। यदि हम आगरा की साहित्य सेवा को हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास से पृथक कर दें तो उसका मूल्य शून्य हो जाये।[10] हिन्दी के ही अनेकानेक जैन साहित्यकारों ने अपनी विद्वता एवं भक्ति भावना से ओतप्रोत वाणी से आगरा की पुण्य भूमि को गुंजायमान किया है। जिनमें पंडित रूपचंद, कविवर बनारसीदास, पं0 जगजीवन, धर्मदास, कुंवरपाल, पं0 हीरानन्द, आदि भैया भगवतीदास से पूर्व तथा द्यानतराय एवं भूधरदास उनके पश्चात् हुए हैं। भैया

भगवतीदास ने अनेक स्थानों पर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि आगरा नगर जैन धर्मावलम्बियों का प्रमुख स्थान है, तथा जिन धर्मी विद्वान पुण्यवान् तथा अनेक गुणियों का भंडार हैं।[11] जहाँ नित्य प्रति धर्म, अध्यात्म तथा शास्त्रचर्चा होती हो वहां की पुण्य-धारा तो स्वत: ही विद्वानों को जन्म देगी। एक स्थान पर तो कवि ने अतिशय भक्ति-भाव से आगरा को धरती की शोभा-रूप मुकुट के समान ही कह दिया है -

"उग्रसेनपुर अवनि पें, शोभत मुकुट समान।
तिह थानक रचना कही, समुझ लेहु गुणवान।।"[12]

जनश्रुति तथा कवि का अपने युग के प्रति दृष्टिकोण

भैया भगवतीदास के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है जो ब्रह्मविलास में संगृहीत एक पद पर आधारित है-
वह पद इस प्रकार है -

"बड़ी नीत लघु नीत करत है बाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा बहुत फुनगणी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी।।
शोणित हाड मांस मय मूरत, तापर रीझत धरी धरी।
ऐसी नारि निरखि कर केशव? 'रसिक प्रिया' तुम कहा करी।।"[13]

प्रकाशित ग्रंथ ब्रह्मविलास मे इस पद पर एक पाद-टिप्पणी दी गई है "दत कथा में प्रसिद्ध है कि केशवदास जी कवि जो किसी स्त्री पर मोहित थे, उन्होंने उसके प्रसन्नार्थ 'रसिक प्रिया' ग्रंथ बनाया, वह ग्रथ समालोचनार्थ 'भैया' भगवतीदास जी के पास भेजा तो उन्होनें उसकी समालोचना में यह कवित्त रसिक प्रिया के पृष्ठ पर लिखकर भेज दिया था।" इसी टिप्पणी के आधार पर श्री कामता प्रसाद जैन ने भैया भगवतीदास को केशवदास का समकालीन मान लिया था। किन्तु भैया भगवतीदास और केशवदास समकालीन हो ही नहीं सकते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार केशवदास का जन्म सं0 **1612** में और मृत्यु सं0 **1674** के आस पास हुई थी। रसिक प्रिया की रचना सं0 **1648** में हुई। और भैया भगवतीदास का साहित्य रचना काल सं0 **1731** से आरम्भ होता है और सं0 **1755** में समाप्त होता है। केशवदास जी की मृत्यु सं0 **1674** में हो गई, उससे पूर्व यदि भैया भगवतीदास का जन्म मान भी लें तो जिस समय केशवदास जी वृद्ध अवस्था में होंगे उस समय भैया भगवतीदास जी एक शिशु मात्र रहे होंगे। इस प्रकार किसी प्रकार भी कवि केशवदास तथा भैया भगवतीदास के समय का परस्पर मेल नहीं बैठता।

सम्भावना इस बात की है कि जब रसिकप्रिया कविवर भैया जी की दृष्टि में आई होगी और उन्होंने उसे पढ़ा होगा तभी उसके सम्बन्ध में अपनी उपर्युक्त सम्मति दी होगी।

उपर्युक्त किंवदन्ती में सत्य का अंश भले ही न हो किन्तु इससे शृंगारिक काव्य के प्रति कवि का दृष्टिकोण अवश्य ही प्रकट होता है। नारी के नख शिख वर्णन को आधार बनाकर रची गई रसिक प्रिया को पढ़कर कवि की प्रतिक्रिया का स्पष्ट आभास एक ही पंक्ति से मिल जाता है - केशवदास! रसिक प्रिया तुम कहा करी! कितना क्षोभ, कितनी वितृष्णा भरी है इस वाक्य में, जैसे कह रहे हों कि केशव! यह क्या किया तुमने? क्या नारी देह की यही सार्थकता है? वस्तुतः इस दृष्टि से जैन कवि अपने युग से अप्रभावित ही रहे। जिस समय मुगल शासकों की विलासिता का प्रश्रय पाकर जनमानस भी चंचल हो रहा था, काव्य के क्षेत्र में कवियों की दृष्टि कामिनी के कटि, केश और कटाक्षों में ही उलझकर रह गई थी, उस समय भी ये जैन साधक अध्यात्म और भक्ति की कठिन साधना कर रहे थे। एक ओर कवि देव "जोगहू तैं कठिन सजोग पर नारी कौ" की घोषणा कर रहे थे तो दूसरी ओर जैन कवि शिव-वधू को वरण करने की युक्तियाँ सोच विचार रहे थे।[14] विलासिता, शृगारिकता तथा अश्लीलता के उस भयंकर प्रवाह मे भी जैन साधक अडिग रूप से अध्यात्म की साधना करते रहे, यह वास्तव में महत्व की बात है।

जिनधर्म में गहन आस्था

भैया भगवतीदास की जिनधर्म में गहन एवं अनन्य भक्ति थी। वस्तुत: जैन धर्म में गुणों की पूजा होती है व्यक्ति की नहीं। 'जिन' वही कहलाते हैं जिन्होने अपने कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। जिनेन्द्र भगवान वही हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है (जित-इन्द्रिय)। उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म जिन धर्म है, उन्हीं के द्वारा प्रदत्त ज्ञान जिनवाणी है। अत: जिनेन्द्र भगवान, जिनधर्म तथा जिनवाणी के प्रति उनकी अटूट आस्था पग-पग पर प्रकट हुई है। जिन धर्म की विशेषताएं बताते हुए कवि कहता है-

"धन्य-धन्य जिन धर्म, जासु में दया उभय विधि।
धन्य-धन्य जिन धर्म, जासु महिं लखै आप निधि।
धन्य-धन्य जिन धर्म, पंथ शिव को दरसावै।
धन्य-धन्य जिन धर्म, जहाँ केवल पद पावै।

पुनि धन्य-धन्य जिन धर्म यह सुख अनन्त जहाँ पाइये।
भैया त्रिकाल निज घट विषै, शुद्ध दृष्टि धर ध्याइये।।"[15]

एक अन्य स्थान पर कवि ज्ञान-दृष्टि के अभाव में इधर-उधर भटकते हुए जीव को सम्बोधित करते हुए कहता है -

"काहे को देश दिशान्तर धावत, काहे रिझावत इंद नरिन्द।
काहे को देवि और देव मनावत, काहे को शीस नवावत चंद।।
काहे को सूरज सों कर जोरत, काहे निहारत मूढ मुनिंद।
काहे को शोच करै दिन रैन तुं सेवत क्यों नहि पार्श्व जिनंद।"[16]

जो स्वयं उस कठिन साधना के पथ को पार कर चुके हैं वे ही जीव को उचित दिशा निर्देश दे सकते हैं। जिन, जिनवर, जिनन्द, जिनेश, जिनचंद, अरहंत, सिद्ध, केवली, सब उन्हीं के पर्यायवाची है। कवि ने अपनी प्रत्येक कृति के आरम्भ में जिनेन्द्र भगवान की किसी न किसी रूप में वंदना की है।

प्रेरणास्रोत

उनकी श्रद्धा कोरी श्रद्धा नहीं थी, न ही उनकी भक्ति अंध-भक्ति थी। उन्होने जैन दर्शन शास्त्रों का पर्याप्त अध्ययन किया था। गुणस्थान, सप्तभगी, उपादान निमित्त जैसे दार्शनिक विषयों पर लेखनी उठाना ही इस बात का प्रमाण है। उन्होंने कुछ ग्रंथों का तो संकेत भी दिया है। आचार्य नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार जैसे विशालकाय ग्रंथ का उन्होंने आद्योपात गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था। गोम्मटसार जीवकांड के आधार पर ही उन्होंने गुणस्थान सम्बन्धी दोनों रचनाएं-एकादश गुणस्थान पर्यन्त पंथवर्णन तथा चौदह गुणस्थानवर्ती जीव संख्या वर्णन की है। प्रथम रचना के अंत मे कवि ने इस तथ्य का उल्लेख भी किया है -

"ऐसे भेद जिनागम माहिं। गोमठसार ग्रंथ की छाँहि।।"

कवि ने कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित दोनों रचनाएं-अष्टकर्म की चौपाई तथा कर्मबंध के दश भेद गोम्मटसार के कर्मकांड के आधार पर लिखी हैं। दूसरी रचना के अर्न्तगत कवि ने स्वयं इस तथ्य का संकेत किया है -

"ए दश भेद जिनागम लहे। गोमठसार ग्रथ में कहे।।"

उन्होंने आचार्य नेमिचन्द्र कृत त्रिलोकसार का भी सूक्ष्मत: अध्ययन किया था, उसी के आधार पर उन्होंने लोकाकाश क्षेत्र परिमाण कथन कृति की रचना की है। इस कृति के अन्त में कवि ने इस तथ्य का उल्लेख भी किया है -

"इह विधि कही जिनागम भाख। ग्रंथ त्रिलोकसार की साख।।"

आचार्य नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रह का तो उन्होंने अनुवाद ही किया है। आचार्य नेमिचन्द्र प्राकृत भाषा के कवि थे, और भैया भगवतीदास भी प्राकृत के विद्वान थे। उनकी सभी रचनाओं का कवि ने गम्भीरता से अध्ययन किया था। इस प्रकार प्राकृत भाषा के आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव भैया भगवतीदास के प्रिय कवि एवं प्रेरणा स्रोत प्रतीत होते हैं।

आगरा का तत्कालीन धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण भी कवि के लिये प्रेरणादायक रहा होगा। कवि ने अपनी रचनाओं में दार्शनिक सिद्धान्तों का परम्परागत वर्णन किया है तथा उनके भेद-विभेदों को तो विस्तार दिया है किन्तु उनकी बारीकी में और गहराई में जाने की प्रवृत्ति उनकी नहीं है। जनसाधारण के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों को सुगम बनाने के विचार से ही ऐसा किया है। दार्शनिक विवेचन के अध्याय में इस दृष्टि से विचार किया गया है।

विनयशीलता

भैया भगवतीदास में हमें विनम्रता की भावना पर्याप्त मात्रा में दिखाई देती है, अहंकार उनमें किंचित मात्र भी नहीं है। उनकी यह आत्म लघुत्व की भावना उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होती है। ब्रह्मविलास का संग्रह करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मैं अल्पबुद्धि जीव हूँ, कोई विद्वान इसमें अशुदि देखे तो इसका उपहास न करें अपितु इसे शुद्ध कर दें -

''बुद्धिवंत हसियो मति कोय। अल्पमती भाषा कवि होय।
भूल चूक निज नयन निहारि। शुद्ध कीजियो अर्थ विचारि।।''[17]

द्रव्यसंग्रह का प्राकृत से हिन्दी भाषा में अनुवाद तथा भाव विस्तार करने के पश्चात् भी उन्होंने यही भावना प्रकट की है -

''गाथा मूल नेमिचन्द करी। महा अर्थनिधि पूरण भरी।।
बहुश्रुत धारी जे गुणवंत। ते सब अर्थ लखहिं विरतंत।।
हमसे मूरख समझे नाही। गाथा पढ़ै व अर्थ लखाहिं।।
काहू अर्थ लखे बुधि ऐन। वांचत उपज्यो अति चित चैन।।
जो यह ग्रंथ कवित्त में होय। तो जगमाहिं पढ़ै सब कोय।।
इहि विधि ग्रंथ रच्यो सुविकास। मानसिंह व भगौतीदास।।''[18]

कवि के कथन 'हमसे मूरख समझे नाही' में उसके हृदय की विनयशीलता तथा आत्म लघुता की भावना स्पष्ट झलक रही है। दूसरों को मूर्ख कहने में अहंकार की गंध आ जाती है। अतः कवि ने दूसरों की अपेक्षा पहले स्वयं को

मूर्ख कहा- हमसे मूरख समझें नाहीं जबकि केवल दो ही पंक्तियों के पश्चात् वे कहते हैं -

"इहि विधि ग्रंथ रच्यो सुविकास, मानसिंह व भगौतीदास।।"

जो मूर्ख होने के कारण जिस कृति को समझ भी नहीं सकता, उसी कृति का अनुवाद प्रस्तुत कर रहा है। ज्ञान के साथ विनम्रशीलता भक्त कवियों का आभूषण है। जिस प्रकार क्षमा वीरस्य भूषणम्- क्षमा वीरों का ही आभूषण है उसी प्रकार विनम्रता ज्ञान के साथ ही सौंदर्यवती प्रतीत होती है। सत्य है विद्या विनयं ददाति, विद्या मनुष्य को विनम्र बनाती है। एक अन्य स्थान पर तो विनयोक्ति की पराकाष्ठा ही हो गई है। शत अष्टोत्तरी के अन्त में वह कहते हैं -

"एहो बुद्धिवंत नर हंसो जिन मोहि कोऊ,
बाल ख्याल लीनो तुम लीजियो सुधारि के।।
मैं न पढ्यो पिंगल न देख्यो छंद कोश कोऊ,
नाममाला नाम को पढी नही विचारि के।
सस्कृत प्राकृत व्याकरणह् न पढ़यो कहूँ,
ताते मोको दोष, नाहिं शोधियो निहारि के।।
कहत भगौतीदास ब्रहम को लह्यो विलास,
ताते ब्रह्म रचना करी है विस्तारि के।।"

विद्वानों के प्रति कवि का यह कथन कि मुझे (अल्पबुद्धि) बालक समझकर इसमें सुधार कर लेना, उसके हृदय की समस्त उदारता, विनम्रता आत्मलघुता को दर्पणवत प्रकट कर देता है। इसी पद में आगे उनका कथन है कि मैने न छद शास्त्र पढ़ा है न कोई शब्द कोश देखा है, न ही सस्कृत प्राकृत का व्याकरण पढ़ा है। उनके इस कथन में सत्य की अपेक्षा विनयशीलता का अतिरेक ही दृष्टिगत होता है।

बहुज्ञता

भैया भगवतीदास जी के बहुज्ञ होने मे कोई संदेह नहीं है। पं0 नाथूराम प्रेमी ने उनको कविवर बनारसीदास के समान ही आध्यात्मिक और प्रभावशाली कवि माना है।[19] पं0 परमानन्द शास्त्री ने उन्हें प्राकृत संस्कृत तथा हिन्दी भाषा का अच्छा अभ्यासी तथा उर्दू, फारसी, बंगला एवं गुजराती भाषा का भी ज्ञाता स्वीकार किया है।[20] डॉ0 प्रेमसागर जैन ने प्राकृत और संस्कृत पर उनका अटूट

अधिकार, हिन्दी, गुजराती और बंगला में विशेष गति तथा उर्दू, फारसी का पर्याप्त ज्ञान स्वीकार किया है।[21] इसमें संदेह नहीं है कि भैया भगवतीदास उपरोक्त भाषाओं के विद्वान थे। शत अष्टोत्तरी रचना के अन्तर्गत गुजराती तथा उर्दू भाषा के छंद उनके इन भाषाओं पर अधिकार के द्योतक हैं तथा अनेकानेक रचनाओं में प्रयुक्त अन्य भाषाओं के शब्द तत्सम्बन्धी ज्ञान के परिचायक हैं। मुनिश्री कान्तिसागर जी ने भैया भगवतीदास को कवि होने के साथ-साथ गद्यकार भी बताया है जबकि प्रयास करने पर भी उनकी कोई गद्य रचना मुझे अभी तक उपलब्ध न हो सकी। अतः मुनि जी ने किस आधार पर उन्हें 'गद्यकार' माना है इसका कोई सूत्र नहीं मिल सका।

भैया भगवतीदास संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी रचना परमार्थ पद पंक्ति के पच्चीस पद विभिन्न राग रागनियों में बद्ध हैं तथा दो अन्य पद रागप्रभाती में बद्ध हैं। परमार्थ पदपंक्ति के पद भैरव, देवंगधार, बिलावल, रामकली, काफी, सारंग, धमाल गोड़ी, केदारी, सोरठ, कान्हरी, अडानी, विहाग, मारू, धनाश्री, राग रागनियो में बद्ध है। इतने राग रागनियों में पदों को बांधना कवि के संगीत प्रेम एव ज्ञान का परिचायक है। अन्य भक्त कवियों के समान उनके काव्य में हमें भक्ति, काव्य और संगीत की त्रिवेणी प्रवाहित होती दृष्टिगत होती है।

भैया भगवतीदास ने ज्योतिष सम्बन्धी छंद भी लिखे हैं। यद्यपि ज्योतिष सम्बन्धी छंदों की संख्या (जो ब्रह्मविलास में सगृहीत हैं) अति अल्प है। तथा वे ज्योतिष के प्रारम्भिक एवं मूल सिद्धान्तो पर आधारित हैं तथापि इनसे उनके व्यक्तित्व का एक और पक्ष उद्घटित होता है। उन्हें ज्योतिष में पर्याप्त रुचि थी तथा उनका उन्हें ज्ञान भी था।

इस प्रकार अन्तर्साक्ष्य एव बहिर्साक्ष्य के रूप में उपलब्ध अत्यल्प सामग्री के आधार पर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भैया भगवतीदास अठारहवीं शताब्दी के आगरा निवासी जैन कवि थे जिन्होंने संवत् **1731** से **1755** वि0 तक 'भैया' उपमान से साहित्य का सृजन किया। ये कविवर बनारसीदास के मित्र भगवतीदास तथा हीराचन्द्र प्रणीत पंचास्तिकाय में वर्णित भगवतीदास से भिन्न थे। जिनधर्म में उनकी दृढ़ आस्था थी, और वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. जंबूद्वीप सु भारतवर्ष। तामें आर्य क्षेत्र उत्कर्ष।।
   तहां उग्रसेन पुर थान । नगर आगरा नाम प्रधान।।
   X X X X X
   नृपति तहां राजै औरंग। जाकी आज्ञा बहै अभंग।।
   X X X X X
   तहां जाति उत्तम बहु बसै। तामें ओसवाल पुनि लसै।।
   तिनके गोत बहुत विस्तार। नाम कहत नहीं आवै पार।।
   सबतें छोटो गोत प्रसिद्ध। नाम कटारिया रिद्धि समृद्ध।।
   X X X X X
   दशरथसाहु पुण्य के धनी। तिनके रिद्धि वृद्धि अति घनी।।
   तिनके पुत्र लालजी भये। धर्मवंत गुणधर निर्मये।।
   तिनके पुत्र भगवतीदास। जिन यह कीन्हों ब्रह्म विलास।।
   X X X X X
   संवत सत्रह पंचपचास। ऋतु वसंत वैशाख सुमास।।
   शुक्ल पक्ष तृतीया रविवार। सघ चतुर्विध को जयकार।।
   X X X X X
   भैया नाम भगवतीदास। प्रगट होतु तसु ब्रह्म विलास।।
   भैया भगवती दास, **ब्रह्मविलास**, ग्रंथकर्ता परिचय, पृ0 स0 305
2. ''रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज दास।
   तृतिय भगौतीदास नर, कौरपाल गुनधाम।।
   धर्मदास ये पंच जन, मिलि बैठे इक ठौर।
   परमारथ चरचा करे, इनके कथा न और।।''
   कवि बनारसीदास, **नाटक समयसार**, प्रशस्ति, पद्य 26, 27
3. डॉ0 प्रेम सागर जैन, **हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि**, पृ0 सं0 268, 269
4. '' 'मानसिह' महिमा निज प्रगटै, बहुर न भव में आऊँ।।''
   परमार्थ पद पंक्ति, आठवे पद की अन्तिम पंक्ति इसमें मानसिंह को सकेतित करके नीचे पाद-टिप्पणी में लिखा गया है-

'मान सिंह भैया भगवतीदास जी का परम मित्र था।'
ब्रह्मविलास, पृ0 सं0 112.

5. **'द्रव्य संग्रह'** नाम की रचना 'भैया' के मित्र मान सिंह की रची हुई है।
   'डॉ0 प्रेमसागर जैन, **हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि**, पृ0 सं0 270.
6. 'इहविधि ग्रंथ रच्यो सुविकास, मानसिंह व भगौतीदास ।'
   भैया भगवतीदास, **द्रव्यसंग्रह** कवित्त बंध, दोहा छं0 सं0 6.
7. 'भैया नाम भगवतीदास। प्रगट होहु तसु ब्रह्म विलास।।'
   ब्रह्मविलास, ग्रन्थकर्ता परिचय पृ0 सं0 10, छं0 सं0 305.
8. (अ) भविक तुम वंदहु मन धर भाव, जिन प्रतिमा जिनवरसी कहिये।
   शत अष्टोत्तरी, छं0 सं0 20, प्रथम पंक्ति ।
   (ब) स्वर्ग मृत्यु पाताल में श्री जिनबिम्ब अनूप ।।
   तिहं प्रीत वंदत भविक नित भाव सहित शिवस्वरूप ।।
   शत अष्टोत्तरी, छं0 सं0 19, अन्तिम दो पंक्तियां ।
9. 'इति गुरु शिष्य चतुर्दशी, सुनहु सबै मन लाय।
   कहै दास भगवत को, समता के घर आय।'
   गुरु शिष्य चतुर्दशी, छं0 सं0 14 पंक्ति 5 व 6
10. डॉ0 नेमिचद शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, आगरा मे निर्मित जैन वाड्.मय, **गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ**, पृ0 सं0 553 से उद्धृत .
11. 'तहां (आगरा) बसहि जिनधर्मी लोक। पुण्यवंत बहुगुण के थोक ।।
    बुद्धिवत शुभ चर्चा करें। अखय भंडार धर्म को भरे।।''
    ब्रह्मविलास, ग्रंथकर्ता परिचय, छं0 सं0 2.

    तथा

    'नगर आगरो अग्र है, जैनी जन का बास।
    तिहं थानक रचना करी, भैया स्वमति प्रकास।।'
    उपादान निमित्त संवाद, छं0 सं0 46.

    तथा

    ''नगर आगरे जैन बसै। गुण मणि रिद्ध वृद्धि कर लसै।
    तिहं थानक मन ब्रह्म प्रकाश। रचना कही भगौतीदास।।''
    मनवत्तीसी, छं0 सं0 34.
12. भैया भगवती दास, **स्वप्न बत्तीसी**, छं0 सं0 34

13. भैया भगवती दास, **सुपंथ कुपंथ पचीसिका,** छं0 सं0 19.
14. भैया विनवहि वारवारा। चेतन चेत भलो अवतारा।।
(हवै) दूलह शिवनारी वरना। एते पर एता क्या करना।।''
भैया भगवतीदास, **नंदीश्वर दीप की जयमाला,** छं0 सं0 25.
15. भैया भगवतीदास, **जिनधर्म पचीसिका,** छं0 सं0 2.
16. भैया भगवतीदास, **फुटकर कविता,** छं0 सं0 14.
17 भैया भगवतीदास, **ब्रहमविलास,** ग्रथकर्ता परिचय, छं0 सं0 7.
18. भैया भगवतीदास, **द्रव्यसंग्रह कवित्तबंध,** (59 कवित्त छंदों के पश्चात्) चौपाई छं0 सं0 4,5,6
19. 'ये (भैया भगवतीदास) भी बनारसी जी के समान आध्यात्मिक कवि थे, प्रतिभाशाली थे, काव्य की तमाम रीतियों से तथा शब्दालकार अर्थालंकार आदि से परिचित थे' प0 नाथूराम प्रेमी, **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास,** पृ0 स0 53.
20 'आप (भैया भगवतीदास) प्राकृत संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के अभ्यासी होने के साथ साथ उर्दू, फारसी, बगला एवं गुजराती भाषा का भी अच्छा ज्ञान रखते थे इतना ही नहीं, उर्दू और गुजराती मं अच्छी कविता भी करते थे।' प0 परमानन्द शास्त्री, कविवर भगवतीदास, **अनेकान्त,** मार्च 1957, पृ0 सं0 227 से उद्‌धृत ।
21. ''भैया एक विद्वान कवि थे। प्राकृत और सस्कृत पर तो उनका अटूट अधिकार था। हिन्दी गुजराती और बगला मे भी विशेष गति थी। इसके साथ-साथ उन्हे उर्दू और फारसी का ज्ञान था। उनकी रचनाएँ इस तथ्य का निदर्शन हैं।'' डॉ0 प्रेमसागर जैन, **हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि,** पृ0 स0 269

अध्याय - 2

तत्कालीन परिस्थितियाँ

भैया भगवतीदास का रचनाकाल सं0 **1731** से **1755** वि0 तक है। इस समय भारत के राजसिंहासन पर मुगलवंशीय सम्राट औरंगजेब आसीन था। उसने **21** जुलाई सन् **1658** ई0 को राज्य हस्तगत किया तथा **20** फरवरी **1707** ई0 को उसकी मृत्यु हुई,[1] अर्थात् उसने सम्वत् **1715** वि0 से सं0 **1764** वि0 तक राज्य किया। सामान्यतया कवि समाज से प्रभावित होता है और समाज तत्कालीन राजनीति से, किन्तु प्रत्येक सामान्य नियम के साथ उसके अपवाद भी उपस्थित रहते हैं। तत्कालीन जैन कवि अपने समय की समस्त विषमताओ के गरल को आत्मसात् करके आध्यात्मिक आनन्द सुधा की वर्षा कर रहे थे। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का विस्तार से अवलोकन करके हम देखेंगे कि भैया भगवतीदास अपने युग से कहां तक प्रभावित हुए है।

राजनैतिक स्थिति

पानीपत के दूसरे युद्ध (सन् **1556** ई0) के पश्चात् मुगल साम्राज्य के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रतापी सम्राट अकबर का राज्यकाल आरम्भ हुआ। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहां का शासनकाल सुख शान्ति एवं समृद्धिपूर्ण रहा। तत्पश्चात् औरगजेब ने उत्तराधिकार के लिए युद्ध करके राज्यसत्ता को सन् **1658** ई0 मे (सम्वत् **1715** वि0) में हस्तगत किया तथा उसन सन् **1707** ई0 (सम्वत् **1764** वि0) तक मृत्युपर्यन्त राज्य किया। उसका राजत्वकाल घोर अशान्ति और अव्यवस्था का युग था, जिस शासन की नींव ही आहों, आसू और रक्त की धाराएं बहा कर रखी गई हो, उससे और अपेक्षा भी क्या की जा सकती थी? सर्वविदित ही है कि उसने अपने वृद्ध पिता शाहजहां को उसका शेष जीवन बंदी के रूप में व्यतीत करने के लिए विवश किया था, अपने बड़े भाई तथा साम्राज्य के उत्तराधिकारी दारा शिकोह का अपमानपूर्ण एवं करुण अंत किया। अपने छोटे भाई शुजा और मुराद के सहयोग से राज्यसत्ता प्राप्त की और उसके पश्चात् छल से उन्हे मृत्यु का ग्रास बना दिया।

इस प्रकार भारत में मुगल साम्राज्य का सूर्य जो बाबर के साथ उदित हुआ था, अकबर के राज्यकाल में अपनी प्रखरतम किरणें विकीर्ण कर, औरंगजेब का शासन आरम्भ होते ही अस्ताचल की ओर उन्मुख हो गया और मुगलवंश के अन्तिम शासक बहादुरशाह 'जफर' के साथ सन् **1857** ई0 (सम्वत् **1914** वि0) में पूर्णत: अस्त हो गया। डॉ0 नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है "सम्वत् **1700** से **1900** तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमश: उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है।"[2]

मध्य युग में सम्पूर्ण राज्यशक्ति का एकमात्र अधिपति सम्राट ही होता था। समस्त अधिकार उसके हाथ में ही केन्द्रित होते थे अत: उस युग की चेतना उसके व्यक्तित्व से ही अनुप्राणित होती थी। इस समय मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था का आधार था व्यक्तिवादी निरंकुश राजतंत्र। इस प्रकार की व्यवस्था मे शासक ही राष्ट्र के भाग्य का विधाता, युगचेतना का नियामक तथा कुछ सीमा तक एक विशिष्ट जीवन दर्शन का प्रतिपादक भी होता है। सम्राट पूर्णत: स्वेच्छाकारी होता था, उसके ऊपर किसी प्रकार का नियत्रण नही होता था। औरगजेब भी इसी प्रकार का सम्राट था। उसका राज्य विभिन्न प्रान्तों अथवा सूबो मे विभाजित था जो सूबेदारों के अधीन रहते थे। बहुत से जागीरदार और मनसबदार होते थे। उनके पास अपनी-अपनी सेनाएं होती थी, उन्हें पंचहजारी, छ: हजारी आदि मनसब प्रदान किए जाते थे, यह एक प्रकार का राजकीय सम्मान था, आवश्यकता पडने पर वे अपनी-अपनी सेनाएं लेकर सम्राट की ओर से युद्ध करने जाते थे। इस प्रकार यह सामन्तवादी युग था। इन सामन्तो का मुख्य कार्य सम्राट को प्रसन्न रखना तथा अधीनस्थ प्रजा का शोषण करना था।

औरंगजेब की राजनीति मुख्यत: धर्म पर आधारित थी। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था। वह हिन्दुओं का तो विरोधी था ही, शिया मुसलमानो का भी विरोध करता था उसकी नीति भेदभावपूर्ण थी। राज्य के ऊँचे पदों पर नियुक्ति योग्यता के आधार पर नहीं अपितु धर्म के आधार पर होती थी, अत: योग्य व्यक्तियों की सेवाएं और विश्वास उसने प्राप्त नहीं किया, इसके विपरीत इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार के कारण पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष तथा दमित रोष का वातावरण बना रहाता था। अधिकारी सामान्यत: विलासी और भ्रष्टाचारी होते थे। घूस और उत्कोच (रिश्वत) निसंकोच रूप से ली जाती

थी। प्रार्थी का निवेदन सम्राट तक पहुंचाने के लिए ही पर्याप्त रुपया ले लिया जाता था। बड़े से लेकर छोटे तक कई अधिकारी घूस लेकर अनुचित पक्षपात या न्याय शासन में मनचाहा हेर फेर कर देते थे।

औरंगजेब का अधिकांश समय युद्ध और संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। सीमान्त प्रदेशों पर निरन्तर अशान्ति और संघर्षपूर्ण वातावरण रहता था। उसकी उत्पीड़न नीति ने मथुरा के जाटों, सतनामियों, सिखों को अपना विरोधी बना लिया था। "वह राजपूतों से घृणा करता था, परन्तु जब तक भारत में मिर्जा राजा जयसिंह तथा महाराजा जसवंत सिंह जैसे शक्तिशाली नरेश जीवित रहे वह हिन्दुओं को नष्ट करने की अपनी नीति को खुल्लमखुला व्यवहार में न ला सका।"[3] मारवाड़ के राजा जसवंतसिंह का निधन होते ही उसने उनके राज्य को हस्तगत किया जिससे राठौर, दुर्गादास के नेतृत्व में उससे निरन्तर संघर्ष करते रहे। मेवाड़ के राजा राजसिंह से भी उसका संघर्ष बहुत समय तक चलता रहा। मराठों के नेता शिवाजी (मृत्यु सन् **1680**) तत्पश्चात् उनके पुत्र शम्भाजी और राजाराम से उसका युद्ध होता रहा। उसने अपने अन्तिम **25** वर्ष बीजापुर गोलकुडा आदि से निरन्तर युद्ध करते हुए दक्षिण में ही व्यतीत किये और वहीं अहमदनगर में सन् **1707** में उसकी मृत्यु हो गई। युद्ध और संघर्ष से ओतप्रोत वातावरण में रहते हुए कविवर भैया भगवतीदास ने भी 'चेतन कर्म चरित्र' मे राजा चेतन तथा मोह के मध्य युद्ध का सजीव और स्वाभाविक चित्रण किया है -

"रणसिगे बज्जहि, कोउ न भज्जहि, करहिं महा दोउ जुद्ध।।
इत जीव हकारहिं, निज परवारहि, करहु अरिन को रुद्ध।।
उत मोह चलावे, तब दल धावे, चेतन पकरो आज।।
इह विधि दोऊ दल, में कल नहि पल, करहिं अनेक इलाज।।"

निरन्तर युद्ध होते रहने के कारण औरंगजेब की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा गई थी। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषक ही राष्ट्रीय समृद्धि के आधार होते हैं किन्तु इस युग में कृषक ही सर्वाधिक शोषित किए जाते थे। शाही सेना में लगभग एक लाख सतर हजार सैनिक थे और सम्भवतः उनके साथ पड़ाव के नौकरों की संख्या इसकी दसगुनी हो जाती थी। जिस ओर भी यह शाही सेना जाती थी, सारी फसल रौंद दी जाती थी, रही सही खड़ी फसल घोड़ों को खिला दी जाती। गांवों में लूटमार या आग लगा देना सामान्य बात थी। अतः "अपनी अन्तिम चढ़ाई के बाद जब सन् **1705** में औरंगजेब वापस

लौटा तब सारा देश बरबाद होकर पूर्णतया वीरान हो चुका था। (प्रसिद्ध पर्यटक मनुची के अनुसार) उन प्रान्तों के खेतों में न तो फसलें ही थी और न कोई वृक्ष ही, उनके स्थान पर वहा सब ओर मनुष्यों और ढोरों की हड्डियां बिखरी पड़ी थीं।[4] इस पर भी राजकीय कर न दे सकने के कारण किसानों पर अत्याचार होते थे। इसलिए विवश होकर वे प्राय: लूटमार का व्यवसाय करने लगते थे, शान्ति सुरक्षा के अभाव मे व्यापार भी चौपट हो रहा था। एक ओर युद्ध में होने वाला भारी व्यय तथा दूसरी ओर आय के साधन नष्ट होने से शाही कोष रिक्त हो चुका था। सैनिकों तथा शासकीय अधिकारियों के पिछले तीन-तीन वर्ष के वेतन भी तब तक चुकाये न जा सके थे। रात-दिन आक्रामक युद्ध करते-करते उसके सैनिक भी थक चुके थे और युद्ध की समाप्ति चाहते थे किन्तु औरगजेब किसी की नहीं सुनता था। औरंगजेब की मृत्यु ही उन्हे युद्ध की समाप्ति का एकमात्र उपाय दृष्टिगत होता था अत: वे इसकी ही कामना करते थे। अपने बेटे मुअज्जम को लिखे हुए उसके एक पत्र मे इस प्रकार का संकेत है।[5]

उस युग की राजनीति छल और प्रपच से ओतप्रोत थी, स्वयं सम्राट भी इनका आश्रय लेता था, फिर सामान्य जनता की तो बात ही क्या थी? ऐसे अनेक उदाहरण तत्कालीन इतिहास में भरे हुए है। औरगजेब भक्त आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह के पूर्ण आश्वासन पर ही मराठा नेता शिवाजी औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए थे (सन् **1666** ई0) किन्तु उसने उन्हे बन्दी बना लिया। अपने पुत्र अकबर से युद्ध करते समय उसने एक ऐसा पत्र उसके साथी राजपूत सरदारो के हाथ मे पहुंचाया कि उसके प्रति उनका विश्वास समाप्त हो गया और वे उसे असहाय छोड़कर भाग खड़े हुए। सिद्धान्तों और आदर्श की बाते राजनीति से समाप्त होती जा रही थी, किलो का पतन प्राय: किसी विश्वस्त व्यक्ति के विश्वासघात का परिणाम होता था, गोलकुंडा का पतन इसी प्रकार हुआ था। मारवाड़ के राजा जसवंतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके एकमात्र पुत्र अजीत सिह को जब राठौर, दुर्गादास के नेतृत्व में औरंगजेब के चंगुल से निकाल ले जाने में सफल हो गए तब वह बहुत समय तक एक नकली राजकुमार का पोषण करता रहा और उसे ही असली अजीत सिंह घोषित करता रहा।[6]

उस समय क्रूरतापूर्वक दमन करने का वातावरण छाया हुआ था। औरंगजेब ने अपने भाईयों का क्रूरतापूर्वक अंत करने के पश्चात् भी यह क्रम

बनाये रखा। अनेकों में से कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं। "जाटो का सरदार गोकुल अपने परिवार सहित कैद करके लाया गया। यहां पर पुलिस चौकी के दालान में उसके अंगों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले गए और उसके परिवार को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया गया।"[7] **1675** ई0 में सिख गुरु तेगबहादुर को बंदीगृह में भयंकर यातनाएं दे देकर मार डाला गया। **1689** ई0 में शिवाजी के पुत्र शम्भा जी को बंदी बना लिया गया, उसी रात उसकी आखें फोड़ दी गईं। दूसरे दिन कवि कलश की जीभ काट दी गई और पन्द्रह दिन तक रोजाना उन्हें हर तरह सताया गया। इसके बाद कैदियों को पोरेगांव भेजा गया, जहां उन्हें **21** मार्च को बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला गया और उनके शरीर के टुकड़े करके कुत्तों को डाल दिए गए। उनके सिरों में भूसा भरकर दखिन के मुख्य-मुख्य नगरों में ढोल पीट-पीट कर घुमाया गया।[8] औरंगजेब अपनी सन्तान के प्रति भी अत्यधिक निर्मम था। उसके सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद सुलतान की बंदीगृह में ही **1676** ई0 मे मृत्यु हो गई। दूसरा पुत्र मुअज्जम, जो उसके पश्चात् बहादुरशाह के नाम से सिंहासनासीन हुआ **21** फरवरी **1687** ई0 से **9** मई **1695** ई0 तक बंदीगृह में रहा। उसका चौथा पुत्र अकबर उसके कारण भारत छोड़कर फारस चला गया और वहीं सन् **1704** ई0 में उसकी मृत्यु हुई। इसी प्रकार उसकी एक पुत्री जेबुन्निसा भी बंदीगृह में ही मृत्यु का ग्रास बनी थी। "वह अपने सभी पुत्र एवं पुत्रियों के प्रति संदेह रखता था और उनके चारों ओर गुप्तचर लगाए रखता था जो उसे उनकी सब गतिविधियों से सदा परिचित कराते रहते थे।"[9] इन सब तथ्यों से तत्कालीन राजनैतिक अव्यवस्था, अराजकता, असुरक्षा एवं क्रूरतापूर्ण वातावरण पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है जिससे तत्कालीन समाज और साहित्य सभी प्रभावित हुए।

सामाजिक परिस्थितियाँ

यह युग घोर अव्यवस्था का युग था। यद्यपि भारतीय इतिहास यहां के सम्राटों का जीवन तथा उनकी विजय पराजय का ही लेखा जोखा प्रस्तुत करता है, तथापि उससे सामान्य जनता की झलक भी यदा-कदा मिल जाती है। तत्कालीन समाज को दो वर्गों में सरलता से विभाजित किया जा सकता है- शोषक और शोषित। जिनके ऊपर सम्राट का वरद हस्त रहता था वे ही लोग अपने अधीनस्थ तथा सामान्य जनता का अबाध शोषण करते थे। भारत का

वृहत् कृषक समुदाय तथा श्रमिक वर्ग इनके द्वारा शोषित होता था। इन दोनों के मध्य बहुत अन्तर था। एक ओर वैभव और विलास चरमसीमा को पहुंच रहे थे तो दूसरी ओर दरिद्रता का अतिरेक था। औरंगजेब यद्यपि स्वयं सदाचारी था किन्तु उसके पूर्वज जहांगीर तथा शाहजहां अत्यधिक विलासी थे और विलासिता का तत्व मुगल साम्राज्य की नस-नस में समा गया था। विदेशी यात्री बर्नियर, टेवर्नियर, मनूची आदि शाहजहां का राज्य-वैभव और ऐश्वर्य देखकर स्तम्भित रह गए थे। "दिल्ली के अमीरों के महलों में विषय-भोग अपनी चरमसीमा को पहुंच गए थे। उनके हरम सदैव अनेकानेक देशों और अनगिनत विभिन्न जातियों की नाना विधि के ढंग, चरित्र तथा बुद्धिवाली अनेकों स्त्रियों से भरे रहते थे।"[10] सम्राट के महलों में सुन्दरी के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यापार होता था। मदिरा-पान उस समय का सबसे भयंकर व्यसन था। "सामन्तो के घर मे उनके अपने हरम थे, जिसमे अपने मनोरजन के लिए वे मनमानी संख्या मे रक्षिताएं और नर्तकियां रखते थे।"[11] यद्यपि भैया भगवतीदास अध्यात्मवादी कवि थे तथापि उन्होंने सांसारिक प्राणियों का चित्रण अपने युग के अनुरूप किया है -

> "कोउ तौ करै किलोल भामिनी सौं रीझि रीझि,
> वाही सौ सनेह करै कामराग अंग मे।
> कौउ तौ लहै अनंद लक्ष कोटि जोरि जोरि,
> लक्ष-लक्ष मान करै लच्छि की तरंग में।
> कौउ महा शूरवीर कोटिक गुमान करै,
> यौ समान दूसरो न देखो कौऊ जंग मे।
> कहा कहैं 'भैया' कहु कहिवे को बात नाहिं,
> सब जग देखियतु रागरस रंग में।"[12]

इसके विपरीत दूसरी ओर श्रमिक एवं कृषक वर्ग के मध्य इसका नितान्त विरोधी चित्र दृष्टिगत होता था। उन्हें दिन भर कठिन परिश्रम के पश्चात एक बार ही भोजन प्राप्त हो पाता था। प्राय: उन्हें बेगार के लिए पकड़ लिया जाता और मजदूरी कोड़ों की मार से चुकाई जाती थी। "एक के बाद एक नियुक्त होने वाले जागीरदार के गुमाश्तो मे उस जागीर के किसानों का सब कुछ ले लेने की होड़-सी लग जाती थी।"[13] दास प्रथा का चलन भी था। युद्धबदी प्राय: दास बना लिए जाते थे तथा अकाल के समय कर्ज चुकाने

के लिए स्त्री पुरुषों को उनके माता पिता बेच देते थे। इस प्रकार दीनहीन जनता त्राहि-त्राहि कर उठी थी, उनके अस्थिपंजर शेष शरीरों पर ही मुगल वैभव का प्रसाद खड़ा हुआ था।

सम्राट स्वेच्छाचारी था और उसके अधिकारी निर्द्वन्द्व। उस पर विशेष अंकुश नहीं था। न्याय व्यवस्था विश्वसनीय नहीं रह गई थी। सामान्य जनता को सार्वजनिक सुरक्षा का विश्वास नहीं रह गया था। समाज का कितना नैतिक पतन हो चुका था और प्रजा का सम्मान किस प्रकार असुरक्षित था इस का अनुमान प्रस्तुत तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है। "मुगल अमीरों के नैतिक पतन का एक बहुत ही अर्थपूर्ण उदाहरण हमें वजीर के पौत्र मिर्जा तसव्वुर के चरित्र में मिलता है। अपने साथी गुंडों को लेकर वह दिल्ली में अपने महल से निकलता और तब बाजार में दुकानों को लूटता तथा डोलियों में बैठकर नगर की आम सडकों पर से निकलने वाली या यमुना नदी की ओर जाने वाली हिन्दू स्त्रियों को उड़ाकर उनके साथ व्यभिचार करता था, फिर भी न तो वहा कोई ऐसा शक्तिशाली या साहसी न्यायाधीश ही था जो उसे दंड दे सकता और न ऐसे अत्याचारो को रोकने के लिए वहां पुलिस का कोई समुचित प्रबन्ध ही था।"[14] अधिकारी वर्ग रिश्वत घूसखोरी और भ्रष्टाचार के रोग से ग्रस्त था और सामान्य प्रजा का जीनव त्रस्त और अभिशप्त था। वह घोर नैराश्य की स्थिति में मूक भाव से सब कुछ सहती थी, किन्तु उसके हृदय से स्वामि-भक्ति और राजभक्ति लुप्त हो गई थी। उसके भीतर छिपी हुई घृणा और आक्रोश की चिंगारियां समय-समय पर फूट पड़ती थीं, जिनका क्रूरतापूर्वक दमन कर दिया जाता था। उत्तराधिकार के युद्ध में दाराशिकोह औरंगजेब से परास्त होकर जब भारत की सीमा पार कर अफगानिस्तान जाने की योजना बना रहा था तब उसी की कृपा से नियुक्त दादर के गढ़ के अधिपति मलिक जीवन ने उसके साथ विश्वासघात कर उसे बंदी बनाकर औरंगजेब भक्त मिर्जा राजा जयसिंह को सौंप दिया। उसकी सेवाओं के लिए, औरंगजेब ने उसे सामन्त बनाया 'बख्तयार खां' नाम दिया, सम्मान देने के लिए दिल्ली बुलाया। जब वह नगर से होकर जा रहा था तब जनता ने "गालियाँ और शापों की मलिक जीवन तथा उसके साथियों पर बौछार कर दी, उन्होंने उस पर कूड़ा और कीचड़ फेंका और ढेले तथा पत्थर बरसाये। परिणाम यह हुआ कि कुछ गिर गए और कुछ मर गए .... आज के दिन इतना बड़ा विप्लव हुआ

कि यह लगभग विद्रोह मालूम पड़ता था।[15] औरगजेब की दमननीति ने ही आगरा और मथुरा के जाटों, सतनामियों तथा सिखों को तलवार उठाने को विवश कर दिया था किन्तु फिर भी देशभक्ति, राष्ट्रीयता प्राचीन कुल मर्यादा के प्रति गौरव आदि की भावनाए लुप्त हो रही थी अन्यथा तत्कालीन साहित्य में इस प्रकार का स्वर अवश्य सुनाई पड़ता। "राजपूतों के दृढ़ स्नायुओं में भी मुगल दरबार की नजाकत और कोमलता प्रवेश कर गई थी। राजस्थानी जौहर का स्थान भ्रष्टाचार ने तथा सबल पौरुष का स्थान अनैतिक विलास ने ले लिया था। सवाई राजा जयसिह के उत्तराधिकारी पैरों में धुंघरू बांधकर अपने अंतपुर में नृत्य करते थे।"[16] अभिजात सस्कृति के नाम पर विलास और प्रदर्शन ही शेष रह गए थे। समाज का बौद्धिक स्तर बहुत नीचा होता जा रहा था। इस युग ने किसी महान साधु सन्त को जन्म नहीं दिया। अमीर और सामन्तो के पुत्र जीवन के आरम्भ से ही अनेक विकृतियो से परिचित हो जाते थे। उनकी स्वार्थान्धता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि जहा वे प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च कर यूरोप मे बनी हुई सुख भोग और कला की अनेको वस्तुएं मोल लेते थे, वहा जन साधारण की शिक्षा या सार्वजनिक धन्धों के लिए उन्होंने एक भी छापाखाने या लिथो का पत्थर तक मंगवाने की कभी नहीं सोची।

इतना सब होते हुए भी उस समय "करोडों भारतीयो का गृहस्थ जीवन पवित्रतामय और सीधी सादी चंचलता तथा हंसी खुशी से भरपूर था।"[17] ये लोग राजनीति से असंपृक्त रहते थे। सोलहवी शताब्दी मे अवतरित वैष्णव सन्तों की वाणी की गूज उनके हृदय को अनुप्राणित करती रहती थी। वे कीर्तन आदि के माध्यम से राजनैतिक उत्पीडन के भार को भुलाकर अपना मनोरंजन कर लिया करते थे। मुसलमान सन्तों की कब्र पर उर्स मनाना और हिन्दुओं का समय-समय पर होने वाले मेलों तथा तीर्थस्थानों की यात्रा करना ही मनोरजन के कुछ साधन रह गए थे। मुग़ल शासकों की आचार्यों और कवियों ने प्रशंसा भी की है। पंडितराज जगन्नाथ शाहजहां के राजकवि थे[18] और उन्होंने उसकी प्रशसा भी की है। हिन्दी जैन कवियों ने भी जिनमें भैया भगवतीदास भी एक हैं, औरंगजेब की प्रशंसा की है।[19] डॉ0 प्रेमसागर जैन के अनुसार इसका कारण यह प्रतीत होता है कि औरंगजेब ने शिक्षा पद्धति की ओर ध्यान दिया था और उसे सर्वधारण के लिए सुलभ कर दिया था। "उसने मदरसों और मकतबों का जाल सा बिछा दिया था। उसके द्वारा शिक्षा प्रणाली

में भी पर्याप्त सुधार किया गया। इसके लिए जैन कवियों ने औरंगजेब की प्रशंसा की है।''[20] घोर अव्यवस्था और नैराश्य के इस युग में भी कुछ कवि तटस्थ भाव से आध्यात्मिक आनन्द में लीन होकर काव्य-साधना कर रहे थे।

धार्मिक परिस्थितियाँ

औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। उसकी धार्मिक नीति अत्यन्त भेदभावपूर्ण थी। उसने धर्म को राजनीति का आधार बनाया था। इस्लाम धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था, हिन्दुओं को वह हीन दृष्टि से देखता था। वस्तुतः भारत में इस्लाम राज्य की स्थापना करना ही उसका उद्देश्य था। ''सम्पूर्ण जनसमाज को इस्लाम धर्म में दीक्षित कर उसका धर्म परिवर्तन करना और हर प्रकार के धार्मिक मतभेदों को मिटा देना ही मुसलमानी राज्य का आदर्श है। किसी भी मुसलमानी समाज में कोई काफ़िर रहने दिया जाता है तो केवल इसी कारण कि इस दोष को मिटाना जब सम्भव नहीं हो।''[21] औरंगजेब ने भी इसी आदर्श को अपनाया। उसके राज्य में राजकीय महत्वपूर्ण पदो पर हिन्दुओ की नियुक्ति नहीं की जाती थी। हिन्दू धर्म को समूल नष्ट करने का उसने भरसक प्रयास किया। प्रस्तुत उदाहरणों से उसकी दमन नीति का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। ''सन् **1644** मे जब वह गुजरात का सूबेदार था, तब उसने अहमदाबाद में तत्काल ही बने हुए चिन्तामणि के हिन्दू मन्दिर मे गो-हत्या करवा कर उसे भ्रष्ट करवा दिया, और बाद में उस मन्दिर को मस्जिद मे बदल दिया।''[22] ''अगस्त **1669** ई0 मे बनारस के विश्वनाथ मन्दिर को गिरा दिया गया। बुन्देले राजा वीरसिंह देव द्वारा **33** लाख रुपयों की लागत से बनवाया हुआ मथुरा का सबसे शानदार देवालय-केशवराय का मन्दिर-जनवरी **1670** ई0 को धराशायी कर दिया गया और उसके स्थान पर मस्जिद बनवा दी गई। इस मंदिर की मूर्तियां आगरा लाई गईं और उन्हें जहांआरा मस्जिद की सीढ़ियों पर लगा दिया गया जिससे वे नमाज पढ़ने के लिए भीतर जाने वाले मुसलमानों के पैरों से लगातार खुंदती रहें। इसी समय के आस-पास काठियावाड़ प्रायद्वीप के दक्षिणी किनारे पर स्थित सोमनाथ का मंदिर ढा दिया गया और उसमें होने वाली पूजा आदेश देकर बन्द करा दी गई। जिन अन्य छोटे धार्मिक भवनों को विनाश लीला का शिकार होना पड़ा, उनकी तो गणना ही नहीं की जा सकती। अकेले मेवाड़ में **1679-80** ई0 को राजपूत युद्ध के साथ **240** मंदिर नष्ट किए गए, जिनमें सोमेश्वर का प्रसिद्ध

मंदिर और उदयपुर के तीन शानदार मंदिर भी सम्मिलित थे। जयपुर के वफादार राज्य में भी **67** मंदिर ढा दिए गए। **2** अप्रैल **1669** ई0 को मुस्लिमेतरों पर जजिया या व्यक्तिगत कर फिर से लागू कर दिया गया। वे गरीब आदमी जिन्होंने सम्राट से प्रार्थना की और इस कर में छूट के लिए दीनता से चिल्लाते हुए एक सड़क रोक ली, उसके आदेश पर हाथियों से रौंद डाले और तितर बितर कर दिए गए। मार्च **1695** ई0 में एक दूसरे अध्यादेश के द्वारा राजपूतों को छोडकर अन्य सभी हिन्दुओं के लिए हथियार लेकर चलने तथा हाथियों, पालकियों अथवा अरबी फारसी घोड़ों पर सवारी करने को मनाही कर दी गई।''[23] जो मंदिर को तोड़कर उसके खडहरों से मस्जिद बना सके उसका कार्य तो अत्यन्त प्रशंसनीय हो जाता था। बादशाह का प्यारा बनने का प्रधान उपाय मंदिरों का भग था। जिन पाठशालाओं में हिन्दू शास्त्रो का पठन-पाठन होता था, उन्हे उसने बन्द करवा दिया।....... हिन्दुओ के मेलो पर रोक लगा दी गई। अपने रहन-सहन द्वारा उन्हे अपने दलित होने का सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन करना पड़ता था। प्रत्येक हिन्दू को प्रयाग में गगा स्नान करने के लिए *6* रूपये **4** आने यात्रा कर के रूप मे देने पड़ते थे।[24] इस प्रकार हिन्दुओ के अपमान और अन्याय की सीमा नहीं थी किन्तु आश्चर्य की बात थी कि इतने अपमान और अन्याय ने भी हिन्दुओं को क्रान्तिकारी नही बना दिया। उनमे स्वामीभक्ति और राजभक्ति इतनी गहरी थी कि वे औरंगजेब के पक्ष मे राजपूत, मराठा, सिख, सतनामी तथा जाटो के दल के विरुद्ध लड़ते रहे। आमेर के मिर्जा राजा जयसिह जैसे व्यक्ति सदैव औरगजेब का दाहिना हाथ बने रहे। डॉ0 ताराचन्द के अनुसार, ''इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस काल के लोग धर्म को निजी और व्यक्तिगत बात समझते थे। धर्म का सम्बन्ध उनके सार्वजनिक तथा राजनैतिक जीवन से न था।''[25] औरंगजेब की नीति सुन्नी मुसलमानों के अतिरिक्त सभी धर्मावलम्बियों के प्रति दमनपूर्ण थी जिसके कारण सतनामी और सिख सम्प्रदायो ने सैनिक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया और मथुरा जिले में गोकुल के नेतृत्व में सन् **1669** ई0 में जाटों का विद्रोह भी इसी प्रकार का प्रयास था किन्तु हिन्दुओं का सम्मिलित संगठित और विस्तृत प्रयास नहीं दृष्टिगत होता।

औरंगजेब शिया मुसलमानो से भी घृणा करता था। वह शियाओं को राफिजी (नास्तिक) समझता था। उसने अपनी एक कटार का नाम राफिजीकुश

(शियाघातिनी) रखा था। वह अपने पत्रों में शियाओं का बिना गालियों के उल्लेख नहीं करता था। गुले बयावानी (शवभोजीराक्षस) तथा कातिल मजाहिबाँ (मिथ्याविश्वासी) उसके प्रिय प्रयोग थे। बीजापुर और गोलकुंडा के शासक शिया थे इसीलिए उन पर आक्रमण किया गया था। औरंगजेब ने प्रसिद्ध रहस्यवादी संत सरमद का भी वध करवाया था क्योंकि वह दारा का श्रद्धेय रहा था और सर्वेश्वर वादी था। कट्टर पंथियों की दृष्टि में अनीश्वर वादी और सर्वेश्वर वादी दोनों समरूप से निन्दनीय हैं।

हिन्दुओं की आन्तरिक दशा भी शोचनीय थी। छोटी-छोटी बातों को लेकर उनके आंतरिक भेद विभेदों के कारण हिन्दू समाज उपजातियों में विभाजित होकर अशक्त हो गया था। शैव और वैष्णव धर्म की अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं का प्रचार था। इनमें कृष्णभक्ति शाखा का ही सर्वाधिक प्रचलन था क्योंकि वही युग की प्रवृति के अनुकूल थी। अनेक गद्दियों और मठों की स्थापना हो चुकी थी। उनके स्वामी भी वैभव विलास के अभिशाप से अछूते नहीं रह गए थे अत: उनकी साधना और तत्व चिन्तन मे शैथिल्य आ गया था धर्म का तात्विक विकास एकदम रुक गया था उसके स्थान पर भक्ति के बाह्य विलास अत्यंत समृद्ध हो गये थे। जब भक्त लोग इस प्रकार ऐश्वर्य और विलास मे संलग्न थे, तो भगवान उससे कैसे वंचित रहते। मठ और मंदिर देवदासियों के नूपुरों की रुनझुन से गूंजते रहते थे। भगवान की मूर्तियां "ऐसे-ऐसे कामुकतामय नृत्य देखती हैं जिन्हें देखकर अवध के नवाब को भी ईर्ष्या होती और अपने हरम मे जिनका अनुकरण करवाने को कुतुबशाह भी लालायित हो उठता।"[26] सम्भवत: धर्म का यही रूप देखकर कविवर भैया भगवतीदास भी कह उठे हैं-

"कान्ह करी कुंजन में केलि पर नारिन सौं,
ऐसे व्यभिचारिन को ईश कैसे कहिये।"[27]

जनता धर्म के उसी शृंगारपरक रूप की ओर आकृष्ट हो रही थी जो उनके विलास प्रिय जीवन का समर्थन करता था। धर्म का नीति और विवेक से सम्बन्ध टूट गया था, उसका दार्शनिक आधार लुप्त होने लगा था। राम और कृष्ण की उपासना के अतिरिक्त एक वर्ग धार्मिक भेदभाव से दूर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतिपादक कबीर, दादू आदि निर्गुण सन्तों की विचारधारा का अनुगमन कर रहा था।

इस समय जैन धर्मानुयायी भी पर्याप्त मात्रा में थे। प्राचीनकाल से चली आ रही समृद्ध जैन साहित्य की परम्परा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आगरा जयपुर आदि तो जैन धर्म के गढ़ रहे हैं। औरंगजेब के समकालीन ही अनेक जैन कवियों की रचनाएं पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं तथा अनेक जैन आचार्यों का उल्लेख भी मिलता है। भगवान महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे इस धर्म की दो शाखाएं हो गई थी दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत तेरहपंथ, बीसपंथ और तारणपंथ तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत चैत्यवासी, स्थानकवासी (मूर्तिपूजा विरोधी) और श्वेताम्बर तेरहपंथ (मूर्तिपूजा विरोधी) प्रचलित थे। औरंगजेब का इन धर्मावलम्बियो के प्रति कैसा व्यवहार था, इतिहास मे इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कोई विशाल मंदिर जैनो का उस काल में नही बना, कुछ प्राचीन मंदिर तोड़े गए होगे किन्तु किसी प्रसिद्ध जैन मंदिर का विध्वस या तीर्थ का विनाश नही किया गया प्रतीत होता। आगरा और दिल्ली के किलो के निकट ही उससे पूर्व के बने हुए विशाल जैन मदिर सुरक्षित रहे। दिल्ली मे लालकिले के सामने प्रसिद्ध जैन मंदिर 'लालमंदिर' शाहजहां ने शाही सेना के जैन सैनिको और कर्मचारियों की प्रार्थना पर बनवाया था[28] उसे उर्दू मंदिर भी कहते हैं। कन्नड़ी भाषा की एक प्राचीन विरुदावली के अनुसार औरगजेब ने कर्नाटक के एक दिगम्बर जैनाचार्य का भी आदर सत्कार किया था। राजस्थान में जैन धर्मावलिम्बयो के उच्चपदो पर आसीन हाने का उल्लेख मिलता है जो उनके पर्याप्त उन्नत अवस्था मे होने का द्योतक है।

इस युग मे जनता अधविश्वासी होती थी। उसमें आत्मविश्वास का अभाव होता जा रहा था। "सिद्धि प्राप्त चमत्कार कर सकने वाले प्रसिद्ध मुसलमान सन्तो को हिन्दू राजा रईस साधारण जनता भी आदर की दृष्टि से देखते थे। वे जादू मे विश्वास करते थे। पीरों और फकीरों के पास अपनी मुरादे लेकर जाते थे। ज्योतिषियो की भविष्यवाणी और सामुद्रिक शास्त्र के द्वारा उनकी कार्यविधियो का परिचालन होता था।"[29]

धर्म मे बाह्य आडम्बरों का बहुत अधिक प्रवेश हो गया था। कविवर भैया भगवतीदास ने भी तत्कालीन आडम्बर-प्रिय साधुओं का स्पष्ट और सजीव चित्रण किया है--

"कंऊ फिरैं कानफटा, कैऊ शीस धरै जटा,
कैऊ लिए भस्म वटा भूले भटकत हैं।।

कैऊ तज जाहिं अटा, कैऊ घेरैं चेरी चटा,
कैऊ पढ़ै पट कैऊ धूम गटकत हैं।।
कैऊ तन किये लटा, कैऊ महा दीसै कटा,
केऊ तरतटा कैऊ रसा लटकत हैं।।
प्रम भावतैं न हटा हिये काम नाही घटा,
विषै सुख रटा साथ हाथ पटकत हैं।।''[30]

इस प्रकार धर्म की दृष्टि से समाज अनेक सम्प्रदायों में विभाजित था। एक ओर तो धर्म में शृंगारिकता का प्रवेश हो जाने के कारण वह रसातल को जा रहा था तो दूसरी ओर सामान्य जनता बाह्य क्रियाकांड तथा तंत्र-मंत्र विद्या को ही धर्म मान बैठी थीं ऐसी स्थिति में एक वर्ग ऐसा भी था जो तत्कालीन परिस्थितियों से पूर्णतः तटस्थ रहकर एकान्त आत्मसाधना में लीन था।

साहित्यिक परिस्थितियां

साहित्यिक दृष्टि से यह युग रीतिकालीन कविता का युग है। रीतिकालीन कविता साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बंध का उत्तम उदाहरण है। वैसे तो शाहजहां के समय से ही हिन्दी कवियों ने हिन्दू राजाओं के दरबार में आश्रय लेना आरम्भ कर दिया था, औरंगजेब के समय में तो उनका मुगल दरबार से नितान्त विच्छेद हो गया। औरंगजेब साहित्य तथा संगीत आदि कलाओ का विरोधी था। ''वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और इस सम्प्रदाय में जीवन के रागात्मक तत्वों के प्रति एक प्रकार का कठोर भाव मिलता है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य और विलास का त्याग उसमें अनिवार्य है। फलतः जीवन के रागात्मक तत्वों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली कलाओं तथा साहित्य के लिए औरंगजेब के 'आदर्श राज्य' में कोई स्थान नहीं था। औरंगजेब के सिंहासनारोहण के पश्चात् ग्यारह वर्ष तक कुछ कलावंत और कवि किसी प्रकार उसके दरबार में बने रहे, परन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें बिलकुल निकाल दिया गया।[31] अतः कवियों ने राजस्थान के नरेशों और सामन्तों की छत्रछाया में आश्रय लिया। राजनैतिक प्रश्रय के अभाव तथा घोर अव्यवस्था के युग में साहित्य और कला की उन्नति वैसे ही कठिन होती है, सम्राट के विरोध ने उसके विकास के सभी अवसर समाप्त कर दिये।

इस समय जनता का बौद्धिक और नैतिक ह्रास हो रहा था। औरंगजेब की संकुचित मनोवृति ने मुसलमानों में यह भावना भर दी थी कि उनकी

मातृभूमि अरब ही है। अरब और फारस की संस्कृति ही उनकी संस्कृति है। "साहित्यिक लिखा-पढ़ी के लिए भारतीय भाषाओं को काम में लाना 18वीं शताब्दी के बाद तक भारतीय मुसलमान अपने लिए अपमानजनक समझते थे।[32]

विलासिता का तत्व मुग़ल सम्राटों के अनुकरण पर उनके अमीरों और सामन्तों से होता हुआ जन सामान्य में व्याप्त हो गया था। अत: साहित्य में भी उसकी अभिव्यक्ति हुई। कवि अपने आश्रयदाताओं के ऐश्वर्य तथा विलासपूर्ण क्रीडाओ का अतिरंजित वर्णन करना ही कवि कर्म समझने लगे। कविता तथा कला विलासपरक जीवन का उद्दीपन मात्र बनकर रह गई। विलासी शासकों की परिषदों में अभिजात वर्ग के सामन्तों का अभाव हो गया था। दर्जी, नाई, महावत, भिश्ती जैसे निम्न बौद्धिक स्तर के व्यक्ति उनके विश्वासपात्र बन गए थे, अत. इन्हीं की रुचि के अनुसार काव्य तथा अन्य कलाओं का विकास हुआ।

साहित्य और धर्म का गठबंधन प्राचीनकाल से होता आया है। इस समय वैष्णव धर्म अनेक विकृतियों से ओतप्रोत हो चुका था, विलासिता का तत्व धर्म के क्षेत्र मे भी प्रवेश पा चुका था। मंदिरों और मठों में देवदासियों के मादक गायन एव नृत्य से भगवान की मूर्तियो के नाम पर मठाधीशों का मनोरंजन होता था। अत: साहित्य मे भी कृष्ण और राधा, सामान्य नायक और नायिका बनकर रह गए थे। वस्तुत: तत्कालीन कवियो ने अपनी वासनात्मक अभिव्यक्ति को राधा और कृष्ण के नाम से संयुक्त कर उस पर भक्ति भावना अथवा धार्मिकता का आवरण डाल देना चाहा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग को रीतिकाल की सज्ञा दी है क्योंकि इस युग के कवियो ने संस्कृत के काव्य-प्रकाश, चद्रालोक, साहित्यदर्पण जैसे लक्षण ग्रंथों की रीति पर ही रस, अलंकार, नायिका भेद आदि काव्यांगों का निरूपण किया है। उन्होंने इस युग के कवियों को दो वर्गों में विभाजित किया- रीतिबद्ध कवि और रीतिमुक्त कवि। किन्तु, कालान्तर में इस बात का अनुभव किया गया कि रीतिकाल नाम इस युग की प्रमुख प्रवृति का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम नही है। अत: डॉ0 रामकुमार वर्मा ने इस में काव्य के कलापक्ष की पुष्टता की ओर संकेत करते हुए इसे 'कला-काल' की संज्ञा दी और प0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसके वर्ण्य विषय में शृंगार रस के अतिरेक को दृष्टि में रखते हुए शृंगार-काल के नाम से अभिहित किया।

उन्होंने इस काल के कवियों का विभाजन तीन वर्गों में किया, लक्षण ग्रन्थों के अनुकरण पर रचना करने वाले आचार्य केशव, मतिराम, देव, पद्माकर आदि रीति बद्ध कवि, रीतिबद्धता की उपेक्षा करने वाले किन्तु फिर भी उससे प्रभावित बिहारी जैसे रीतिसिद्ध कवि और इसके प्रभाव से मुक्त, रसखान, घनानंद, ठाकुर भूषण जैसे रीतिमुक्त कवि। इस प्रकार अधिकतर तत्कालीन कवि प्रेम और शृंगार की इस सरिता में आकंठ मग्न हो रहे थे। शृंगार रस का अतिरेक, प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण, भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की उत्कृष्टता तत्कालीन हिन्दी काव्य की कुछ विशेषताएं थीं। उस समय नारी केवल ''भोग्या'' ही रह गई थी, नायिका भेद और नखशिखवर्णन के रूप में उसके एक एक अग का विस्तार से वर्णन हुआ है। भैया भगवतीदास के सम्बन्ध में भी एक किंवदंती प्रचलित है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध हिन्दी कवि केशवदास ने अपनी रचना 'रसिकप्रिया' भैया भगवतीदास को समालोचनार्थ भेजी थी, तब उन्होंने उस पर अपनी सम्मति लिख भेजी। यद्यपि केशव तथा भैया भगवतीदास की समकालीनता सम्भव नहीं है तथापि उनके पश्चात् जब भी रसिकप्रिया 'भैया' की दृष्टि में आई तब ही उन्होंने अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रकट किये-

''बडी नीत लघु नीत करत है, बाय सरत बदबोय भरी।।
फोडा बहुत फुनगणी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी।।
शोणित हाड मास मय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।।
ऐसी नारि निरखि कर केशव? 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी।।''[33]

'रसिकप्रिया' में वर्णित नारी का रूप देखकर कविवर 'भैया' का हृदय हा-हाकार कर उठा। नारी का इतना घृणित रूप! हाय केशव! यह तुमने क्या किया? क्या नारी शरीर की यही सार्थकता है!

इस प्रकार उस काल में हिन्दी के अधिकांश कवियों की वाणी विलास वैभव की मदिरा पानकर बेसुध हो उठी थी किन्तु साथ ही कुछ कवि ऐसे भी थे जो शृंगार रस की सरिता में न बहकर अपने को तटस्थ किये हुए थे, कविवर भूषण छत्रपति शिवाजी के शौर्य तथा मुगलों पर उनके आतंक का वर्णन कर रहे थे और लाल कवि ने महाराज छत्रसाल का जय जयकार किया। इनके अतिरिक्त जैन कवियों द्वारा भी पर्याप्त मात्रा में काव्य का सृजन किया जा रहा था जिसको हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने जानने की तथा इतिहास में स्थान देने की आवश्यकता ही नहीं समझी। ये कवि आध्यात्मिक आनन्द

में लीन होकर काव्य साधना कर रहे थे। स्वयं औरंगजेब के राज्यकाल (सम्वत् **1715-1764** वि0) में ही अनेक जैन कवि हुए। जिनहर्ष (रचनाकाल सं0 **1713-1738** वि0), अचलकीर्ति (सं0 **1715** वि0), जोधराज गोदीका (सं0 **1724** वि0), जगतराम (सं0 **1722-1730** वि0), जिनरंगसूरि (सं0 **1731** वि0) भैया भगवतीदास (रचनाकाल सं0 **1731-1755** वि0), शिरोमणिदास (रचनाकाल सं0 **1732** वि0), द्यानतराय (जन्म सं0 **1733**, साहित्यिक काल सं0 **1780** वि0) जिनकी पूजाएं आरतियां और पद अत्यधिक लोकप्रिय हैं, विद्यासागर (रचनाकाल सं0 **1734-1755** वि0), बुलाकीदास (रचनाकाल सं0 **1737-1754** वि0), खेतल (रचनाकाल सं0 **1743-1755** वि0), विनोदीलाल (रचनाकाल सं0 **1750** वि0) औरंगजेब के राज्यकाल में ही हुए हैं। विनोदीलाल का उल्लेख तो मिश्रबन्धु विनोद में भी किया गया है। इस जैन कवि ने भी औरंगजेब की प्रशंसा की है। जैन कवियो के द्वारा औरंगजेब की प्रशंसा भी एक विचारणीय प्रश्न है तथा यह भी एक आश्चर्य की बात है कि औरंगजेब के इतने अन्याय और दमन को सहकर भी किसी कवि की वाणी ने रोष आक्रोश अथवा नैराश्य को स्वर नही दिया। क्या जनमानस इन भावनाओ से शून्य था? अथवा कोई भी कवि अपने युग का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सका? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी घोर नैराश्य की स्थिति मे मानव हृदय पलायनवादी हो जाता है। अत: अपने युग की विभीषिकाओं की ओर से मुख फेरकर कुछ तो युग के प्रवाह के साथ-साथ शृगार की सरिता मे मग्न होने लगे और कुछ तटस्थ होकर आध्यात्मिक रस में लीन हो गये।

इस प्रकार हम देखते है कि तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक, परिस्थितियो का प्रभाव भैया भगवतीदास के साहित्य का स्पर्श नहीं कर पाया। यदि उन पर कोई प्रभाव है तो केवल इतना कि उन्होंने अभिव्यक्ति की कुछ चमत्कारपूर्ण शैलियों को अपनाया है जैसे अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, चित्रकाव्य आदि। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र उन्होंने अपने समय की परिस्थिति विशेष का संकेत मात्र दे दिया है। समय के प्रवाह में न बहकर लीक से हटकर चलना, विरल महान पुरुषों की ही सामर्थ्य होती है। जिस समय जनमानस विलास शृंगार और अश्लीलता के सागर में आकंठ मग्न हो रहा था, कवियों की वाणी नारी के नख शिख वर्णन में ही उलझकर रह गई थी, देव जैसे कवि 'जोगह् तैं कठिन संजोग परनारी को'[34] का राग अलाप रहे

थे और बिहारी जैसे कवि 'प्रिय मिलन के सम्मुख मुक्ति के मुंह में धूल'[35] डाल रहे थे उस समय सरस्वती का यह पुत्र संसार को 'धूमन के धौरहर'[36] के समान क्षणभंगुर बताकर इससे मुक्ति रूपी शिवनारी के वरण की[37] अनेक युक्तियां खोज रहा था। इस सबको देखकर उनके काव्य का महत्व और अधिक हो जाता है। सांसारिकता एवं विलासिता की आंधी में भी हमारी अध्यात्म प्रधान संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने का श्रेय ऐसे ही कुछ महान व्यक्तियों को है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब के उपाख्यान**, पृ0 सं0 6 तथा 19.
2 डॉ0 नगेन्द्र, **रीतिकाल की भूमिका**, पृ0 सं0 1.
3. डॉ0 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, **भारत का इतिहास**, पृ0 सं0 641.
4 यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब**, पृ0 सं0 399
5 ''मेरे निर्जन मैदानो तथा जंगलो में सेना सहित कूच करते रहने के कारण मेरे बहुत से विश्राम प्रिय अधिकारी, जो अपने माता-पिता से भी असन्तुष्ट रहते हैं, मेरे इस उधार के जीवन की समाप्ति की कामना करते है।'' -सर यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब के उपाख्यान**, (उपाख्यान सं0 11) पृ0 सं0 48.
6. सर यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब के उपाख्यान**, पृ0 सं0 11
7 डॉ0 आशीर्वादीलाल, **श्रीवास्तव**, **भारत का इतिहास**, पृ0 सं0 638.
8. डॉ0 आशीर्वादीलाल, **भारत का इतिहास**, पृ0 सं0 712.
9 डॉ0 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, **भारत का इतिहास**, पृ0 सं0 665.
10. यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब**, पृ0 सं0 408.
11. डॉ0 नगेन्द्र, **हिन्दी का वृहत् इतिहास**, षष्ठ भाग पृ0 सं0 7.
12. भैया भगवतीदास, **शत अष्टोतरी**, पृ0 सं0 41.
13. यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब**, पृ0 सं0 405.
14. वही, पृ0 सं0 408.
15. डॉ0 कालिका रंजन कानूनगो, **दारोशिकोह**, पृ0 सं0 151.
16. डॉ0 नगेन्द्र, **हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास**, षष्ठ भाग, पृ0 सं0 10.
17. सर यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब**, पृ0 सं0 413.

18. डॉ0 आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव, **भारत का इतिहास,** पृ0 सं0 625.

19. "नृपति जहां राजै औरंग। जाकी आज्ञा बहै अभंग।।
ईतिभीति व्यापै नहिं कोय। यह उपकार नृपति को होय।।"
-भैया भगवतीदास, **ग्रंथकर्ता परिचय**, छं0 सं0 3

20. डॉ0 प्रेमसागर जैन, **जैन शोध और समीक्षा,** पृ0 सं0 153.

21. यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब,** पृ0 सं0 140.

22. वही, पृ0 सं0 150.

23. सर यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब के उपाख्यान,** पृ0 सं0 9,10.

24. डॉ0 आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव, **भारत का इतिहास,** पृ0 सं0 637.

25. डॉ0 ताराचन्द, **हिन्दुस्तान के निवासियों का इतिहास,** (1949 ई0 वाला संस्करण) पृ0 सं0 234.

26 यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब,** पृ0 सं0 427.

27. भैया भगवतीदास, **मोहभ्रमाष्टक,** छं0 सं0 5

28 डॉ0 ज्योतिप्रसाद जैन, **भारतीय इतिहास की दृष्टि,** खंड 2, पृ0 सं0 511.

29. डॉ0 नगेन्द्र, ***हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास,*** षष्ठ भाग, पृ0 सं0 15

30 भैया भगवतीदास, **सुबुद्धि चौबीसी,** छं0 स0 10.

31 डॉ0 नगेन्द्र, **हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास,** षष्ठ भाग, पृ0 सं0 7

32 यदुनाथ सरकार, **औरंगजेब,** पृ0 स0 425.

33 भैया भगवतीदास, **सुपंथ कुपंथ पचोसिका,** छ0 स0 19.

34. विद्यारत्न पं0 मूलचन्द वत्सल साहित्य शास्त्री, एक सरल कवि (भैया भगवतीदास), **अनेकान्त,** फरवरी सन् 1944 ई0, पृ0 स0 257.

35. "जो न जुगति पिय मिलन, धूरि मुकति मुह दीन।
जो लहिये संग सजन, तै धरक नरक हू कीन।।"
-कविवर बिहारी, **बिहारी-रत्नाकर**, दो0 सं0 75.

36. 'धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै, ये तो छिन माहिं जाहिं पौन परसत ही।'
-भैया भगवतीदास, **पुण्यपचीसिका,** छं0 सं0 17.

37. 'भैया विनवहि बारबारा। चेतन चेत भली अवतारा।।
ह्वै दूलह शिवरानी वरना। एते पर एता क्या करना।।'
-भैया भगवतीदास, **नंदीश्वर द्वीप की जयमाला,** छं0 सं0 25.

अध्याय – 3

कृतियों का परिचय

रूपक काव्य

साहित्य में रूपक शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में होता है। "रूपक के हमारे साहित्यशास्त्र में दो अर्थ हैं, एक तो साधारणतः समस्त दृश्य-काव्य को रूपक कहते हैं, दूसरे रूपक एक साम्यमूलक अलंकार का नाम है, जिसमें प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेद आरोप रहता है। इन दोनों से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत अधुनातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ में रूपक अंग्रेजी के 'एलिगरी' का पर्याय है। 'एलिगरी' एक प्रकार के कथा रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वयर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। हमारे यहाँ इस प्रकार की रचना को प्रायः 'अन्योक्ति' कहा जाता था। जायसी के पद्मावत के लिए आचार्य शुक्ल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अन्योक्ति दोनों अलंकारों का योग है। इसमें जहाँ एक ओर साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ-गूढ़ार्थ रहता है, वहाँ अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर श्लेष, साम्य आदि के आधार पर अभेद आरोप भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक-अलंकार में जहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है, वहाँ कथा-रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। वहाँ एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल, भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत सूक्ष्म सैद्धान्तिक होती है। ..... इस प्रकार, इस विशिष्ट अर्थ में रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्वयर्थक कथा से है जिसमें किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ अथवा अन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है।"[1] पंडित परमानन्द शास्त्री के अनुसार अमूर्तभावों को मूर्त रूप में चित्रण करना ही रूपात्मक साहित्य है। हृदय-स्थित अमूर्तभाव इतने सूक्ष्म और अदृश्य होते हैं कि उनका इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार नहीं हो पाता। परन्तु जब उन्हें रूपक उपमा के सांचे में ढालकर मूर्तरूप दिया जाता है तब इन्द्रियों द्वारा उनका सजीव रूप में

प्रत्यक्षीकरण अथवा साक्षात्कार होता है। उन्होंने इस प्रकार के काव्य का प्रयोजन मनुष्यों को आत्मसाधना की ओर अग्रसर करना ही माना है क्योंकि रागी और विषय वासनाओं में रत आत्माओं पर वैसे कोई प्रभाव अंकित नहीं होता। श्री नेमिचन्द्र जैन शास्त्री ने भी आध्यात्मिक रूपक काव्यों का उद्देश्य ज्ञान और क्रिया द्वारा दु:ख की निवृत्ति दिखाकर लोककल्याण की प्रतिष्ठा करना माना है। वस्तुत: रूपक काव्य में गूढ़ सूक्ष्म और नीरस सिद्धान्तों को कथात्मक शैली में प्रस्तुत करके रोचक और सरस बना दिया जाता है, जैसे-कुनैन की कटुतिक्त गोली शर्करा के आवरण में मधुर बन जाती है।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार रूपक कथा के चार भेद दृष्टिगत होते हैं।

(1) इसमें पात्र भावनाओं, विचारो या सूक्ष्म अशरीरी तत्वों के मानवीकृत रूप होते हैं जैसे संस्कृत में प्रबोध चन्द्रोदय, मोहराज पराजय। प्रसाद का 'कामना' नाटक भी इसी प्रकार का है। ऐसी रूपक कथा में चरित्र-चित्रण, घटनाओ की योजना आदि मे यथार्थता या स्वाभाविकता नहीं होती।

(2) इसमे पात्र मानवीकृत तो नहीं होते पर प्रतीकात्मक अवश्य होते हैं। प्रकृति भावना या सूक्ष्म तत्व का नाम ही पात्र का नाम होता है। ऐसी रूपक कथा में पात्र ही नहीं अधिकांश घटनाएं और वर्ण्य वस्तुए भी प्रतीकात्मक या साकेतिक होती हैं।

(3) इसमे पात्र मानवेतर प्राणी या जड पदार्थ होते हैं। वे पात्र मानव भाषा बोलते, समझते और बातचीत करते दिखाई पडते हैं। पचतंत्र और ईसप की पशु कथाएं (Beast Fables) ऐसी ही हैं। प्रसाद के 'एक घूंट' तथा पंत के 'ज्योत्सना' नाटक मे ऐसी ही रूपक कथाएं है।

(4) जिसमें पात्र और घटनाएं सभी यथार्थ और स्वाभाविक होती हैं परन्तु उसका समग्र प्रभाव गूढ़ार्थ व्यंजक और सांकेतिक होता है। पूरी कथा मानव जीवन से सम्बन्धित किसी सूक्ष्म सत्य या महत्वपूर्ण घटना की ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यह संकेत पूरी कथा के समन्वित प्रभाव में अधिक प्रतिफलित होता है, कथा के अवयवों में उतना नहीं। जायसी के 'पद्मावत' तथा प्रसाद के 'कामायनी' इसी कोटि के काव्य हैं।

भारतीय साहित्य में रूपक परम्परा अत्यंत प्राचीन है। अरूप को रूप देकर विचारों और भावों को अभिव्यक्त करने की परम्परा साहित्य में आदिकाल से चली आ रही है। वैदिक और पौराणिक काल का साहित्य इसी

प्रकार के कथा-रूपकों से भरा हुआ है। रूपकों की गौरवशाली परम्परा को देखकर 'बेवर' आदि विद्वानों ने रामायण के प्रथम श्लोक को उसका सार मानते हुए उसे भी श्रेष्ठ रूपक माना है-

''मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम्।।''

यहाँ बधिक रावण और क्रौंच युगल राम और सीता को माना गया है। संस्कृत में पंचतंत्र की कथाएं तथा पाली में बौद्ध जातक कथाएं भी रूपक साहित्य के ही अन्तर्गत आती हैं।

जैन साहित्य में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में रूपक साहित्य की समृद्ध परम्परा रही है। संस्कृत में पं0 परमानन्द शास्त्री के अनुसार सर्वाधिक प्राचीन रूपक काव्य सं0 962 में सिद्धार्थी द्वारा रचित 'उपमिति भव प्रपंच कथा' है तत्पश्चात् आचार्य अमित गति के द्वारा धर्मपरीक्षा, नागदेव के द्वारा मदनपराजय, प्रबोधचन्द्रोदय, मोहपराजय, ज्ञानसूर्योदय नाटक आदि रूपक ग्रंथ लिखे गये । प्राकृत में कविवर जयराम द्वारा धम्म परिवजा तथा अपभ्रंश मे लाभप्रभाचार्य द्वारा कुमारपाल-प्रतिबोध (रचनाकाल सं0 1241) कवि हरदेव द्वारा मयण पराजय (मदनपराजय) कवि पाहल द्वारा मनकरहा तथा कवि वूचिराज द्वरा मदनजुद्ध हैं।

हिन्दी साहित्य में मध्ययुग में निर्गुणसन्तों ने रहस्यात्मक उक्तियों के लिए रूपक-परम्परा को ही अपनाया। पद्मावत में लौकिक प्रेम द्वारा पारलौकिक प्रेम का सकेत दिया गया है। कबीर का काव्य भी रहस्यमय रूपकों से भरा हुआ है। हिन्दी जैन कवियों ने भी सुन्दर आध्यात्मिक रूपक काव्यों की रचना की है जिनमें कविवर बनारसीदास कृत समयसार नाटक, तेरह काठिया, अध्यात्म हिंडोलना है तथा भैया भगवतीदास कृत चेतनकर्म चरित्र, मधुबिंदुक चौपाई, पंचेन्द्रिय-संवाद आदि अत्याधिक प्रसिद्ध हैं जिनका परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) शतअष्टोत्तरी

प्रस्तुत रचना में भैया भगवतीदास ने एक संक्षिप्त कथानक के माध्यम से आत्मतत्व का सम्पूर्ण ज्ञान अन्तर्निहित कर दिया है। भक्ति भावना से ओत-प्रोत होकर कवि ने सर्वप्रथम पंच परमेष्ठी-अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के प्रतीक चिन्ह ओंकार की वंदना की है, तत्पश्चात् उन षट

द्रव्यों पर विचार किया है जिनसे जैन दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित है। वे षट द्रव्य हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से केवल जीव द्रव्य ही चेतनायुक्त होता है। उसमें अनन्त ज्ञान एवं अनन्त शक्ति अंतर्निहित होती है किन्तु वह स्वयं ही अपने उस स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। अनादि काल से जीव कर्म रूपी मल से संयुक्त होकर इसी अज्ञानावस्था में संसार में भटक रहा है। वह स्वयं को शरीर रूप ही समझता है अतः पांचों इन्द्रियों - स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण की सुख साधना में रत रहता है जो उसे अन्ततः विनाश के गर्त में गिराने वाली सिद्ध होती हैं। फिर भी वह शरीर सुख में रत तथा रागद्वेष आदि भावनाओं में लिप्त रहता है। कवि ने एक रूपक के सहारे जीव और उसकी इस अज्ञानावस्था को स्पष्ट किया है। काया रूपी नगरी मे जीव रूपी राजा राज्य करता है।[2] वह अपनी एक रानी माया पर बहुत अनुरक्त है। राजा चेतन ने देह रूपी नगर का उचित प्रबन्ध करने के लिए मोह को सेनापति (फौजदार) क्रोध को कोतवाल, लोभ को मंत्री (वजीर) बनाया है, किन्तु ये लोग उस नगर की उचित व्यवस्था करने के स्थान पर उसे लूट-लूट कर शासन व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर रहे हैं। उसकी दूसरी रानी सुबुद्धि उसे सचेत करना चाहती है, अतः मधुर शब्दों में राजा चेतन को प्रबोधते हुए वह कहती है कि दासियो (इन्द्रियों) के साथ क्रीड़ा करते हुए तुम्हें कितना समय बीत गया है, आज भी तुम्हें सुधि नही आई। इनके सम्पर्क के कारण ही तो तुमने अनेक कष्ट सहे है, मुझे तो अत्यंत खेद होता है कि सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी होकर भी तुम इतने अज्ञानी बने हुए हो। सुबुद्धि रानी प्रश्न करती है- तुम कौन हो, कहाँ से आये हो किसके रंग मे रंगे हुए हो, किसने तुम्हे भ्रमित किया है- तुम्हें कुछ सुध भी है ? उन दिनों का स्मरण करों जो तुमने अनादि काल से कष्ट सहते हुए व्यतीत किए हैं, तुम तो स्वयं ही सर्वज्ञ हो यह किसने तुम्हें भ्रमित किया है कि तुम तीन लोक के स्वामी होकर भी इतने दीन हीन बने हुए हो। तुमने अनादि काल से अज्ञान और मोह की मदिरा को पी रखा है, इन्द्रियों की सुख साधना में ही सुख मान रहे हो किन्तु ज्ञान की दृष्टि से देखो तो यही दुःख का कारण है। पुद्गल परमाणु से निर्मित यह शरीर तो विनाशशील है और तुम अविनाशी हो फिर तुम और यह एकरूप कैसे हो सकते है तथा इसकी जय पराजय में ही अपनी जय और पराजय मान रहे हो, यह तुमने कैसा मार्ग ग्रहण किया है।[3] इस देह रूपी क्यारी

का अनोखापन देखों! इसमें बोते कुछ और है और उपजता कुछ और है। पंचामृत रस से इसका भरण पोषण करते हैं किन्तु रुधिर और अस्थियाँ निर्मित होती हैं, फिर भी कुछ भरोसा नहीं, कब नष्ट हो जाये तब भी तुम उसे सच्चा माने बैठे हो। सुमति रानी उसे सचेत करते हुए कहती हैं कि चेतन, अनादि काल से तुम सोते चले आ रहे हो, ऐसी नींद कौन सोता है?

"चेतन नींद बड़ी तुम लीनी, ऐसी नींद लेय नहीं कोय।"

बड़ी कठिनाई से यह नर जन्म तुमने पाया है, यह तो चिंतामणि तुम्हारे हाथ आ गई है, अब तो आँखें खोलो जैसे तिल में तेल, फूल में सुगन्धि बसी होती है वैसे ही तुम्हारे भीतर ईश्वरतत्व (सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता) विद्यमान हैं।[4]

कवि रानी सुमति के माध्यम से जीव को भाँति-भाँति से प्रबोधता है। चेतना से युक्त होकर भी तुम अचेतन बने हुए हो सचेत क्यों नहीं होते। और जब यह जीव सचेत हो जाता है, तब सब कुछ परिवर्तित हो जाता है, ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, मोह अज्ञान का अंधकार मिट जाता है, भव भव के बंधन छूट जाते हैं, *वह सम्यग्दृष्टि जीव पंकज के स्वभाव को धारण कर लेता* है अर्थात् पंक में रहते हुए भी कमल उससे असम्पृक्त रहता है, उसी प्रकार वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव स्व और पुद्गल के अन्तर को जान लेता है और पुद्गल (शरीर) की प्रीति छोड़ रागद्वेष के बंधन तोड़ ऊर्ध्वगामी होता है।[5] ज्ञानदशा के प्राप्त होते ही पूर्वकृत कर्मबंधन ऐसे ही छूट जाते हैं जैसे तार्क्ष्य (गरुड़) को देखते ही सर्प अंतर्धान हो जाता है इसीलिये कवि बारंबार जीव को सचेत करना चाहता है। एक सौ आठ कवित्त, सवैया, कुंडलिया, दोहा, सोरठा आदि छंदों में बद्ध इस रचना में कवि ने जैन दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को सरस एवं रोचक शैली में प्रस्तुत किया है।

(2) चेतन कर्मचरित्र

प्रस्तुत रचना भैया भगवतीदास जी का सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक रूपक काव्य है। कथा इस प्रकार है- चेतन रूपी राजा अनादि काल से चतुर्गति (मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरक) रूपी शैया पर सो रहा है शुभकर्म का उदय होने पर उसकी निद्रा खुलती है तो वह देखता है कि अनादि काल से जड़ पदार्थ कर्म मेरे साथ संयुक्त हैं, उसके मन में उन्हें जानने की जिज्ञासा होती है, उसकी दो रानियां हैं सुबुद्धि और कुबुद्धि। रानी सुबुद्धि कहती है कि तुम्हारे संग बलवान योद्धा कर्मशत्रु लगे हुए हैं। राजा इनसे मुक्ति का उपाय पूछता

है। रानी सुबुद्धि बताती है कि या तो निज स्वरूप का चिन्तन करो या भगवान का भजन। इतना सुनकर चेतन राजा तो मौन हो गया किन्तु दूसरी पत्नी कुबुद्धि क्रुद्ध होकर बोली कि यह कुलक्षयनी नारी कौन है? मैं राजा मोह की पुत्री हूँ। राजा चेतन के मुख पर स्मित की एक रेखा खिंच गई, बोले-''अब मेरा हृदय उत्तम गुणों की खान इस सुबुद्धि नारी पर अनुरक्त हो गया है, तुमसे मुझे अब स्नेह नहीं है।'' राजा का स्पष्ट एवं कटु उत्तर सुनकर कुबुद्धि रानी अपने पिता राजा मोह के पास चली गई। पिता ने उसे सांत्वना देते हुए कहा- 'बेटी, तुम मन में दुखी मत हो, मैं राजा चेतन को बंधवाकर अभी तुम्हारे पास बुलाता हूँ। तब राजा मोह ने दौत्य कर्म में निपुण काम कुमार को बुलाकर राजा चेतन के पास भेजा कि उससे जाकर कहो कि अन्यायी और अधर्मी राजा तूने विवाहिता पत्नी को क्यों त्याग दिया है ? या तो आकर उससे क्षमा मागो अन्यथा हमसे युद्ध करने को तैयार हो जाओ।' दूत के द्वारा राजा चेतनराय का दो टूक उत्तर-'अब याको हम परसें नाहि, निजबल राज करे जगमाहि' सुनकर राजा मोह क्रोध से भर उठा और सेनापति लोभ को सैन्य दल तैयार कर राजा चेतनराय को घेरकर बदी बनाने का आदेश दिया। उसके मन्त्री राग और द्वेष ने भी परस्पर परामर्श कर चेतनराय को पराजित करने के अनेक उपाय सुझाये। जीव के ज्ञान गुण को आवृत करने वाले ज्ञानावरण (कर्म) ने कहा कि मेरे पास पांच प्रकार की सेनाएं हैं। (देखिये परिशिष्ट कर्म के अन्तर्गत) जिनका आक्रमण होते ही मनुष्य अपने आत्म ज्ञान को भूल जाता है। दर्शनावरण ने कहा कि मेरे प्रभाव से मनुष्य मोह में अंधा होकर सम्यक् बुद्धि खो देता है। इसी प्रकार मोहिनी, नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय और अन्तराय नाम के सरदारों (अष्टकर्म) ने भी अपनी-अपनी विशेषताएं बताई। इस प्रकार राजा मोह ने अपने समस्त शूरवीरो को एकत्र किया और अपनी अपार शक्ति देखकर अट्ठहास करने लगा, युद्ध की तैयारियां हो गई और राग तथा द्वेष को अग्रिम मोर्चे पर नियुक्त कर राजा मोह की सेना आनन्दमग्न होती हुई रणक्षेत्र की ओर चली। इधर राजा चेतनराय ने गुप्तचरों के माध्यम से जब राजा मोह के आक्रमण की सूचना प्राप्त की तो उसने भी अपने समस्त शूरवीरों को एकत्र किया। ज्ञान ने कहा कि 'राजन निर्भय होकर युद्ध कीजिये और मोह का गर्व चूर कीजिये, विजय निश्चय ही हमारी है।'' राजा चेतनराय ने ज्ञान को आदेश दिया कि अपना सैन्यदल सजाओ। दर्शन चरित्र, सुख वीर्य, स्वभाव, विवेक, उद्यम, सन्तोष, धैर्य, सत्य, उपशम आदि कितने ही सुभट योद्धा एकत्र

हो गये। ज्ञान कहने लगा कि मोह की इतनी शक्ति ही कहाँ है जो उसके लिये इतनी सेना भेजी जाये। किसी एक योद्धा को भेज दीजिये जो उसे पकड़ कर लाये।" ज्ञान के इस कथन को सुनकर राजा चेतनराय राजा मोह की अपार शक्ति का वर्णन करने लगे। "मोह मिथ्यापुर का राजा है उसके रागद्वेष नामक दो मंत्री हैं संशय नाम का उसका अटूट गढ़ है। विषय तृष्णा नाम की भार्याएं हैं क्रोध मान, माया, लोभ चार (कषाय, देखिये परिशिष्ट) शूरवीर सेनापति हैं। उनके हाथ में भ्रम नाम का चक्र है और अनेक कठोर एवं क्रूर भावों के अचूक बाण हैं।" तत्पश्चात् राजा चेतनराय ने यह भी बताया कि राजा मोह ने मुझे भ्रम में डालकर ही अपनी कुबुद्धि नामक पुत्री का विवाह मेरे साथ कर दिया जिसके सम्पर्क में रहकर मैं अनन्तकाल से चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा हूँ। मैंने उसकी प्रेरणा से कौन-कौन से कुकर्म नहीं किये ? इसी ने मुझे जड शरीर का नरेश बना दिया।"[6]

ज्ञान ने कहा हे राजा चेतनराय आपकी शक्ति भी कुछ कम नहीं है, सुखसमाधि नाम का आपका विशाल देश है, अभय नाम का आपका गढ़ है, सुमति क्षमा, करुणा, धारणा आदि सात पटरानियां हैं धर्म जैसे उत्तम धीर वीर भ्राता हैं, अध्यात्म जैसा पुत्र है। सत्य आदि अनेक मित्र और शूरवीर योद्धा आपके साथ हैं, आप किसी एक को आदेश दीजिये जो सैन्य संचालन करे।" राजा चेतनराय ने ज्ञान को ही आदेश दिया कि तुम हमारा प्रतिनिधित्व करो क्योंकि-

"हम तुम मे कुछ अन्तर नाहि, तुम हम में हम हैं तुम माहि।
जैसे सूरज द्युति को धरे तेज सकल सूर्यद्युति करे।
x x x x x
तुम तो सब विधि हो गुण भरे पर अरि से कबहूँ नही लरे।
तातें तुम रहियों हुशियार युद्ध बड़े अरि से निरधार।"

तुमने अभी तक किसी से युद्ध नहीं किया है अत: बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है।"

बहुत विचार विनिमय के पश्चात ज्ञानदेव के सेनापतित्व में चेतनराय की सेना ने और कामदेव के सेनापतित्व में राजा मोह की सेना ने युद्ध क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। युद्ध के नगाडे बजने लगे, शूरवीरों के शरीर मे जागृति आ गई। उसी समय ज्ञान ने विवेक नामक दूत को एक बार पुनः राजा मोह

को समझाने के लिये भेजा कि उससे कहना 'चेतन का पुर छांड़दे जो जीवन की आस' किन्तु राजा मोह कुपित होकर बोला "तुम्हें लज्जा नहीं आती, अनन्तकाल तक तुम चौरासी लाख योनियों में भ्रमते रहे, इतने दिनों तक मैंने तुम्हारा पालन-पोषण किया, आज मुझसे युद्ध कर रहे हो, महा कृतघ्नी दुष्ट मैं तुम सबको क्षणभर में धूल में मिला दूगा।[7] विवेक से राजा मोह की उक्तियां सुनकर ज्ञान हँसा और पूर्ण उत्साह से युद्ध में प्रवृत्त हुआ। चेतनराय के सैनिक संयम का कवच धारण किये हुए थे भयंकर यद्ध छिड़ गया, विवेक ने ध्यान का धनुष लेकर ऐसा प्रहार किया कि राजा मोह के सात महत्वपूर्ण योद्धा-अनन्तानुबधी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक मिथ्यात्व तथा सम्यक प्रकृति मिथ्यात्व मूर्छित होकर धराशायी हो गये और अव्रत पुर (चतुर्थ गुणस्थान-देखिये परिशिष्ट) राजा मोह के अधिकार से निकल गया। सातो योद्धाओं की मृत्यु का शोक मनाते हुए राजा मोह की सेना देशविरतपुर (पचम गुणस्थान) में छिपकर बैठ गई कि अव्रतपुर पर किस प्रकार अधिकार करें। राजा मोह ने मंत्र शक्ति से अपनी सेना के सातों योद्धाओं को जीवित कर लिया तथा सुदढ़ करके पुनः संदेशा भेजा और दोनो पक्षों के मध्य भयंकर युद्ध होने लगा-

"रण सिगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहि करहि महा दोउ जुद्ध।।
इत जीव हंकारहि, निजपरवारहि, करहु अरिन को रूद्ध।।"

मोह ने राग के बाण खीचकर जीव को मारे, खड्ग से पाप पुण्य के वार किये, *अतिध्यान का चक्र हाथ मे ले लिया और जीव वीतारागता के बाणो से प्रहार* करता हुआ, धर्म ध्यान की ओट लेकर, दयालुता की ढाल पर वार बचाता रहा। युद्ध में चेतनराय की विजय हुई। देशविरतपुर में राजा चेतन का अधिकार हो गया राजा मोह ने छल प्रपच से काम लिया। राजा चेतन की सेना में अपने कुछ सैनिक छिपा दिये किन्तु फिर भी उसकी एक न चली। राजा चेतन अनेक नगरो पर विजय प्राप्त करता हुआ नवमपुर (नवम् गुणस्थान-अनिवृत्तिकरण) में जा पहुँचा। अब राजा मोह की सेना पर्याप्त मात्रा में छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। सूक्ष्म साम्पराय नगर (दसवा गुणस्थान) मे पहुँचकर चेतनराय की सेना ने राजा मोह का एक और योद्धा लोभ कुमार मार गिराया। उपशान्त नगर (ग्यारहवा गुणस्थान) मे पहुँच कर राजा मोह के छिपे हुये सैनिकों को भी हत कर दिया गया। अब राजा मोह शक्तिहीन होकर इधर-उधर छिपने का प्रयास

करने लगा। द्वादश नगर (क्षीण कषाय, बारहवां गुणस्थान) में पहुँचकर राजा चेतन ने राजा मोह का पटक-पटक कर अन्त कर दिया। तत्पश्चात् वह सयोग केवली (तेरहवां गुणस्थान) को पार करते हुए अयोग केवली नगर (चौदहवें गुणस्थान) में पहुँचकर अनन्तकाल के लिये निष्कंटक और अखंड राज्य करने लगा।

इस प्रकार इस रचना में अपने विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए जीव के मोक्ष तक पहुँचने में सफल प्रयास को अत्यंत रोचक कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवि ने दर्शन के गूढ़ तथा नीरस सिद्धान्तों को जन-सामान्य के लिये भी कथा के सरस आवरण में लपेटकर ग्राह्य बना दिया है। प्रस्तुत रचना 296 दोहा, चौपाई, सोरठा, पद्धरि, करिखा, मरहठा, आदि छंदों में बद्ध है तथा इस कृति की रचना कवि के द्वारा ज्येष्ठ कृष्ण सप्तमी गुरुवार सम्वत् 1736 को की गई।

(3) गुरु शिष्य चतुर्दशी (प्रश्नोत्तर)

इस लघु रचना में कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक तथ्यों को रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। एक शिष्य गुरु से कुछ प्रश्न करता है कि मैंने एक बहुत ही आश्चर्य की बात सुनी है कि एक नगर में एक राजा रहता है, जो शत्रुओ के बीच छिपा हुआ है, वहाँ सब नीच लोग राज्य करते हैं और वह उन्हीं के अधीन है। बदी के समान है। उसने अपनी परिणीता पत्नी को त्याग दिया है और दासी में अनुरक्त है, कृपा करके बताइये ये सब कौन हैं ? तब गुरु उसका समाधान करते है, काया नगरी में राजा जीव है किन्तु वहाँ अष्टकर्मो का ही जोर है। राजा ने अपनी कुलनारी सुमति को तो त्याग दिया है और अज्ञान दासी मे ही अनुरक्त है। कितने खेद की बात है कि उसने पराधीन होकर अपने स्वत्व को ही खो दिया है-

"आप पराये वश परे, आपा डारयो खोय।
आप आपु न जानहीं, कहो आपु क्यों होय।।"

यह रचना चौदह दोहा छंदों में निबद्ध है।

(4) मधुबिन्दुक चौपाई

मधुबिन्दुक चौपाई भैया भगवतीदास जी का एक अन्य श्रेष्ठ आध्यात्मिक रूपक कथा काव्य है। जीव अनादिकाल से इस विश्व में भ्रमण कर रहा है, वह विषय सुख को ही सच्चा सुख माने हुए है। इन्द्रियों के प्रलोभनों की

घटाओं ने आध्यात्मिक चिरन्तन सत्य के सूर्य को आच्छादित कर लिया है और मानव उनमें इतना लिप्त है कि उनसे मुक्त होना ही नहीं चाहता। इसे सिद्ध करने के लिये कवि ने एक भव्य जीव (वे जीव जिनमें मोक्ष प्राप्ति की सामर्थ्य है) के पौराणिक आख्यान का आश्रय लिया है। एक दिन एक मुनिराज ने एक प्रश्न के उत्तर में एक कथा सुनाई-''एक पुरुष वन में मार्ग भूलकर भटक गया, महा भयानक अरण्य था वह, चारों ओर सिंह की गर्जना थी। वह इधर-उधर छिपने का प्रयास करने लगा इतने में एक उन्मत्त गज उसकी ओर दौड़ा, वह एक वट वृक्ष की शाख पकड़कर लटक गया। नीचे एक अन्धकूप था जिसमें भयंकर अजगर मुँह फैलाये हुए बैठा था, चारों कोनों में चार नाग बैठे हुए थे, उसने घबरा कर ऊपर देखा तो दो चूहे (एक काला, एक सफेद) उसी शाखा को काट रहे थे जिस पर वह लटका हुआ था। ऊपर एक मधुमक्खियो का छत्ता था। इतने में गज आकर वृक्ष के तने को झकझोरने लगा, जिससे मधुमक्खियो का समूह उड़कर पुरुष को काटने लगा और साथ ही छत्ते से मधु की एक बूँद टपक कर उसके मुख में आ गिरि, मानव सभी विपत्तियों को भूलकर मधु के आस्वादन में निमग्न हो गया। दैवयोग से उसी समय एक विद्याधर युगल उसी मार्ग से जा रहा था, विपत्तिग्रस्त इस मनुष्य को देख वे दोनों ठहर गये, पत्नी के आग्रह पर विद्याधर ने उसका उपकार करना चाहा, किन्तु बार-बार सावधान करने पर भी वह मनुष्य यह कहता रहा बस यह बूँद और चख लूँ फिर चलूँगा। अबकी बार मैं अवश्य आ जाऊँगा।

''एक बूँद छत्ता सो खिरै। सो अबके मेरे मुख गिरै।।
ताको अबही चख सरवग। तब मैं चलूं तुम्हारे संग।।
जब वह बूँद दरी मुख माहि। तब दूजी पर मन ललचाहिं।।''

अन्ततः विद्याधर चला गया। शिष्यों के कहने पर अन्त में मुनिराज इस दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं यह संसार ही महावन है जिसमें भवभ्रम कूप हैं। काल ही गज के रूप में मानव जीवन को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील है। वट वृक्ष की शाखा आयु है जिसे रात्रि और दिवस रूपी दो चूहे काट रहे हैं, मानव पर मडराने वाली मधुमक्खियाँ उसके रोग है, अजगर निगोद (देखिये परिशिष्ट) है तो चारों नाग चार गतियों के प्रतीक हैं, मधु की बूँद विषय वासनाएं अथवा सांसारिक सुख है जिसके आस्वादन में मुनष्य लिप्त रहता है विद्याधर सदगुरु के समान हैं।

इस प्रकार कवि ने इस रूपक कथा के माध्यम से संसार, काल तथा

विषय वासनाओं के मध्य उलझे हुए जीव की दशा को व्यक्त किया है। इस काव्य का समापन सम्वत 1740 में मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की द्वादशी भौमवार को हुआ। प्रस्तुत रचना 60 दोहा चौपाई और सोरठा छंदों में बद्ध है।

(5) नाटक पचीसी

इस प्रस्तुत रचना में कवि ने जीव का एक नट (अभिनयकर्ता) के साथ रूपक बांधा है। तीन लोक नाट्य भवन है, इस नाट्यशाला का मोह निदेशक है और जीव अभिनेता है। यह जीव सारे संसार में देव नरक तिर्यँच तथा मनुष्य गति में विभिन्न रूप धारण करता हुआ भ्रमण कर रहा है। कभी एकेन्द्रिय स्थावर जीव कभी वनस्पति काय आदि का रूप धारण करता है तो कभी किसी पशु पक्षी का रूप, कभी मनुष्य रूप में स्वांग करता है तो कभी देव रूप में। इस नाटक में सब कुछ अभिनय ही अभिनय है, सारवस्तु कुछ नही है।

प्रस्तुत रचना पच्चीस दोहा छंदों में निबद्ध है।

(6) उपादान निमित्त संवाद

प्रस्तुत रचना में कवि ने उपादान और निमित्त को दो पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है, दोनों पात्र एक दूसरे के तर्कों का खंडन करके अपनी-अपनी महत्ता को स्थापित करना चाहते हैं। उपादान से तात्पर्य आत्मा की शक्ति से है और निमित्त बाह्य सयोगों को कहते हैं। जिस प्रकार दही के जमने में दूध उपादान है और छाछ निमित्त। निमित्त कहता है कि बिना मेरे आत्मा का उद्धार नही हो सकता। अर्थात् जीव को यदि साधु आदि गुरु अथवा शास्त्रों का सम्पर्क प्राप्त न हो तो उसका उद्धार नहीं हो सकता-

"देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।
इहि निमित्त ते जीव सब, पावत हैं भव पार।।"

उपादान निमित्त के इस तर्क का खंडन कर देता है। वह कहता है कि यह निमित्त तो जीव को मिलते ही रहते हैं तब भी जीव संसार में भटकता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष क्यों नहीं चला जाता। निमित्त अपनी महत्ता सिद्ध करने के लिये अनेक तर्क प्रस्तुत करता है। वह कहता है प्रकाश के बिना नेत्र देख नहीं पाते अत: प्रकाश देने वाले सूर्य, सोम मणि का महत्व स्वत: सिद्ध है-

"सूर सोम मणि अग्नि के, निमित्त लखै ये नैन।
अंधकार में कित गयो, उपादान दृग दैन।।"

उपादान निमित्त के इस तर्क का भी खंडन कर देता है, कहता है-

"सूर सो मणि अग्नि जो, करै अनेक प्रकाश।
नैन शक्ति बिन न लखै, अंधकार सम भास।।"

अर्थात् यदि नेत्रों में अपनी निज की शक्ति नहीं है तो कितना ही प्रकाश क्यों न हो, नेत्र देख नहीं सकते। इस प्रकार उपादान निमित्त के समस्त तर्कों का खंडन कर शास्त्रार्थ में विजयी सिद्ध हो जाता है, निमित्त पराजित हो जाता है।

यद्यपि उपादान और निमित्त दर्शन के क्षेत्र की विचारधारा है किन्तु कवि ने इसको दो पात्रों के परस्पर वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत कर रचना में पर्याप्त रोचकता का समावेश कर दिया है। 47 दोहा छंदों में निबद्ध इस कृति की रचना कवि ने आगरा नगर मे सवत् 1750 के फाल्गुन के प्रथम पक्ष मे की।

(7) पंचेन्द्रिय-संवाद

पंचेन्द्रिय सवाद भी भैया भगवतीदास का एक अत्यंत सुन्दर आध्यात्मिक रूपक काव्य है। इसमे पाँचों इन्द्रियो तथा मन का मानवीकरण किया गया है। आँख, नाक, कान जिह्वा तथा स्पर्शेन्द्रिया परस्पर संलाप द्वारा अपनी महत्ता का वर्णन करती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियो के महत्व का निराकरण और तिरस्कार तथा अपनी गुरुता का प्रतिपादन करती है। इसका कथानक इस प्रकार आरम्भ होता है-एक दिन एक सुरम्य उद्यान मे एक मुनिराज भव्य जीवों को धर्म का उपदेश दे रहे थे, व्याख्यान मे उन्होने कहा कि पाँचो इन्द्रियां बहुत दुष्ट है, इनको जितना ही पुष्ट किया जाए उतना ही दुख देती है। इस पर एक विद्याधर इन्द्रियो का पक्ष लेकर कहने लगा कि इन्द्रिया दुष्ट नहीं है, इनकी बात इन्ही के मुख से सुन लीजिये।

पाँचों इन्द्रियां बोली "हमसे ही तो जप तप और सयम नियम का पालन होता है और आचरण का निर्वाह भी हमारे द्वारा ही होता है, आप हमें दोष क्यो देते हैं ? मुनिराज जी ने कहा 'तुम मे से जो सरदार' अर्थात् प्रधान हो वह अपनी महत्ता बताये।"

सर्वप्रथम नाक ने बोलना आरम्भ किया-मै ही सबसे बड़ी हूँ, नाक मनुष्य के सम्मान और प्रतिष्ठा की प्रतीक है, उस ही भाव को लेकर वह कहती है कि-

"नाक कहै जगहूँ बड़ो, बात सुनो सब कोई रे।।
नाक रहे पत लोक में, नाक गये पत खोई रे।।"

नाक और पत अर्थात् प्रतिष्ठा यहाँ समानार्थी हो गये है। नाक रखने के हेतु ही बाहुबलीजी ने राज्य त्यागकर दीक्षा धारण की थी, राम ने रावण से युद्ध किया था, सीता ने अग्नि में प्रवेश किया था। संसार के गंध सम्बन्धी सभी प्रकार के आनन्द मेरे द्वारा प्राप्त होते हैं।

नाक की इस आत्म प्रशंसा को कान सहन न कर सके, बोले- ''तू क्यों इतना अभिमान करती है ? जो नौकर चाकर आगे-आगे चलते हैं वे राजा के समान नहीं हो जाते। तू इतनी घृणित है कि तुझमें से रात-दिन श्लेष्मा बहती है। तेरी छींक किसी भी उत्तम काज में बाधक बन जाती है। वृषभ और नारी आदि जीवों को देख! तेरा छेदन किया जाता है तब भी तुझे लाज नहीं आती और मुझे देख, मैं जिनेन्द्र भगवान की वाणी को सदा चित्त लगाकर सुनता हूँ जिससे जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। छहों द्रव्यों के गुण सुन विशद ज्ञान को धारण मैं ही करता हूँ। नेमिनाथ जी ने पशुओं का करुण क्रन्दन सुनकर ही विवाह के स्थान पर वैराग्य धारण कर लिया था, और उनकी भविष्यवाणी सुनकर ही द्वारिका भस्म होने से पूर्व अनेक जीव सुरक्षित बच सके थे।''

कान की इस आत्मश्लाघा को सुनकर चक्षु इन्द्रिय बोली ''मल का समूह भीतर धारण करके भी तुझे लाज नहीं आती और इतना अहंकार करता है। तेरे बराबर तो दुष्ट कोई है ही नहीं, तू ही बुराई भलाई सुनकर पारस्परिक प्रेम को तोड डालता है और राग द्वेष को उत्पन्न करता है। तेरी ही कृपा से बहुधा जीव नरक में जाता है। इसीलिये तो नर नारी के कानों को बेधा जाता है। कानों की सुनी बात तो प्राय: झूठी है किन्तु मेरे द्वारा देखी बात मे कोई संशय ही नहीं रह जाता। मेरे माध्यम से ही तीर्थंकरों के मनोहर रूप को देखा जाता है।[8] आँखों से देख कर ही सिद्धान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया जाता है।''

चक्षु इन्द्रिय की आत्म प्रशंसा को रसना इन्द्रिय और न सुन सकी, बोल उठी- ''अरी तुझे काजल से रँजित होकर भी लाज नहीं आती ? इतना अभिमान करती है ? तेरी ही कृपा से सुन्दर रमणियां अपने सलोने रूप से साधु मुनियो को भ्रष्ट करती हैं। तेरे दोष कहाँ तक गिनाए जायें ? और मैं-मैं ही षट्रस व्यंजनों का स्वाद लेती हूँ और सारे परिवार (शरीर के) का पालन-पोषण मैं ही करती हूँ। मेरे बिना न आँख देख सकती है न कान सुन सकते हैं। एक जिह्वा से ही संसार को अपना मित्र बनाया जा सकता है। जिह्वा से ही सातों स्वरों का गायन तथा ग्रथों का पठन-पाठन सम्भव है।

जिह्वा के लाभ कहाँ तक गिनाएं जाएं?

"कैंते जिय मुक्ति गये जी, जी महि के परसाद।।

नाम कहाँ लों लीजिये जी, भैया बात अनादि।।"

रसना की बात को बीच ही में काटकर स्पर्शेन्द्रिय बोली-इतना गर्व क्यों करती है? तेरे द्वारा कहे गये कर्कश वचन ही राजाओं में परस्पर युद्ध करा देते हैं, तेरे अवगुणों का तो पार ही नहीं है,-

"तो मे तो अवगुण घने, कहत न आवै पार।।

तो प्रसाद ते सीस को, जात न लागै बार।।"

आँख, नाक, कान सबका गर्व झूठा है। तुम सबको धारण करने वाले जीवो की संख्या तो शंख या महाशख ही होगी लेकिन मैं अनन्त जीवों को धारण करती हूँ। तुम सब मेरे ही अधीन हो। बिना मेरे तप किये मुक्ति नही हो सकती मुनिराज मेरे द्वारा ही बाईस परीषह सहते है। मेरे बिना कोई क्रिया नहीं और क्रिया बिना कोई सुख नही अत: मैं ही सब में मुख्य हूँ।

तब ही मन बोल उठा--"अरी स्पर्शेन्द्रिय तू बहुत मूर्ख है जो झूठा गर्व करती है, एक अंगुल का शरीर, तब भी 96 वे रोगो से भरपूर रहता है। पाँच पापों (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) का पोषण तेरे ही द्वारा होता है, तेरा क्षय होते क्षण भी नही लगता। अत: मै ही सबसे बड़ा और महान हूँ-

"मन राजा मन चक्रि है, मन सबको सिरदार।।

मन सो बड़ों न दूसरो, देख्यो इहि ससार।।"

पाँचो इन्द्रियो तथा मन का वाद-विवाद सुनकर मुनिराज जी बोले-मन। क्यो गर्व करता है? सर्वाधिक पापी तो तू ही है। इन्द्रियाँ तो स्थिर भी रहती है लेकिन तू तो अत्यधिक चंचल है, रात दिन इधर-उधर दौड़ता रहता है क्षण भर को भी स्थिर नही होता, कर्मबधन का कारण तो तू ही है।[9] यदि तू परमात्मा का ध्यान करे तो संसार से पार हो जाये और परमात्मा वही है जिसमे रागद्वेष की भावना नही है।

इन्द्रियों की मैत्री करके जीव जन्म मरण आदि के अनेक दु:ख सहता हुआ भव में भ्रमण करता रहता है, कभी भी छूट नहीं पाता। इन्द्रियों के वश होकर ही जीव संकट मे पड़ जाता है। भौरा नाक के कारण कमल में बन्द होकर तथा कांटों में बिधकर मृग तथा अहि कानो के कारण ही बंधन में पड़कर, पतग चक्षु के कारण अग्निशिखा में जलकर इसी बात को सिद्ध करते हैं। अत: इन्द्रियों को वश में करके तथा चारों कषाय (क्रोध, मन, माया,

लोभ) को दूर करके मन शिव सुख सम्पति को प्राप्त कर सकता है और इस भव सागर से पार पा सकता है। हृदय में इस बात की अनुभूति कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इससे भिन्न शुद्ध आत्मा हूँ परमात्मापद की प्राप्ति का प्रथम चरण है।

इस रूपक कथा काव्य में पाँचों इन्द्रियों तथा मन के वाद-विवाद और संवाद बहुत ही स्वाभाविक और रोचक हैं। प्रत्येक इन्द्रिय कुशल तर्कशीला है। कवि ने अत्यंत मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। प्रारम्भ में सभी इन्द्रियाँ एक हैं व समूह में अपनी महत्ता बताती हैं किन्तु मुनिराज के यह कहते ही कि तुम में जो सबसे प्रमुख है वही सब बात कहे, सब इन्द्रियाँ अपने आपको प्रधान सिद्ध करने के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करने लगीं। आक्रमण और प्रत्याक्रमण होने लगे, सबके दोष सामने आने लगे।

प्रस्तुत काव्य 152 दोहा छंदों में बद्ध है। इसकी समाप्ति संवत् 1751 में आगरा में भाद्रपद सुदी द्वितीया को हुई थी।

(8) मनबत्तीसी

प्रस्तुत रचना मे कवि ने मन की महत्ता बताई है। मानव के सब अंगो मे मन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है वही सब तत्वों का अनुसंधाता है, वही ब्रह्म का ध्याता है, वही शिवपद को प्राप्त करने वाला है। उसके शुद्ध होते ही वह ससार सागर से पार हो जाता है और उसके मोह माया में लीन होते ही जीव की गति बिगड़ जाती है। अतः कवि ने मन को राजा के रूप में अंकित किया है। मन रूपी राजा की ही समस्त कर्म, कषाय आदि उसकी सेनाएं हैं, इन्द्रियाँ उसकी उमराव (सरदार) हैं, वह रात दिन इधर-उधर दौड़कर अन्याय करता और करवाता है।[10] जिसने मन रूपी योद्धा को जीत लिया वही संसार में वास्तविक विजयी है वही मुक्ति को प्राप्त करता है।

मन के समान मूर्ख भी संसार में और कोई नहीं है जो सुख के सागर को छोड़कर विषय के वन में भटकता है। छहों खंड के राजाओं को भी जीत कर जिसने अपना दास बना लिया किन्तु एक अपने मन को न जीत सका वह नरक का दुःख सहता है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य के मध्य में रहकर भी मनुष्य विरागी रह सकता है और एक रंक भी संसार में लिप्त रह सकता है क्योंकि सारा महत्व भावनाओं का है, इनसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बंध होता है-

"भावना ही तै बंध है, भावन ही तैं मुक्ति।
जो जाने गति भाव की, सो जानै यह युक्ति।।"

रचना के अंत में कवि ने बाहय आडम्बरों की भर्त्सना की है। तीर्थाटन से, नाम जपने से, सिर मुंडाने से, गंगा स्नान से अथवा कथा सुनने से क्या होता है यदि मन वश में नहीं है।

इस प्रकार इस काव्य मे मन को राजा के समान बताकर उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया गया है। प्रस्तुत कृति आगरा नगर में कवि के द्वारा 34 दोहा चौपाई तथा अरिल्ल छंदो में बद्ध की गई।

(9) स्वप्न बत्तीसी

प्रस्तुत रचना मे भैया भगवतीदास जी ने दर्शन के विषय को रूपक की शैली में प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने मोह ग्रस्त जीव को एक सोते हुए व्यक्ति के समान बताया है और ससार को स्वप्नवत बताया है मानव स्वप्न में देखी हुई वस्तुओ को सत्य समझता है, उनमें लिप्त हो जाता है किन्तु स्वप्न के टूटते ही वह ससार भी लुप्त हो जाता है। वह इतनी गहन मोह-निद्रा मे लीन है कि यह जानते हुए भी कि इस संसार में कुछ ही दिनों के लिए रहना है फिर भी मै और तू-राग और द्वेष की परिणति मे पडकर अपने लिए संसार का सृजन कर लेता है।

निद्रावस्था मे प्राणी वास्तविकता को नही देख पाता, जो कुछ भी वह उस समय देखता है, असत्य होता है किन्तु उस समय सत्य सा प्रतीत होता है। यही अवस्था संसार मे मनुष्य की होती है-

''आँख मूंद खोले कहा, जागत कोऊ नाहि।।
सोवत सब ससार है, मोहगहलता माहिं।।''

सारा ससार ही मोह रूपी निद्रा में लीन है, इसलिये मूर्ख प्राणी इस भव का अन्त नही पाता। जो प्राणी इस मोह रूपी निद्रा को त्यागकर सचेत हो जाता है वही अविनाशी पद ब्रह्म को धारण कर अनन्त सुख की प्राप्ति करता है और संसार रूपी सागर को पार कर लेता है।

मानव की मूर्खता तो देखो स्वप्न में देखी सम्पदा पर अभिमान करता है किन्तु जब यमराज अपनी प्रचंड सेना लेकर आता है तब क्षण भर में धराशायी कर देता है। यमराज भी जिससे डरता है तू उसके चरणों में मन लगा और परमपद को प्राप्त कर। प्रस्तुत रचना 34 छंदों में निबद्ध है तथा इसकी रचना कवि के निवास-स्थान आगरा में हुई है।

(10) सुआबत्तीसी

सुआबत्तीसी भी भैया भगवतीदास जी का एक आध्यात्मिक रूपक काव्य है जिसमें आत्मा का शुक के रूप में रूपक बांधा गया है। शुक की एक प्रसिद्ध लोक कथा को इस काव्य में आधार बनाया गया है। रूपक इस प्रकार है कि आत्मा रूपी शुक को सद्गुरु उपदेश देता है कि वह कर्मरूपी वन में भूलकर भी प्रवेश न करें क्योंकि वहाँ लोभ रूपी नलिनी ने मोह रूपी धोखा देने के लिए विषय सुख रूपी अन्न को संजो रखा है। यदि भूल से वहाँ चला भी जाये तो उस पर बैठे नहीं, यदि बैठ जाये तो दृढ़ भाव से ग्रहण न करे, यदि ग्रहण भी कर ले तो उस सबको छोड़कर उड़ जाये। गुरु से निशदिन यह पाठ पढ़ने वाला आत्मरूपी शुक एक दिन गुरु की संगति छोड़ वन को उड चला और वहाँ जाकर विषय वासनाओं मे आसक्त होकर फंस गया-

"बैठो लोभ नलिन पै जवै। विषय स्वाद रस लटके तवै।।
लटकत तरै उलटि गये भाव। तर मुंडी ऊपर भये पाव।।"

तब उसे गुरु उपदेश का स्मरण आता है, और एक दिन अवसर पाकर वह भाग खडा होता है, वह वन में भटक ही रहा था कि वहाँ एक साधु धर्म देशना कर रहे थे-

"यह संसार कर्मवन रूप। तामहि चेतन सुआ अनूप।।
पढ़त रहै गुरु वचन विशाल। तौहु न अपनी करै संभाल।।"

शुक ने यह सब सुना और मन में कहने लगा यही सब तो मेरी दशा है। ये ही सच्चे गुरु संसार रूपी सागर से पार उतारने वाले हैं। शुक गुरु की गुण स्तुति करने लगा, घट के पट खुल गये, "मैं चेतन के सभी गुणों से युक्त होकर भी परद्रव्यों में आसक्त रहा।" कर्मरूपी कलंक सब झर गये, दिन पर दिन वह शिवरूप होता गया।

इस रूपक कथा के माध्यम से कवि ने स्पष्ट किया है कि पुरुष विषय-सुखों में आसक्त होकर आत्मस्वरूप और अपने लक्ष्य को भूल जाता है और अनेकानेक प्रकार के सांसारिक कष्ट भोगता है। इस काव्य में कवि ने गुरु के महत्व को भी स्वीकार किया है। सच्चे गुरु के मार्गदर्शन के बिना जीव का कल्याण हो नहीं पाता।

पूरा काव्य दोहा और चौपाई छंद में बद्ध है इसमें 34 छंद हैं। अन्तिम दो छन्दों में कवि ने मानव को सुआबत्तीसी सुनकर आत्म कल्याण का संदेश दिया है। संवत् 1753 आश्विन कृष्ण दशमी को इस काव्य की समाप्ति हुई।

दर्शन-प्रधान रचनाएं

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने हृदय में सुख की उत्कट कामना रखता है। दु:ख से निवृत्ति तथा सुख की अक्षय प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य रहता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अनादि काल से वह साधना-यात्रा करता चला आ रहा है। युग-युग की साधना के पश्चात् संसार के सर्वाधिक प्रबुद्ध प्राणी मानव ने अनुभव किया कि अक्षय सुख की प्राप्ति सांसारिक उपकरणों से सम्भव नहीं है, यदि वह सम्भव है तो केवल आध्यात्मिकता तथा धर्म से। आध्यात्मिकता अर्थात् आत्मा सम्बन्धी तत्वों का ज्ञान ही दर्शन है। श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार, ''दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है- दृश्यते अनेन इति दर्शनम्-जिसके द्वारा देखा जाय। कौन पदार्थ देखा जाय ? वस्तु का सत्यभूत तात्विक स्वरूप क्या है ? हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? इस सर्वतो दृश्यमान जगत का सच्चा स्वरूप क्या है ? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? ...... आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रधान ध्येय है।''[11] मनीषियो ने आत्मासाक्षात्कार करके जिस सत्य के दर्शन किये वही 'दर्शन' है।

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है। आत्मा का स्वभाव है अक्षय सुख की प्राप्ति, जो इस संसार से मुक्त होकर ही उपलब्ध हो सकती है। इसी लक्ष्य की सिद्धि हेतु जीवात्मा इस संसार में भटक रहा है। अत: जो तत्व इस सिद्धि मे जीव का सहायक हो सकता है वही धर्म है। पं0 कैलाशचन्द शास्त्री के अनुसार[12] ''जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस मुक्ति की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। चूँकि आचार या चरित्र से इनकी प्राप्ति होती है इसलिए चरित्र ही धर्म हैं। इस प्रकार धर्म शब्द से दो अर्थों का बोध होता है, एक वस्तु स्वभाव का और दूसरे चारित्र या आचार का। इनमें से स्वभाव रूप धर्म तो क्या जड़ और क्या चेतन, सभी पदार्थों मे पाया जाता है.... किन्तु आचार रूप केवल चेतन आत्मा में ही पाया जाता है। इसीलिए धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। प्रत्येक तत्वदर्शी धर्म-प्रवर्तक ने केवल आचार रूप धर्म का ही उपदेश नहीं किया किन्तु वस्तु स्वभाव रूप धर्म का भी उपदेश दिया है जिसे दर्शन कहा जाता है। इसी से प्रत्येक धर्म अपना एक दर्शन भी रखता है। दर्शन में, आत्मा क्या है ? परलोक क्या है ? विश्व क्या है ? ईश्वर क्या है ? आदि समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है और धर्म के द्वारा आत्मा को परमात्मा

बनने का मार्ग बतलाया जाता है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन धर्म का सैद्धान्तिक अथवा ज्ञानात्मक पक्ष है, भक्ति धर्म का भावात्मक पक्ष है तो धर्म दर्शन का व्यावहारिक रूप है।

धर्म, दर्शन और साहित्य का संगम आदिकाल से होता चला आ रहा है। साहित्य के आदि ग्रंथ वेद हिन्दू धर्म और दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। वस्तुत: प्रारम्भ में ऋषि और मनीषी जो कुछ आत्मसाक्षात्कार करते थे उसी को साहित्य के रूप में सृजित करते थे अत: संस्कृति के आदि काल में साहित्य और दर्शन एक रूप थे, दर्शन काव्य था तो साहित्य उसका वाचक। अत: दर्शन धर्म और साहित्य के समन्वित रूप की धारा आदिकाल से अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

हमारे देश में दर्शन प्रधान साहित्य की परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है। वेद, पुराण, स्मृतियां आदि हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथ हैं, जो सस्कृत में लिखित है। पाली भाषा बौद्ध साहित्य से समृद्ध है तो प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में जैन साहित्य का विपुल भंडार है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में नाथ और गोरखपंथियों का साहित्य तथा भक्तिकाल का लगभग सम्पूर्ण साहित्य किसी न किसी धर्म और दर्शन से सम्बन्धित है। हिन्दी जैन साहित्य अत्याधिक महत्वपूर्ण एवं समृद्ध होते हुए भी हिन्दी इतिहासकारों द्वारा उपेक्षणीय बना रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ0 रामकुमार वर्मा जैसे मूर्धन्य साहित्यकार एवं आलोचकों ने इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई स्थान नहीं दिया और धार्मिक साहित्य कहकर उसकी उपेक्षा कर दी। किन्तु धार्मिकता इतना बड़ा दोष नहीं जिसके कारण किसी रचना को साहित्य की परिधि से ही बाहर कर दिया जाये। यदि ऐसा ही मान लिया जाये तो साहित्य के बहुत से ग्रंथ अपने महत्वपूर्ण पद से वंचित हो जायेंगे। इस तथ्य पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि गई। उन्होंने ही सर्वप्रथम घोषणा की "स्वयंभू, चतुर्भुज, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित-मानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।.... बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिये लोक कथाओं का आश्रय

लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्ण तक अविछिन्न भाव से चली आई है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथो को साहित्य सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भो नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा।[13]

अत: दर्शन प्रधान अथवा धार्मिक रचनाओं को साहित्य की सीमा से निष्कासित नहीं किया जा सकता।

प्राय: इस प्रकार की विभाजन रेखा खींचना कठिन है जिससे दर्शन प्रधान, उपदेशात्मक, रूपक कथा आदि साहित्य को पृथक-पृथक विभागों में विभाजित किया जा सके क्योंकि एक ही रचना में कुछ दार्शनिक सिद्धान्त भी होते हैं, उपदेशात्मकता भी होती है और कभी उसे रूपक शैली में भी प्रस्तुत किया जाता है। ऐसी स्थिति में प्रमुखता पर ही दृष्टि रखी जाती है। जिस प्रवृत्ति की प्रधानता दृष्टिगत होती है उसे उस ही कोटि में रख दिया जाता है। भैया भगवतीदास की रचनाओ को इसी आधार पर वर्गीकृत करके इस अध्याय में उनकी दर्शन-प्रधान रचनाओ का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) गुणमंजरी-

भैया भगवतीदास ने इस रचना में सर्वप्रथम पचपरमेष्ठी को नमस्कार कर उनके गुण रूपी मंजरियों का विस्तृत वर्णन किया है। जैन सिद्धान्त के अनुसार सम्यक दर्शन ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग स्वीकृत किया गया है इसीलिए इनको त्रिरत्न या 'रत्नत्रय' भी कहते है। इन्ही त्रिरत्न का कवि ने वृक्ष के साथ रूपक बाधा है-

"ज्ञान रूप तरू ऊगियो सम्यक् धरती माहि।
दर्शन दृढ़ शाखा सहित, चारित दल लहकाहि।
लगी ताहि गुण मंजरी, जस स्वभाव चहुं ओर।
प्रगटी महिमा ज्ञान में, फल है अनुक्रम जोर।।"

सम्यक्त्व की धरती से ज्ञान रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है उसमें दर्शन की दृढ शाखाए फूटती हैं और उन शाखाओ में चरित्र रूपी पत्र लगते हैं और गुण रूपी मंजरियां और फिर इन मंजरियों के फलस्वरूप शिवफल-मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस रचना में कवि ने गुण रूपी मंजरियों का विस्तृत वर्णन

किया है। सर्वप्रथम दया की व्याख्या की है जिसके दो भेद हो जाते है- निज और पर दया। निज दया से तात्पर्य है आत्मिक आनन्द में लीन रहना और दूसरी प्रकार की दया से तात्पर्य है संसार के समस्त प्राणियों की मन, वचन, काय से यथाशक्ति रक्षा करना। इसी प्रकार वत्सलता (धर्म के प्रति), सज्जनता, निजनिंदा, समता, भक्तिभाव, वैराग्य, धर्मराग, प्रभावना, हेय उपादेय (संसार से सम्बंधित वस्तुओं का त्याग), धीरज (धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा), हर्ष तथा प्रवीनता नामक गुणों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत कृति 73 दोहा चौपाई छंदों में बद्ध है तथा इसकी रचना माघ कृष्ण दशमी, मंगलवार संवत् 1740 में की गई।

(2) लोकाकाश क्षेत्र परिमाण कथन

प्रस्तुत रचना में भैया भगवतीदास ने जैन दर्शन के अनुसार लोक रचना का वर्णन किया है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि अनन्त आकाश का एक छोटा-सा भाग मात्र है। उसके अनुसार आकाश के दो भेद होते है, लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश आकाश का वह भाग है जहाँ आकाश के अतिरिक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य भी विद्यमान होते हैं और इसके अतिरिक्त शेष सब अलोकाकाश है वहाँ आकाश द्रव्य के अतिरिक्त कुछ नही है। लोकाकाश का आकार, कटि भाग पर दोनो हाथ रखकर, दोनो पैर फैलाकर खड़े हुये पुरुष के समान है, उसकी पूरी उंचाई चौदह राजू है। इसके नाभि प्रदेश में मध्य लोक अर्थात् मनुष्यलोक है, अधोभाग में सात नरक तथा ऊर्ध्वभाग में स्वर्ग और लोक के सबसे ऊपर अग्रभाग मे सिद्ध शिला है जहाँ संसार से मुक्त होकर जीव विराजमान हो जाते है। भैया भगवतीदास ने प्रस्तुत रचना में लोक के क्षेत्रफल का विस्तार से वर्णन किया है। अधोलोक में सात पृथ्वियाँ हैं, कवि ने उनका पृथक-पृथक क्षेत्रफल भी बताया है। समस्त अधो-लोक का क्षेत्रफल एक सौ छियानवें घन राजू है। ऊर्ध्वलोक में सोलह स्वर्ग, नवग्रैवेयक तथा सिद्ध शिला है, कवि ने इनका पृथक रूप में क्षेत्रफल भी बताया है। सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल एक सौ सेंतालीस घन राजू है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश का क्षेत्रफल तीन सौ तैंतालीस घन राजू है। इस लोक के मध्य में ऊपर से नीचे तक एक राजू चौड़ी त्रसनाली (त्रसनाड़ी) है त्रस जीव (द्वि-इन्द्रिय से पंच-इन्द्रिय तक) इस में ही रहते हैं, इसके बाहर केवल स्थावर जीवों की सत्ता है। 'लोकरचना' सम्बन्धी अध्याय में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। कवि ने इस कृति की रचना

आचार्य नेमिचन्द्र विरचित प्रसिद्ध जैन ग्रंथ 'त्रिलोकसार' के अनुसार पौष सुदि पूर्णिमा रविवार, वि0 सं0 1740 में की है।

(3) एकादश गुणस्थान पर्यन्तपंथ वर्णन

जैन दर्शन में मनुष्य के द्वारा आत्मिक विकास करते करते मोक्ष तक पहुँचने की यात्रा को चौदह स्तरों अथवा श्रेणियों में विभक्त किया गया है इन्हीं को चौदह गुणस्थान माना गया है। पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री ने इन गुणस्थानों को 'आध्यात्मिक उत्थान और पतन के चार्ट' के समान बताया है। मनुष्य के मनोविकारों के शमन और उत्तम गुणों के उत्तरोत्तर विकास की ये चौदह सीढ़ियाँ हैं। प्रस्तुत रचना में कवि ने ग्यारह गुण स्थानों का ही वर्णन किया है। उसकी दृष्टि इसमें मुख्यत: नाम परिगणन पर ही केन्द्रित रही है। प्रथम गुणस्थान **मिथ्यात्व** है जिसमें जीव अपने स्वरूप और हित-अहित का कोई विचार नहीं करते। द्वितीय गुणस्थान **सासादन**, तृतीय **मिश्र (सम्यक् मिथ्यात्व)**, चतुर्थ **अव्रतपुर (असंयत सम्यक्)**, पंचम **देशविरतपुर (संयतासंयत)**, षष्ठ **प्रमत्तसंयत**, सप्तम **अप्रमत्त संयत**, अष्टम **अपूर्वकरण**, नवम् **अनिवृत्तिकरण**, दशम् **सूक्ष्मसाम्पराय**, एकादशम्-**उपशांत** कषाय है ग्यारहवें गुणस्थान उपशांत तक पहुँचते-पहुँचते मुनिअवस्था आ जाती है और सब कषायो के शांत हो जाने से परिणाम अत्यत शुद्ध हो जाते हैं। इस विषय पर गुणस्थान सम्बन्धी अध्याय मे विस्तार से विचार किया गया है। प्रस्तुत रचना कवि ने जैन दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ आचार्य नेमिचन्द्र कृत गोमटसार के अनुसार की है तथा यह रचना इक्कीस दोहा चौपाई छंदो में निबद्ध है।

(4) बारह भावना

जैन दर्शन में सांसारिक भोग विलासो से मानव हृदय में विरक्ति उत्पन्न करने के लिए बारह भावनाओं को मान्यता दी गई है जिनका मनन करने से मन में स्वत: ही वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। कवि ने भी इसी उद्देश्य से 'बारह-भावना' काव्य का सृजन किया है। ये बारह भावनाएं हैं-

(1) **अनित्य भावना** अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है।

(2) **अशरण भावना** जिसमें बताया गया कि संसार में मरण आदि विपत्ति से जीव की रक्षा करने वाला कोई नहीं है-

"कोऊ न तेरो राखनहार, कर्मनवस चेतन निरधार।"

(3) **संसार भावना** अर्थात् इस संसार में सभी दुखी हैं, कहीं भी सुख नहीं है।

(4) **एकत्व भावना** से तात्पर्य है जीव अकेला ही आता है अकेला ही जाता है, साथी सम्बन्धी कोई भी अपना नहीं है।

(5) **अन्यत्व भावना** में कहा गया है कि जहाँ देह ही अपनी नहीं फिर वहाँ अपना कौन है, सब पर पदार्थ है अतः इनका साथ छोड़ना चाहिये-

"तू चेतन वे जड़ सरवंग। तो तजहु परायो संग।।"

(6) **अशुचि भावना** जिसमें शरीर की अपवित्रता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

(7) **आस्रव भावना** में कर्म आकर जीव से बंध जाते हैं यही विचार रखा जाता है।

(8) **संवर भावना** कर्मों का आना और बंधना कैसे रोका जाय, इस बात का विचार ही संवर भावना है।

(9) **निर्जरा भावना** अर्थात् पूर्व बध कर्म कैसे झड़े इसका ध्यान रखना ही निर्जरा है।

(10) **लोक भावना** लोक और उसमें जीव की स्थिति पर विचार करना ही लोक भावना है।

(11) **धर्म भावना** से तात्पर्य है धर्म के सम्बन्ध में विचारना।

(12) **बोधि-दुर्लभ-भावना** अर्थात् सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति अत्यंत सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है। इस प्रकार इन बारह भावनाओं का मनन करके मानव के हृदय में वैराग्य की भावना उद्भूत होती है। प्रस्तुत रचना पन्द्रह चौपाई छदो मे बद्ध है।

(5) कर्मबंध के दश भेद

जैन धर्म मे कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्म निरूपण किया गया है। कर्म सूक्ष्म पुद्गल पदार्थ होते हैं जो जीव की मन वचन और शरीर की प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर तथा कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) का संयोग पाकर उससे संयुक्त हो जाते हैं इसी को कर्म बंध कहते हैं। बंधन से लेकर उनके उदय होने अथवा अयोग्य हो जाने तक की दस अवस्थाएं होती हैं इन्ही का प्रस्तुत रचना में वर्णन किया गया है। ये दस अवस्थाएं इस प्रकार हैं-

(1) **बंध**- कर्म का जीव से संयुक्त होना ही बंध है। यह बंध चार प्रकार से होता है।

(क) **प्रकृति बंध**-ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के रूप में परिणत हो जाना।

(ख) **स्थिति बंध**-कर्म कितने समय तक जीव के साथ बंधे रहेंगे इसका

निश्चय होना।
(ग) **अनुभाग बंध**-कर्म मे तीव्र अथवा मद फल देने की शक्ति का निश्चय होना।
(घ) **प्रदेशबंध**-कर्म परमाणु किसी निश्चित संख्या मे जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं।
कवि के शब्दों में-

"मिथ्या अव्रत योग कषाय। बंध होय चहुं परतैं आय।
थिति अनुभाग प्रकृति परदेश। ए बंधन विधि भेद विशेष।।"

कर्मबंध की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होने को (2) **उत्कर्षण** और घटने को (3) **अपकर्षण** कहते हैं। कर्मबंध के पश्चात् जीव के अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार पूर्वबंध कर्मो मे उत्कर्षण अथवा अपकर्षण हो जाता है। कर्म के फल देने से पूर्व जीव के साथ बंधे रहने की अवस्था को (4) **सत्ता,** फल देने की अवस्था को (5) **उदय,** तथा नियत समय से पूर्व ही फल देने को (6) **उदीरणा** कहते हैं। जब कर्म अपने ही सजातीय कर्म के किसी दूसरे भेद में परिवर्तित हो जाता है उसे (7) **संक्रमण,** तथा कर्म को उदित हो सकने के अयोग्य कर देना (8) **उपशम** कहलाता है। कर्म का उदय और संक्रमण न हो सकना (9) **निधत्ति** तथा उत्कर्षण अपकर्षण न हो सकना (10) **निकाचना** कहलाता है।

यह वर्णन कवि ने जैन दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ गोम्मटसार के अनुसार किया है-

"ए दशभेद जिनागम लहे, गोमठसार ग्रथ में कहे।"

प्रस्तुत रचना पन्द्रह दोहा चौपाई छंदो में निबद्ध है।

(6) सप्तभंगी वाणी

जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है-अनेकान्तवाद अर्थात् वस्तु अनेकधर्मा है किन्तु उसके एक धर्म को ही एक समय में वर्णित किया जा सकता है, सब धर्मो को एक साथ नही। अत: जब एक समय में एक धर्म का वर्णन करते है तो उस वस्तु को किसी एक अपेक्षा से कहते हैं इसी को कहते हैं स्याद्वाद अर्थात् किसी अपेक्षा से कथन करना। किसी वस्तु के सम्बन्ध में कथन के सात ढंग हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं। इन्हें ही सप्तभंगी कहते हैं किसी वस्तु का अस्तित्व होना (1) **अस्ति** है, यह उसके अपने स्वभाव की अपेक्षा, से है। पर वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से वह नहीं है अत: वह (2) **नास्ति**

भी है। दोनों पक्षों को एक साथ ले लेने से तीसरा भंग है (3) **अस्तिनास्ति।** दोनों विरोधी गुण अस्ति नास्ति एक समय में नहीं कहे जा सकते अत: वह (4) **अवक्तव्य** है। इस चौथे भंग अवक्तव्य के साथ क्रमश: प्रथम, दूसरे और तीसरे भंग को मिलाने से पचम, षष्ठ और सप्तम भंग बनते हैं अर्थात् वस्तु का अस्ति स्वरूप नास्ति स्वरूप भी साथ होने के कारण एक साथ नहीं कहा जा सकता अत: पाँचवा भंग है (5) **अस्तिअवक्तव्य।** इसी प्रकार (6) **नास्ति अवक्तव्य** और सप्तम भंग है (7) **अस्ति नास्ति अवक्तव्य।** इस लघु रचना में इन्हीं का वर्णन है। सामान्य जीवन में इसकी उपयोगिता बताते हुए कवि ने कहा है-

"भैया जे नय जानहिं भेद। तिनके मिटहि सकल भ्रम खेद।"

जब मनुष्य का दृष्किोण एकांगी होता है तब ही समस्त संघर्ष उद्‌भूत होते हैं अन्यथा नहीं और स्याद्वाद मनुष्य के दृष्टिकोण को विशाल बनाता है। सप्तभंगी के अध्याय में इस पर विस्तार से विचार किया गया है। प्रस्तुत रचना बारह दोहा चौपाई छंदों मे बद्ध है।

(7) चौदह गुणस्थानवर्ति जीव संख्या-(शिवपंथ-पचीसिका)

चौदह गुणस्थान जैन दर्शन में जीव के मुक्त अवस्था तक उत्तरोत्तर आत्मिक विकास के चौदह स्तर हैं। प्रस्तुत रचना में कवि ने इन्ही चौदह गुणस्थानो का वर्णन किया है। जैसा कि रचना के नाम से ही संकेत मिलता है इसमे कवि की दृष्टि इन विभिन्न गुणस्थानों में रहने वाले जीवों की संख्या वर्णन पर केन्द्रित रही है। प्रथम गुणस्थान **'मिथ्यात्व'** के जीवो की संख्या अनन्तानंत है। इसमे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्रकार के जीव होते है, ये नितान्त अज्ञानी होते हैं अपने हित अहित का इन्हें कोई ध्यान ही नहीं होता। दूसरे गुणस्थान **'सासादन'** में बावन करोड़ जीव हैं, तीसरे **'मिश्र'** (**सम्यक् मिथ्यात्व**) में एक अरब चार करोड़, चौथे **'अव्रत'** (**असंयत सम्यग्दृष्टि**) मे सात अरब, पाँचवे **'देशविरतपुर'** (**संयतासंयत**) में तेरह करोड़ जीव रहते हैं। छठे गुणस्थान **'प्रमत्त संयत'** में पाँच करोड तिरानवें लाख अटठानवें हजार दो सौ छ: जीव रहते हैं। सातवें **अप्रमत्त संयत** में दो करोड़ छियानवें लाख निनयानवें सहस्र एक सौ तीन जीव हैं। अष्टम गुणस्थान से दो श्रेणियां हो जाती- उपशम तथा क्षपक। आठवें **'अपूर्वकरण'**, नवम् **'अनिवृत्तिकरण'** तथा दशम् **'सूक्ष्म साम्पराय'** में उपशम श्रेणी में प्रत्येक में

दो सौ निन्यानवे तथा इन्हीं तीनों में क्षपक श्रेणी में प्रत्येक में पाँच सौ अट्ठानवें जीवों का निवास है। ग्यारहवें **उपशांत कषाय** में दो सौ निन्यानवे तथा बारहवें **क्षीण कषाय** में पाँच सौ अट्ठानवें जीव सख्या है। तेरहवें **सयोग केवली** में आठ लाख अट्ठानवें हजार पाँच सौ दो केवली भगवान हैं तथा चौदहवें **अयोग केवली** गुणस्थान में यह संख्या पाँच सौ अट्ठानवें हैं। तेरहवें गुणस्थान तक सब जीवों की संख्या आठ अरब सतहत्तर करोड निन्यानवें लाख निन्यानवें सहस्र नौ सौ सत्तानवे है। यह वर्णन कवि ने जैन दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ गोम्मटसार के अनुसार किया है। यह रचना पच्चीस दोहा चौपाई छंदों में बद्ध है।

(8) पन्द्रह पात्र की चौपाई

प्रस्तुत रचना में कवि ने आचरण की दृष्टि से पन्द्रह प्रकार के पात्रों का वर्णन किया है। ये पन्द्रह पात्र इस प्रकार है-**तीन उत्तम पात्र, तीन मध्यम पात्र, तीन लघु पात्र, तीन कुपात्र और तीन अपात्र**। उत्तम पात्र में सर्वश्रेष्ठ तीर्थंकर जो संसार सागर से पार जाते है, मध्यम श्रेणी मे गणधर जो द्वादशाग वाणी (देखिये परिशिष्ट) के ज्ञाता होते है, सामान्य मुनि जो शुद्ध भावों के धारण कर्ता होते है। मध्यम पात्रो मे उत्तम ऐलक श्रावक (देखिए परिशिष्ट) जो केवल एक लगोटी ही रखते हैं, मध्यम क्षुल्लक श्रावक (देखिये परिशिष्ट) जो पीछी और कमडल भी रखते है और सामान्य दश प्रतिभाधारी श्रावक होते है। लघुपात्र मे सर्वोत्तम क्षायिक सम्यक्त्वी श्रावक (जिन्हे कभी न कभी मोक्ष मिलेगा ही) मध्यम उपशमधारी (जिसने अपनी कषायो को शान्त कर लिया है) और सामान्य क्षायोपशमिक जिसके सम्यक् दर्शन मे दोष उत्पन्न हो जाता है। तीन कुपात्र में प्रथम द्रव्यलिगी मुनि जो मिथ्यात्वी होता है, बाह्य लक्षण तो मुनि वाले होते हैं किन्तु भाव शुद्ध नहीं होते। दूसरे वे मिथ्यात्वी श्रावक जो ज्ञान शून्य होते हैं किन्तु अपने को गुणवान समझते है। तीसरे वे मिथ्यात्वीजीव जिनका हर प्रकार का आचरण मिथ्यात्व से ओतप्रोत होता है।

तीन अपात्रों में प्रथम वे परिग्रही साधु जिनका, अन्तःकरण के साथ-साथ बाह्य आचरण भी अशुद्ध होता है। दूसरे वे श्रावक जो श्रावक के गुणों से भी शून्य होते हैं, भक्ष्य अभक्ष्य सभी कुछ ग्रहण करते हैं, तीसरे वे

श्रावक जो स्वयं को सम्यक् दृष्टि कहते हैं किन्तु उनके भाव तथा बाह्य लक्षण दोनों ही विपरीत होते हैं। प्रस्तुत रचना चौबीस दोहा चौपाई छंदों में निबद्ध है।

(9) ब्रह्माब्रह्म निर्णय चतुर्दशी

पंच परमेष्ठी-अरहंत सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु के प्रथम अक्षर-अ सि आ उ सा-की वंदना कर कवि जीव को ही ब्रह्म बताता है तथा वैष्णवों के सृष्टिकर्ता ब्रह्म की समानता ब्रह्म अर्थात् जीव से करता है। ब्रह्म के चार मुख हैं और इस जीव के भी आँख, नाक, रसना और श्रवण ये चार मुख हैं इन्हीं से यह रूप रस गंध आदि का आनन्द ग्रहण करता है। इस जीव से ही समस्त सृष्टि सृजित हुई है इसीलिए इसे विरंच अर्थात् सृष्टिकर्ता कहा गया है। यह चौदह दोहा छंदों में बद्ध एक लघु रचना है।

(10) अष्टकर्म की चौपाई

जीव अनन्तगुण धारी होता है, उसके कर्म उन गुणो को आवृत किये रखते हैं। मुख्यत: उसके आठ गुण माने हैं, और कर्म के भी आठ भेद होते है जिन्हें अष्टकर्म कहते हैं। आठ गुण इस प्रकार है- (1) **अनन्त ज्ञान**, (2) **अनन्त दर्शन**, (3) **अव्याबाधत्व**, (4) **सम्यक्त्व (क्षायिक)**, (5) **अवगाह तत्व**, (6) **सूक्ष्मत्व**, (7) **अगुरु लघुत्व**, (8) **अनन्तवीर्य**। अष्टकर्म इस प्रकार हैं (1) **ज्ञानावरणीय**, (2) **दर्शनावरणीय**, (3) **वेदनीय**, (4) **मोहनीय**, (5) **आयु**, (6) **नाम**, (7) **गोत्र**, (8) **अन्तराय**। इनमें से एक एक कर्म एक एक गुण को आवृत किये रखता है जिससे जीव का वास्तविक स्वरूप ही छिप जाता है। ज्ञानावरणी कर्म से जीव का वास्तविक स्वरूप ही छिप जाता है। ज्ञानावरणी कर्म से जीव का ज्ञानगुण ढक जाता है, उसके छेदन से ही ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण होता है। दर्शनावरणी कर्म से जीव सम्यक् श्रद्धान् नहीं कर पाता। वेदनी उसके मार्ग में बाधा पहुँचाता है। मोहनी जीव को अपने स्वरूप से ही असावधान कर देता है। आयु कर्म जीव को निश्चित समय तक किसी एक शरीर में रोक सकता है अर्थात् अवगाहनत्व में बाधा पहुँचाता है। नाम कर्म जीव का अमूर्तिक (सूक्ष्मत्व) गुण आवृत कर शरीर धारण कराता है। गोत्र कर्म अगुरुलघुत्व ढांक कर ऊंचनीच कुल का निश्चय कराता है और अन्तिम अन्तराय कर्म जीव की अनन्त शक्ति को प्रकट होने से रोकता है। इस प्रकार इन अष्टकर्मो का विनाश करके ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है-

''ये ही आठों कर्ममल, इनमें गर्भित हंस।
इनकी शक्ति विनाश कै, प्रगट करहिं निज वंस।।''

यह रचना तेईस चौपाई तथा चार दोहा छंदों में बद्ध है।

(11) रागदि निर्णयाष्टक

जीव के भव भ्रमण का मूल कारण रागद्वेष आदि भावनाओं से उसका संयुक्त होना ही है। वह मूलत: तो शुद्ध स्वभाव का है किन्तु रागद्वेष और मोह की परिणति उसके साथ लगी रहती है जैसे किसी शुभ्र स्फटिक मणि पर रंग आदि लगा दिये जायें। मिथ्यादृष्टि जीव दोनों को भिन्न करके नहीं देख पाता और सम्यग्दृष्टि जीव दोनों को भिन्न-भिन्न रूप में देखता है। जब जीव स्वयं को रागादि से पृथक कर लेता है तब ही कर्मजाल को तोड़कर मुक्ति पद प्राप्त कर लेता है। यह रचना नौ दोहा मात्रिक कवित तथा चांद्रायण छंदों में बद्ध है।

(12) बाईस परीसहन के कवित्त

जैन धर्म में मुनि और श्रावको के कर्त्तव्य और चर्या का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुनि की चर्या बहुत कठोर होती है। शरीर के प्रति परायेपन का भाव आ जाने से उन्हे कष्ट का अनुभव ही नहीं होता। मुनि के लिए बाईस प्रकार के परीषह प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेना आवश्यक है। ये बाईस प्रकार के सासारिक कष्ट और बाधाएं होती हैं जिनके आने पर भी आर्त और सक्लेश परिणामो का न होना ही परीषहजय कहलाता है। ग्रीष्म ऋतु मे जब धरती तवे की भाँति जलती है तब मुनि शैल शृग शिला पर खड़े होकर रात दिन तपस्या करते है इसी को (1) **ग्रीष्म परीषह** कहते हैं। इसी प्रकार शीतकाल मे शीत का अतिरेक उनको ध्यान से विचलित नहीं कर पाता यह (2) **शीत परीषह** कहलाता है। क्षुधा से संसार का प्रत्येक प्राणी पीडित होता है, मुनि इस पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं यही (3) **क्षुधा परीषह** है इसी प्रकार (4) **तृषा परीषह** है (मुनि दिन मे केवल एक ही बार भोजन के साथ जल ग्रहण करते हैं, अन्तराय हो जाने पर कभी-कभी वह भी नही लेते) मच्छर, सांप, बिच्छू आदि के काटने पर भी कष्ट का अनुभव नहीं करते उसे ही (5) **डंसमस्कादि परीषह** कहते हैं। मुनि भूमि पर एक ही आसन (करवट) से शयन करते हैं। इसे (6) **शय्या परीषह** कहते हैं। उन्हें कोई कितना ही शारीरिक कष्ट दे तब भी क्रोध नहीं करते न द्वेष रखते है। इसे ही (7) **वधबंध परीषह** कहते हैं।

मुनि विहार करते समय साढ़े तीन हाथ भूमि देखते हुए चलते हैं (8) इसे **चर्या परीषह** कहते हैं। साधु शरीर में फाँस गड़ जाने पर अथवा आँख में कुछ गिर जाने पर भी कष्ट अनुभव नहीं करते इसे (9) **तृणफांस परीषह** कहते हैं। मुनियों के लिए ग्लानि वर्जित होता है। अत: स्वयं से तथा अन्य किसी से भी ग्लानि न करने को (10) **ग्लानि परीषह** कहते हैं। रोगों के कारण कष्ट का अनुभव न करना (11) **रोगपरीषह कहलाता** है। मुनि नग्न रहते हैं नग्नता पर लज्जा का अनुभव न करना (12) **नग्नपरीषह** कहलाता है। वे किसी भी इन्द्रिय विषय की ओर आकृष्ट नहीं होते इसे (13) **रति अरति परीषह** क़हते है। जिस नारी के निमेष मात्र पर बड़े-बड़े राज्यों की नींव हिल जाती है उस पर भी विजय प्राप्त करना (14) **स्त्रीपरीषह** है। मनुष्य मान सम्मान की सुरक्षा के लिए बड़ी-बड़ी धन सम्पदा राज्य तक लुटा देता है, किन्तु मुनि मान अपमान की भी चिंता नहीं करते उसे ही (15) **मान अपमान** परीषह कहते है। मुनि श्मशान आदि भयंकर स्थान में भी शात रहते हैं भयभीत नहीं होते इसे (16) **थिर परिषह** कहते हैं। वे कुवचन नहीं बोलते यह (17) **कुवचन परीषह** है। किसी से कुछ भी याचना नहीं करते यह (18) **अजाची परीषह** है। ज्ञान धारण कर (19) **अज्ञान परीषह** पर जय प्राप्त करते हैं। नित्यप्रति अध्ययन आदि कर अपनी प्रज्ञा को विकसित करते है यह (20) **प्रज्ञा परीषह** है। (21) **अदर्शन परीषह** से तात्पर्य है कि वे मिथ्यात्वी नही होते। अतराय के होने पर भी अलाभ या हानि की चिन्ता न करना (22) **अलाभ परीषह** है। प्रस्तुत कृति में इन्हीं का वर्णन है। अन्त मे ऐसे बाईस परीषह जयी मुनिराज की स्तुति की गई है। यह रचना तीस कवित्त, छप्पय, कुडिलयाँ, घनाक्षरी तथा दोहा छदो में बद्ध हैं। इसकी रचना फागुन सुदि द्वादशी गुरुवार सं0 1749 वि0 को की गई।

(13) मुनि के छियालीस दोष वर्जित आहार विधि

जैन धर्म में मुनियों के आहार की विशेष विधि है, वे दिन में केवल एक बार भोजन और जल ग्रहण करते हैं। साधु को जीवन और संसार से नितान्त निरपेक्ष और निर्लिप्त रहना होता है। भोजन के लिए जाते समय या भोजन करते समय यदि कोई अन्तराय हो जाता है तब वे आहार नहीं लेते। इनमें कुछ अन्तराय दृष्टि सम्बन्धी हैं जैसे अस्थि, मांस, रक्त, विष्टा, मृत प्राणी आदि का दिखाई दे जाना, कुछ स्पर्श सम्बन्धी जैसे पशु, पक्षी का स्पर्श हो जाना। कुछ अन्तराय श्रवण सम्बन्धी होते हैं जैसे देवमूर्ति का भंग होना,

कर्कश वचन, रोने का स्वर या उत्पात सूचक शब्द और कुछ अन्तराय स्मरण सम्बन्धी होते हैं जैसे ग्लानि दिलाने वाले पदार्थों का स्मरण। इस प्रकार के छियालीस दोष होते हैं, इनके न होने पर ही मुनि आहार ग्रहण करते हैं अन्यथा उपवास रखते हैं जैन धर्म में मुनि चर्या अत्यंत कठिन है। प्रस्तुत कृति में इस आहार विधि का ही वर्णन किया गया है। पच्चीस दोहा चौपाई छंदों में बद्ध प्रस्तुत रचना वि0 सं0 1750 में ज्येष्ठ सुदि पंचमी को रची गई।

(14) अनादि बत्तीसिका

जैन धर्म के अनुसार यह संसार छः द्रव्यों से मिलकर बना है। छः द्रव्य इस प्रकार हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। ये छहों द्रव्य अनादि काल से सृष्टि में विद्यमान हैं।[14] सबके अपने पृथक-पृथक गुण है पृथक-पृथक पर्याय (अवस्थाएं) है। वन मे वृक्षों को न कोई बोता है न सीचता है, फिर भी वे अपनी-अपनी ऋतु के अनुसार स्वयं ही फलते फूलते है। वर्षा स्वय होती है, जल स्वयं ही नीचे को ढर जाता है, पक्षी स्वतः ही आकाश में उडने लगते हैं, सिंह के बच्चे स्वयं ही शक्तिशाली बन जाते है, इस प्रकार सब वस्तुएं अपने-अपने सहज स्वभाव से ही उत्पन्न स्थित और विनष्ट होती हैं।[15] चेतन और पुद्गल के मिलने से स्वतः ही अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं और सृष्टि चलती रहती है किन्तु अज्ञानी मनुष्य कहत है कि ईश्वर ने सृष्टि रची है। तैतीस दोहा छदो मे बद्ध यह रचना वि0 स0 1750 मे आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी रविवार को रची गई।

(15) समुद्घात स्वरूप

जब केवल ज्ञानी जीव की आयु अल्प मात्र शेष रहती है, तब यदि उसके नाम गोत्र और वेदनीय, इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो तो वह उसे समुद्घात क्रिया द्वारा आयु-प्रमाण कर लेता है। मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशो का फैलकर बाहर निकलना समुद्घात है। फैलने की क्रिया को आरोहक, फिर धीरे-धीरे सिकुड़ने की क्रिया को अवरोहक कहते हैं। वैसे तो त्रसजीव लोकाकाश की एक राजू चौड़ी त्रसनाली मे ही रहते हैं, किन्तु समुद्घात की इस प्रक्रिया मे आत्मा के प्रदेश त्रसनाली से बाहर समस्त लोक में फैल जाते हैं। वैसे तो भैया भगवतीदास ने अपनी इस रचना में समुद्घात की इस प्रक्रिया के अनेक प्रयोजन बताये हैं। रोगादिक का संयोग होने पर चिकित्सा हेतु आत्मा के प्रदेश बाहर निकलते हैं। केवल ज्ञानी कर्मों

का क्षय करने के लिए आत्मा के प्रदेशों को लोक की सीमा तक फैला लेते हैं। मृत्यु से कुछ पहले आत्मा के प्रदेश अपनी (आगामी) गति का स्पर्श कर लौट आते हैं। कभी-कभी मन में शंका उत्पन्न होने पर मुनि शंका समाधान हेतु अपने आत्म प्रदेशों का प्रसार करते हैं। यह दर्शन सम्बन्धी तथ्य जन सामान्य की पहुँच से परे है। ये रचना 11 दोहा छंदों में बद्ध है।

(16) सम्यक्त्व पचीसिका

जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (शक्ति) गुणों से (जिन्हें अनन्त चतुष्टय भी कहते हैं) युक्त होता है। अष्टकर्मों में से चार घाति कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय जीव के उपर्युक्त गुणों का ह्रास कर देते हैं। इनमें से मोहनीय कर्म सर्वाधिक प्रबल होता है तथा जीव का सर्वाधिक अहित करता है। वह जीव को उसके वास्तविक स्वरूप से ही अनभिज्ञ बना देता है। मोहनीय कर्म के दो भेद होते हैं (1) दर्शन मोहनीय व (2) चारित्र मोहनीय। इनके भी अनेक छोटे-छोटे भेद हो जाते हैं। सम्यक्त्व ही मोहनीय कर्म की शक्ति का क्षय करता है। मोहनीय कर्म की प्रबलता कम होने पर ही जीव को सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत रचना में कवि ने सम्यक्त्व के तीन भेदों- उपशम, क्षायिक, वेदक का उल्लेख करके उनका महत्व बताया है तत्पश्चात् कवि ने सम्यक् दृष्टि और मिथ्यात्वी जीव के कर्मों का अन्तर बताया है और कहा कि सम्यक् दृष्टि जीव किस प्रकार निरन्तर साधना करता हुआ, कर्ममल को क्षय करता हुआ, मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है। अन्त में कवि ने सम्यक् दर्शन को ही अनन्त सुख की नींव बताया है। प्रस्तुत कृति की रचना कवि ने वि0 सं0 1750 के मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष में दशमीं एवं सोमवार को की थी।

(17) परमात्म छत्तीसी

प्रस्तुत रचना मे कवि ने सर्वप्रथम परमपद को प्राप्त आत्माओं को प्रणाम किया है तत्पश्चात् आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख किया है। आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं- बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। बहिरात्मा वह है जो परद्रव्यों में लिप्त रहता है, अन्तरात्मा परद्रव्यों को अपने से भिन्न समझता है अतः सम्यग्दृष्टि होता है। परमात्मा रागद्वेष के मल से रहित कर्मबंधन मुक्त परम शुद्ध होता है। कर्मों के संयोग से ही आत्मा के तीन भेद हो जाते ह[16] तथा कर्मों की मूल रागद्वेष परिणति है। जो आत्मा सिद्ध

भगवान में है वही प्रत्येक प्राणी में है[17] किन्तु मोहरूपी मैल से युक्त दृष्टि उसे देख ही नहीं पाती। परमात्मा का ध्यान करते करते जीव स्वत: ही परमात्म रूप हो जाता है अत: उसी परमशुद्ध चैतन्य स्वरूप भगवान का स्मरण करना चाहिये। छत्तीस दोहा छंदों में निबद्ध इस कृति की रचना सम्वत 1750 वि0 के मार्गशीर्ष में कृष्णपक्ष की द्वितीया को की गई।

(18) ईश्वर निर्णय पचीसी

प्रस्तुत रचना भी कविवर भैया भगवतीदास जी की एक दर्शन प्रधान रचना है जिसमें ईश्वर के सम्बन्ध में विचार किया गया है। ईश्वर सम्बन्धी विवाद हमारे देश में समय-समय पर प्रबल रूप धारण करता रहा है। एक मत को मानने वाला दूसरे मत का खंडन और अपने मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए कवि ने भी कहा है-

"ईश्वर ईश्वर सब कहे, ईश्वर लखै न कोय।
ईश्वर तो सो ही लखै, जो समदृष्टी होय।"

रागद्वेष से रहित शुद्ध दृष्टि वाले व्यक्ति ही ईश्वर के सम्बन्ध मे जान सकते हैं। अवतारवाद का खंडन करते हुए कवि ने कहा है कि जिसके देह ही नही हैं और जो अविनाशी तथा अविकार है, वह बार-बार देह कैसे धारण कर सकता है और जो बार-बार जन्म ले और मरण को प्राप्त हो, वह ईश्वर किस प्रकार हो सकता है। अनेक मत-मतान्तरो से भरपूर इस संसार में मनुष्य की बुद्धि भ्रमित हो रही है, उसकी दशा उस श्वान के समान है जो एक कांच के भवन में बद कर दिया जाय और वह अपने ही अनेक प्रतिबिम्ब देखकर कभी इस ओर और कभी उस ओर भागता रहे। ईश्वर तो प्रत्येक मानव की आत्मा मे विद्यमान है। जब आत्मा कर्म बंधनो से मुक्त हो जाती है तो ईश्वर हो जाती है और कर्म बंधनों से युक्त होने पर एक सामान्य सांसारिक प्राणी।

"ईश्वर सो ही आत्मा, जाति एक है तंत।
कर्म रहित ईश्वर भये, कर्म सहित जग जंत।।"

जो अपनी आत्मा में ईश्वरत्व के दर्शन कर लेता है वही ईश्वर हो जाता है। प्रस्तुत रचना 27 दोहा, कवित्त, कुडलिया आदि छदों में बद्ध की गई है।

(19) कर्त्ता-अकर्त्ता पचीसी

प्रस्तुत रचना में कविवर ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि कर्मों का कर्ता कौन है, ईश्वर अथवा मानव? और तर्कपूर्ण शैली में सिद्ध किया है कि कर्मों का कर्ता और भोक्ता स्वयं जीव होता है ईश्वर इन दोनों ही बातों से परे

है। यदि कर्म को करने वाला ईश्वर है तो उसके किये हुए कार्य जीवकृत पाप पुण्य की कोटि में क्योंकर आ सकते हैं और फिर उनका फल-सुख अथवा दुख उसे स्वयं ही भोगना चाहिये, फिर वह जीवों को बांह पकड़-पकड़कर नरक में क्यों डालता है, उनका क्या अपराध है[18] यदि कहें कि ईश्वर की आज्ञा से ही सब कार्य होते हैं तो हिंसादिक अशुभ कर्मों का कर्त्ता भी ईश्वर को ही कहा जाना चाहिये। वस्तुतः शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता मनुष्य स्वयं है, स्वयं ही उनका फल भोगता है। जो अज्ञानी जीव हैं वही ईश्वर को दोष दिया करते हैं वास्तव में-

''अपने अपने सहज के, कर्त्ता हैं सब दर्व।
यहै धर्म को मूल है, समझ लेहु जिय सर्व।।''

संसार के प्रत्येक प्राणी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं, वही उनका धर्म है। इस कृति की रचना पौष शुक्ल सप्तमी सं0 1751 वि0 को की गई।

स्तुति और जयमाला साहित्य

मुख्य रूप से पूजा के दो भेद माने गये हैं द्रव्य पूजा और भाव पूजा। किसी न किसी द्रव्य से आराध्य के मूर्ति-बिम्ब आदि की पूजा करना द्रव्य पूजा। और भगवान को मन में स्थापित करके उनका ध्यान लगाना अथवा उनके गुणो का कीर्तन करना भाव पूजा है।[19] द्रव्य पूजा में भगवान का कोई न कोई चिह्न द्रव्य रूप में सम्मुख उपस्थित रहता है और कुछ वस्तुएं- जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, नैवेद्य, दीप धूप आदि अर्पित की जाती हैं। भाव पूजा मे भक्त भगवान का अपने हृदय में ही स्मरण कर ध्यान लगाकर उनका स्तवन करता है। द्रव्य पूजा गृहस्थों के लिये निर्धारित की गई है क्योंकि निराकार की स्थापना उनके लिये कठिन है और भाव पूजा साधुओं के लिये। स्तुति, स्तोत्र, स्तवन, गुणमाला, जयमाला, गुणमंजरी आदि सब भाव पूजा के अन्तर्गत आते हैं। जैन धर्मावलम्बियों में पूजा से तात्पर्य द्रव्य पूजा से ही लिया जाता है। पूजा स्तोत्र आदि में शैलीगत भेद ही है, भाव की दृष्टि से दोनों समान हैं। किन्तु कुछ लोग यह भी मानते हैं 'पूजा कोटि समंस्तोत्र' अर्थात् एक करोड़ बार पूजा करने से जो फल मिलता है वह एक बार के स्तोत्र पाठ से उपलब्ध हो जाता है।[20] इसका कारण भी है पं0 हीरालाल जैन के अनुसार ''पूजक का ध्यान पूजन की ब्राह्य सामग्री की स्वच्छता आदि पर ही रहता है, जबकि स्तुति

करने वाले भक्त का ध्यान एक मात्र स्तुत्य व्यक्ति के विशिष्ट गुणों की ओर ही रहता है। वह एकाग्रचित्त होकर अपने स्तुत्य के एक-एक गुण का वर्णन मनोहर शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में निमग्न रहता है। भक्त स्तुति गुणमाला आदि में भगवान के गुणों का विभिन्न प्रकार से कथन करता है। जयमाला में स्तुत्य का जयजयकार किया जाता है। दूसरे की महत्ता का वर्णन व्यक्ति तब ही कर सकता है जब वह अपनी लघुता की अनुभूति करे। राम के 'खरेपन' का अनुभव ही तब हो सकता है जब अपने 'खोटेपन' की अनुभूति हो जाये।[21] अपने लघुत्व और दोषों की अनुभूति ही अहं को विगलित करती है और पाप रूपीमल को धोकर हृदय को स्वच्छ करती है अतः विनय जो कि हृदय की सात्विकता का प्रतीक है स्तुति स्तोत्र आदि की आधारशिला है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार राग-द्वेष से रहित शुद्धात्मा अर्थात् वीतरागी भगवान न कर्त्ता है न भोक्ता, न वह कुछ ग्रहण करता है न कुछ प्रदान करता है, तब जैन भक्त का उससे किसी भी प्रकार की याचना करना अथवा अपना कल्याण करने की प्रार्थना करना कहाँ तक उपयुक्त है ? आचार्य समन्तभद्र के अनुसार, "वीतरागी भगवान को पूजा वन्दना से कोई तात्पर्य नही है, "वे सभी रागों से रहित हैं निंदा से भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि उनमें से वैर भाव निकल चुका है, फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप-मलों से पवित्र करता है।"[22] वस्तुतः वीतरागी भगवान भक्त के पूजन वन्दनादि भक्ति भाव को भी ग्रहण नहीं करता है फिर भी भक्त सब कुछ पा जाता है। भगवान के गुणों का स्मरण भक्त के हृदय को पापमल से रहित कर पवित्र करता है जिससे स्वयमेव ही पूर्व कर्मबंध का क्षय होता है और भक्त का कल्याण होता है। इस प्रकार भगवान भले ही कुछ न दे किन्तु उसके निमित्त से ही भक्त की मनोवांछा पूर्ण होती है अतः वह उन्हें कर्त्ता कहता ही है। जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न अथवा कल्पवृक्ष अचेतन होते हैं और उनसे फल प्राप्ति होती है उसी प्रकार भगवान अरहंत या सिद्ध स्वयं रागद्वेष रहित होने पर भी भक्तों को उनकी भक्ति के अनुसार फल देते हैं। इसीलिये जैन भक्त अपनी रचनाओं में जिनेन्द्र भगवान से कभी याचना करता है कभी प्रार्थना और कभी विनती।

संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में जैन स्तोत्र परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। हिन्दी जैन साहित्य में स्तुति स्तोत्र जयमाला पूजा पाठ आदि की रचना "भैया" जी से पूर्व भी पर्याप्त मात्रा में होती रही और उनके पश्चात

भी। जैन पूजा पाठों में अष्टक (अष्ट द्रव्य विसर्जन) के अनन्तर जयमाला होती है वह स्तोत्र का ही कुछ अंशों में रूपान्तर है। डॉ0 देवेन्द्र कुमार शास्त्री के अनुसार "जयमाला का साहित्य केवल जैन साहित्य की ही देन है क्योंकि अनेक प्रकार की पूजाओं को विविध राग रागनियों में पद्यबद्ध करने का कार्य जैन विद्वान एवं आचार्य बहुत समय से करते चले आ रहे है।[23]

(1) श्री जिनपूजाष्टक

प्रस्तुत रचना द्रव्य पूजा के अन्तर्गत आती है जो जैन धर्मावलम्बियों में अत्यधिक प्रचलित है। प्राय: जैन श्रावक श्राविकाएं प्रात: जिन मन्दिर में जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल अष्ट द्रव्यों से पूजा करते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रतीक रूप में प्रयुक्त होता है। एक-एक पद पढ़कर अन्त में एक-एक द्रव्य चढ़ाते हैं। द्रव्य चढ़ाते समय जो उद्देश्य बोला जाता है उसमें यह प्रतीक भाव प्रकट हो जाता है। जन्म जरा मृत्यु आदि रोगों को धोने के लिये जल चढ़ाते हैं। संसार के सन्तापों की शान्ति के लिए चन्दन, अक्षय पद की प्राप्ति के लिए अक्षत, काम के विकार को नष्ट करने के लिये पुष्प, क्षुधा रोग के विनाश हेतु नैवेद्य, मोहाधकार विनाश के लिये दीप, अष्टकर्म जलाने के लिये धूप और मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये फल चढाते हैं।

इस पूजाष्टक में जिनेन्द्र भगवान की अष्ट द्रव्यों से पूजा की गई है। एक पद्य द्रष्टव्य है जिसमें भक्त भगवान के चरणों में पुष्प चढ़ाता है। विभिन्न पुष्पो से कामदेव के शर निर्मित होते हैं, भगवान के चरणों में काम के प्रतीक रूप में पुष्प अर्पित करके वह उनसे काम भावना को नष्ट करने की प्रार्थना करता है-

"जगत के जीव जिन्हें जीत के गुमानी भयो,
एसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है।
ताके शर जानियत फलनिके वृंद बहु,
केतकी कमल कुंद केवरा सुहायो है।।
मालती सुगंध चारू बेलिकी अनेक जाति,
चंपक गुलाब जिनचरण चढ़ायो है।
तेरी ही शरण जिन जोर न बसाय याको,
सुमनसों पूजे तोहि मोहि ऐसो भायो है।।"

यह पूजाष्टक 12 कवित्त एवं दोहा छंदों में निबद्ध है।

(2) चतुर्विंशति जिनस्तुति

प्रस्तुत रचना में कविवर भैया भगवतीदास जी ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है। एक-एक छंद में एक-एक तीर्थंकर के जन्मस्थान माता-पिता उनके चिह्न तथा उनकी कुछ विशेषताओं का परिचय देकर अंत में उनकी वंदना की गई है जैसे-

"आदिनाथ अरहंत, नाभिराजा कुल मंडन।
नगर अयोध्या जनम, सर्व मिथ्यामति खंडन।।
केवल दर्शन शुद्ध वृषभ लक्षन तन सोहै।
धनुष पाँच सौ देह, इन्द्र शत के मन मोहे।।
मरुदेवि मात नन्दन सुजिन तिंहु लोक तारन तरन।
मनभाव धारि इक चित्त सों, भव्य जीव वन्दत चरन।।"

प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ था उनके पिता राजा नाभिराय थे और माता मरुदेवी थीं, उनका शरीर पाँच सौ धनुष ऊँचा था उनका चिह्न वृषभ है, वे केवल दर्शन को प्राप्त करने वाले, मिथ्यामति का खंडन करने वाले, तीनों लोक के तारन तरन हैं। मन में उनको धारण कर भव्य जीव (जिनमें मोक्ष प्राप्ति की सामर्थ्य है) उनकी वंदना करते हैं।

इसी प्रकार श्री अजित नाथ, सम्भवनाथ; अभिनन्दन नाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुंथनाथ, अर:नाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत नाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर की वंदना की गई है और अत मे एक दोहे से चौबीसों तीर्थंकरों की वंदना को कल्पवृक्ष के समान बताकर नित्य प्रति इसका पाठ करने का उपदेश दिया गया है। चौबीस छप्पय तथा मात्रिक कवित्त छंदों में निबद्ध यह रचना जैन धर्मावलम्बियों के लिये दैनिक उपयोग की है।

(3) विदेह क्षेत्रस्थ वर्तमान जिन विंशतिका

चतुर्विंशति जिन स्तुति के समान ही इस रचना में भी विदेह क्षेत्र में स्थित बीस तीर्थंकरों की वन्दना की गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- श्री श्रीमंधर, श्रीयुगमंधर, श्री बाहु, श्री सुबाहु, श्री सुजाति, श्री स्वयंप्रभु, श्री ऋषभानन, श्री अनन्तवीर्य, श्री सूरप्रभु, श्री विशाल, श्री वज्रधर, श्री चन्द्रानन, श्री चन्द्रबाहु, श्री भुजंगम, श्री नेमप्रभु, श्री वीरसेन, श्री महाभद्र,

श्री देवजस, श्री अजितवीर्य। अन्त में एक दोहे और कवित्त में बीसों तीर्थंकरों की सामूहिक रूप से वंदना की गई है। यह रचना बीस कवित्त, सवैया और छप्पय छंदों में बद्ध है।

(4) परमात्मा की जयमाला

सात दोहों की संक्षिप्त-सी इस रचना में कवि ने परम-आत्मा की विभिन्न विशेषताओं की ओर संकेत किया है। वह अनन्त शक्ति से सम्पन्न है उसकी समानता कोई नहीं कर सकता। वह लोकालोक का ज्ञान धारण किए हुए है जन्म मरण से परे है, अनन्त सुख उसका स्वभाव है, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों का नाश हो चुका है, 'पर' का रंचमात्र भी स्पर्श नहीं है अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त सभी कुछ शरीर भी पर (पराया) है उसमें रंचमात्र भी लिप्त नहीं है, अविनाशी अविकार है वही निश्चित रूप से परमात्मा है।

''पर का परस रंच नहीं जहाँ। शुद्ध सत्य कहावै तहाँ।।
अविनाशी अविचल अविकार। सो परमातम है निरधार।।''

यह रचना सात दोहा छंदों में बद्ध है।

(5) तीर्थंकर जयमाला

इस रचना के प्रारम्भ में कवि ने भगवान जिनेन्द्र को प्रणाम कर तीर्थंकर की विभिन्न विशेषताएं बताकर उनका जयजयकार किया है।

''जयजय तम नाशन प्रगट भान। जय जय जित इन्द्रिन तू प्रधान।।
जयजय चारित्र सु यथाख्यात। जय जय अघनिशि नाशन प्रभात।।''

तम अर्थात् अज्ञान और मोह के अंधकार का नाश करने वाले सूर्य के समान तुम्हारी जय हो, इन्द्रियों को जीतने वाले तुम्हारी जय हो, तुम्हारा चारित्र संसार में विख्यात है पाप रूपी रात्रि का समापन करने वाले प्रभात के समान तुम्हारी जय हो।

अन्त में कविवर ने एक ही छंद में समस्त अध्यात्म का सार भरकर मानव को मोक्ष का सरल सा मार्ग सुझाया है।

''ते निज रसरत्ता तज परसत्ता, तुम सम निज ध्यावहि घट में।।
ते शिवगति पावैं बहुर न आवैं, बसैं सिंधु सुख के तट में।।''

प्रस्तुत रचना नौ पद्धरि, दोहा एवं घत्ता छंदों में बद्ध है।

(6) श्री मुनिराज जयमाला

जैन भक्ति में गुरु का भी महत्वपूर्ण स्थान है, यहाँ पंचगुरु माने गए हैं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन्हें ही पंचपरमेष्ठी कहा गया है। आत्मशुद्धि की ओर क्रमिक उत्तरोत्तर विकास के ही ये विभिन्न स्तर हैं। गुरु वह है जो सम्यक् पथ अर्थात् मोक्षमार्ग का निर्देशन करे। इस पद का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जो उस पथ पर चल चुका हो अथवा चल रहा हो। सच्चे साधु उस पथ पर चलते हैं, उसके अंग-अंग से परिचित होते हैं वही संसारी जीवों को उस पथ का अनुसरण करने में सहायता दे सकते हैं। इस रचना में कवि ने मुनियों के कठिन आचरण की विशेषताएं बताते हुए उनको नमन किया है। वे पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का पालन करते हैं- षट आवश्यक (सामयिक, स्तुति, वंदना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग) भूमि पर शयन करते हैं- नग्न रहते हैं, एक ही बार सूक्ष्म सा आहार ग्रहण करते हैं, बाईस परीषह (देखिए परिशिष्ट) सहते हुए कठिन तपस्या करते हैं। इस मुनिगुणमाला को जो अपने हृदय में धारण करता है वह जनममरण के भय से मुक्त हो शिवसंपति को प्राप्त करता है-

"यह श्रीमुनि गुणमालिका, जो पहिरे उर माहिं।। तिनको शिवसंपति मिले, जन्म मरन भय नाहिं।।"

प्रस्तुत कृति दस दोहा छंदों में बद्ध एक गेय रचना है।

(7) अहिक्षिति-पार्श्वनाथ जिन-स्तुति

आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि श्रावकाचार में पूजा के छः भेद स्वीकार किये हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। परमेष्ठियों की स्मृति से चिह्नित स्थानों की पूजा करना ही क्षेत्र पूजा है। प्रस्तुत रचना में तेईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ जी से सम्बंधित प्रसिद्ध तीर्थ अहिक्षेत्र की वन्दना की गई है। यह स्थल भगवान पार्श्वनाथ (ईसा से 850 वर्ष पूर्व) के समय से भी पूर्व पूजनीय था, पार्श्वनाथ विहार करते समय जब यहाँ पधारे और ध्यानमग्न थे उस समय उनके पूर्व जन्म के बैरी कमठ के जीव संवर नामक ज्योतिषी देव ने उनके ऊपर पाषाण वर्षा करके घोर उपसर्ग किया तब देवी पद्मावती और धरणेन्द्र देव ने भगवान पार्श्वनाथ के ऊपर 'नागफण मंडल रूप' छत्र लगाकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी तभी से यह स्थल

अहिच्छत्र या अहिक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हो गया। भक्त श्रद्धेय से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु और स्थान से भी भावात्मक सम्बन्ध रखता है, उसकी वन्दना करना उसके लिये स्वाभाविक ही है। इस रचना में भगवान पार्श्वनाथ के जीवन से सम्बंधित इस घटना का उल्लेख करके पवित्र तीर्थस्थल अहिक्षेत्र की वन्दना की गई है। इस स्तुति की रचना कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष (सुदी) की दशमी गुरुवार संवत् 1731 को हुई थी तथा यह दस दोहा छंदों में निबद्ध है।

(8) जिनगुणमाला

इस रचना में कविवर भैया भगवतीदास जी ने तीर्थकरों की वन्दना की है, उन्हीं तीर्थकरों की जो 18 दोषो से मुक्त और छियालीस गुणों से युक्त हैं। पहले कवि ने बताया कि उनके गुणों का उत्तरोत्तर कैसे विकास होता है। दस गुण तो उनमें जन्मत: ही होते है जैसे उनका शरीर प्रस्वेद रहित तथा मल रहित होता है, उनका रक्त श्वेत होता है, शरीर अत्यंत सुडौल एव द्युतिवान होता है, शरीर की सुगंधि कितने ही योजन तक फैलती है, शरीर अत्यंत बलवान होता है, मुख से वचन सुधा के समान झरते हैं फिर दस गुण और प्रकाश में आते हैं जैसे उनके चारो ओर दो सौ योजन दूर तक अच्छी फसल होती है भगवान के चरण धरती पर नहीं पड़ते, उनसे किसी भी प्राणी का घात नहीं होता, आहार भी नहीं ग्रहण करते, उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती उनके केश और नख नहीं बढ़ते तथा पलक भी नहीं झपकते। तत्पश्चात् 14 गुण देवताओं द्वारा कृत होते हैं धरा दर्पणवत् निर्मल हो जाती है, दक्षिण दिशा से मंद सुगन्ध पवन चलती है, भूमि धूल और कंटकों से रहित हो जाती है। आकाश स्वच्छ हो जाता है, धन धान्य की वृद्धि तथा चारों ओर आनन्द की वृष्टि होती है धर्मचक्र भगवान के आगे-आगे चलता है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति पर आठ लक्षण और परिलक्षित होते हैं- यही **अष्ट प्रातिहार्य** कहलाते हैं, समस्त दुख सन्ताप को हरने वाले **अशोक वृक्ष**, **पुष्प वर्षा**, **दुन्दुभिवादन**, जयजयकार की **दिव्यध्वनि**, भगवान के ऊपर **त्रिछत्र** (तीन छत्र) और नीचे **सिंहासन**, मुख के पीछे **प्रभामंडल** और चारो ओर **चमर** **ढुलाये** जाते हैं।

"चौसठ चवर ढरहिं चहुँ ओर। सेवहिं इन्द्र मेघ जिम मोर।।"

इनके अतिरिक्त भगवान 4 गुणों से युक्त होते हैं जो **अनन्त चतुष्टय** कहलाते हैं; **अनन्तज्ञान**, **अनन्तदर्शन**, **अनन्त सुख** तथा **अनन्त वीर्य**। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान 46 गुणों से युक्त होते हैं तथा **क्षुधा**, **तृषा**, **जरा**, **रोग**, **जन्म**,

मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और **खेद** इन **18 दोषों** से रहित होते है। वैसे तो भगवान अनन्त गुणो के स्वामी हैं किन्तु व्यवहार की दृष्टि से इस प्रकार कहा गया है। प्रस्तुत रचना इक्कीस दोहा चौपाई छदों में बद्ध है।

(9) पंचपरमेष्ठि नमस्कार

अरहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु पंच-परमेष्ठी कहलाते हैं, इन्हें ही पचगुरु भी कहते हैं। यह क्रम साधु से सिद्ध तक उत्तरोत्तर अधिकाधिक आत्मशुद्धि की दृष्टि से रखा गया है। जैन **धर्मावलम्बियों** का सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय 'णमोकार मत्र' पच परमेष्ठी से ही सम्बंधित है। यद्यपि सिद्ध अरहत से भी ऊँचे होते हैं, अरहत के पश्चात सिद्ध पद की प्राप्ति होती है, अरहत सशरीर होते है सिद्ध शरीर भी त्याग चुके होते हैं, एकदम मुक्त, फिर भी अरहंत को सिद्ध से पूर्व स्थान मिला है क्योंकि वे तप करके केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् धर्मोपदेश करते हुए लोकोपकार करते हैं। जैन परम्परा मे इस 'णमोकार मंत्र' को अनादि अनिधन माना जाता है। भगवान महावीर ने 14 पूर्वों की विद्या अपने गणधरो को स्वय प्रदान की थी। उनमें से विद्यानुवादपूर्व (जैन मंत्र विद्या का शास्त्र) का प्रारम्भ इसी णमोकार मत्र से हुआ था। उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर णमोकार मंत्र का प्राचीनतम उल्लेख हाथी गुफा के शिलालेख मे प्राप्त होता है, जिनके निर्माणकर्ता कलिंगाधिपति सम्राट खारवेल ईसा से 170 वर्ष पूर्व हुए थे।

इस लघु रचना मे कविवर भैया भगवतीदास ने पाँचो परमेष्ठियों की विशेषताए बताकर नित्य प्रातः उनका स्मरण करते हुए नमन करने का संदेश दिया है। यह रचना छह दोहा चौपाई छदों मे बद्ध है।

(10) निवार्णकांड भाषा

इस रचना मे सभी निर्वाण क्षेत्रो की वन्दना की गई है। प्रथम तीर्थंकर **ऋषभदेव** का **कैलाश पर्वत** से, 12 वें तीर्थंकर **वासुपूज्य** का **चंपापुर** से, 22 वे तीर्थंकर **नेमिनाथ** का **गिरनार पर्वत** से और 24 वें तीर्थंकर **भगवान महावीर** का **पावापुर** से निर्वाण हुआ है शेष **बीस तीर्थंकरों** को **श्री सम्मेद शिखर** (बिहार) से मोक्ष की प्राप्ति हुई है तथा अनेक मुनियों की भी मुक्ति हुई है। कवि ने प्रारम्भ मे इन पाँचो सिद्ध क्षेत्रों (निर्वाण क्षेत्र) की वंदना की है तत्पश्चात् **पावागिरि, शत्रुंजयगिरि, गजपंथ सिद्धवर कूट, बड़वानी, द्रोणगिरि, कुंथलगिरि, मेढगिरि** आदि तीर्थों की वन्दना की है जहाँ से

कोटि-कोटि मुनिवर मोक्षगामी हुए हैं। 21 चौपाई तथा एक दोहा छंद में बद्ध इस रचना का सृजन वि0 सम्वत् 1741 की आश्विन सुदी दशमी के दिन किया गया।

(11) नन्दीश्वर द्वीप की जयमाला

जैन शास्त्रों के अनुसार, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है उसे लवण समुद्र घेरे हुए है फिर एक द्वीप फिर एक सागर इसी प्रकार अनन्त द्वीप और सागर हैं। इसी क्रम में अष्टम द्वीप है नन्दीश्वर द्वीप। इनमें 52 विशाल एवं अकृत्रिम जिनमंदिर हैं अर्थात् अनादि काल से इन मंदिरो में पाँच धनुष ऊँची जिन प्रतिमाएं विराजमान है। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम आठ दिनों-अष्टान्हिका पर्व में सौधर्म तथा अन्य इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप में जाकर इन अकृत्रिम जिन मंदिरों में स्थापित प्रतिमाओं का अभिषेक तथा पूजन करते हैं। प्रस्तुत रचना में पहले कवि ने नन्दीश्वर द्वीप की स्थिति उसके आकार-प्रकार उसके क्षेत्रफल आदि का परिचय दिया है, उनमे स्थित जिन प्रतिमाओं का वर्णन करके अन्त में उनकी वंदना की है।

'' 'भैया' नितप्रति शीश नवाय। वंदन करहि परम गुण गाय।
इह ध्यावत निज पावत सही। तौ जयमाला नन्दीश्वर कही।।''

प्रस्तुत रचना पन्द्रह दोहा चौपाई छंदों में बद्ध है।

(12) अकृत्रिम चैत्यालय की जयमाला

जैन शास्त्रों के अनुसार त्रिलोक (ऊर्ध्व, मध्य, पाताल) में असंख्यात अकृत्रिम (मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं) जिन चैत्यालय हैं। मध्य लोक मे अढ़ाई द्वीप मे तीन सौ अट्ठानवें, नन्दीश्वर द्वीप में बावन, कुंडलवर द्वीप में चार और रूचकवर द्वीप मे चार अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। इस प्रकार मध्य लोक में केवल चार सौ अट्ठावन अकृत्रिम चैत्यालय हैं।[24] ऊर्ध्व और पाताल लोक में असंख्य अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इनको अनादि-अनिधन मानते हैं। इस रचना में विभिन्न द्वीपों के अकृत्रिम चैत्यालयों की गणना करके अन्त में उनकी वन्दना की गई है। जयमाला की कवि के द्वारा भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी गुरुवार सम्वत् 1745 को रचना की गई। यह तैंतीस दोहा चौपाई छंदों में बद्ध है।

(13) चतुर्विंशति तीर्थंकर जयमाला

आदि में कवि ने चौबीस तीर्थंकरों की सामूहिक रूप से वंदना की है, तत्पश्चात् एक एक तीर्थंकर की किसी विशेषता का संकेत देते हुए उनका

जयजयकार किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

"जय जय जिनदेव सुपार्श्व पास।।
जय जय गुणपुंज कहै निवास।।
जय जय चन्द्रप्रभ चंद्रकान्ति।।
जय जय तिहुं पुरजन हर भ्रान्ति।।"

अर्थात् विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले, गुणों के समूह जिनेन्द्र भगवान सुपार्श्वनाथ तुम्हारी जय हो। चन्द्रमा की ज्योत्सना के समान-शीतलता प्रदान करने वाले तथा प्राणियों की मिथ्या बृद्धि को नष्ट करने वाले चन्द्रप्रभु भगवान की जय हो। प्रस्तुत रचना सत्रह दोहा धत्ता तथा पद्धरि छन्दों में निबद्ध है।

(14) जिनधर्म पचीसिका

इस रचना मे कवि ने जैनधर्म की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालकर उसकी महत्ता बताई है और उसका जयजयकार किया है। **छहों द्रव्य (जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश) नवतत्व (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप, पुण्य)** आदि का ज्ञान जिनधर्म ही प्राप्त कर सकता है। जीव मे अनन्त शक्ति है, वह शरीर से भिन्न है, रागद्वेष के परिणामस्वरूप ही कर्मबंध होता है इन बंधनों को तोड़कर ही वह मोक्षगामी हो सकता है। इस सबका ज्ञान जैनधर्म ही प्रदान करता है--

"जैनधर्म परसाद जीव सब कर्म खपावै।
जैनधर्म परसाद जीव पंचम गति पावै।
जैनधर्म परसाद बहुरि भव मे नहि आवै।
जैनधर्म परसाद आप परब्रह्म कहावै।"

अट्ठाईस दोहे छप्पय सवैया एव कवित्त छंदो में बद्ध इस कृति की रचना कवि ने वि0 स0 1750 की भाद्र सुदि पूर्णिमा को की थी।

उपदेशात्मक साहित्य

साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध है। जहाँ एक ओर साहित्य अपने युग के समाज का दर्पण है वहीं दूसरी ओर उसमें अपने युग के लिये शाश्वत संदेश भी अन्तर्निहित रहता है। वस्तुतः साहित्य सृजन करते समय साहित्यकार के सम्मुख कोई लक्ष्य अवश्य रहता है। सामान्यतः वह अपनी आत्मानुभूति को स्वयं तक सीमित न रखकर उसे जन जन की अनुभूति बना देना चाहता है और स्वअर्जित अनुभव राशि को जन सामान्य में वितरित कर देना चाहता है जिससे भावी पीढ़ियाँ उससे लाभ प्राप्त करती रहें। आचार्यों ने

साहित्य सृजन के अनेक प्रयोजनों का संकेत किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में काव्य के निम्नलिखित प्रयोजन बताये हैं-

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः पर निर्वृतये, कान्तासम्मित तयोपदेश युजे।।"

अर्थात् काव्य से यश और धन की प्राप्ति होती है, वह मानव को व्यवहार कुशल बनाता है, अकल्याणकारी तत्वों का क्षय करता है, शीघ्र ही मुक्ति की प्राप्ति कराता है तथा प्रेयसी के समान मधुर उपदेश देता है। यहाँ 'कान्ता' शब्द साभिप्राय है। उपदेश प्रभु-सम्मित भी होता है, प्रायः नीतिज्ञों एवं धर्मशास्त्रों के द्वारा प्रदत्त उपदेश इसी प्रकार का होता है जैसे 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' आदि, किन्तु इसमें वह माधुर्य और प्रभाव कहाँ जो प्रेयसी के उपेदश में होता है। स्वामी की आज्ञा की तो एक बार उपेक्षा भी की जा सकती है किन्तु 'कान्ता सम्मित उपदेश' इतना प्रभावशाली होता है कि उसकी उपेक्षा करना सरल नहीं होता। साहित्य का उपदेश इसी प्रकार का होता है।

व्यापक दृष्टि से देखें तो साहित्य में प्रायः कोई न कोई संदेश निहित रहता ही है, कहीं वह प्रत्यक्ष रूप में तो कहीं प्रछन्न रूप में। कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक कोई न कोई शिक्षा अथवा संदेश हृदय पर अवश्य छोड़ जाते हैं किन्तु जिस साहित्य में यह तत्व प्रमुख और प्रत्यक्ष होता है उसे उपदेशात्मक साहित्य की संज्ञा दे दी जाती है। नीति साहित्य भी मूलतः उदेशात्मक साहित्य है। डॉ0 भोलानाथ तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी नीति काव्य' में 'नीति' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'णीय' धातु से बताया है, जिसका अर्थ 'ले जाना' होता है अर्थात् 'नीति का कार्य मनुष्य को जीवन में अग्रसर करना है। इस प्रकार नीति काव्य अथवा उपदेशात्मक साहित्य मानव को कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है।

साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनों का उचित समन्वय ही समीचीन होता है। सौन्दर्य तत्व की उपेक्षा करने वाला साहित्य तो ललित साहित्य की कोटि में ही नहीं आ पाता, सत्य से विहीन साहित्य आकाश कुसुम के समान यथार्थ से दूर हो जाता है और शिवं तत्व की उपेक्षा करने वाला साहित्य एकांगी और पंगु हो जाता है। रीतिकालीन अधिकांश साहित्य इसका प्रमाण है। वास्तव में साहित्य वही है जो भूले हुए पथिकों को सन्मार्ग पर लगा दे, तड़पते हुए को सान्त्वना प्रदान करे और जीवन सुधार के मार्ग को प्रशस्त बनावे। कुछ विद्वानों ने उपदेशात्मक अथवा नीति काव्य को उच्च कोटि का साहित्य नहीं माना है। हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नीति के

फुटकल पद्य रचने वालों को कवि स्वीकार न करके 'सूक्तिकार' की संज्ञा दी है और ब्रह्मज्ञान वैराग्य आदि का उपदेश देने वाले ज्ञानोपदेशकों को उन्होंने केवल 'पद्यकार' कहा है, किन्तु उनके कथन पर गम्भीरता से विचार करने पर इसका कारण ज्ञात हो जाता है। नीतिकारो एवं ज्ञानोपदेशकों-दोनों के ही काव्य में अनुभूति तथा रसात्मक प्रभाव का प्राय: अभाव होने के कारण ही शुक्ल जी ने ऐसा कहा है और यह उचित ही है। पहले ही कहा जा चुका है कि सौंदर्य तत्व की उपेक्षा करने वाला साहित्य ललित साहित्य की सीमा से बाहर ही रह जाता है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' के अनुसार रसात्मकता काव्य की आधारशिला है, अत: नीति अथवा उपदेश जब 'सरसता' के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं तब वे साहित्य के अंतर्गत स्वीकृत ही नहीं होते वरन उच्चकोटि के काव्य बन जाते हैं। शुक्ल जी ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है।[25] इसके अतिरिक्त साहित्य में उपदेश जितना ही परोक्ष रहेगा उतना ही वह उच्च कोटि का माना जायेगा। बंगला के प्रसिद्ध लेखक बंकिमचन्द्र ने भी कहा है कि, 'कवि संसार के शिक्षक हैं, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौंदर्य की चरमसृष्टि करके संसार की चित्तशुद्धि करते हैं। कवि आंडेन भी काव्य का कर्त्तव्य, उपदेश देना नहीं मानता तथापि अच्छे-बुरे से हमें सचेत कर देना साहित्य का आदर्श अवश्य मानता है।[26] इस प्रकार साहित्य में उपदेशात्मकता के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ-साथ उसके लिये युग-दीप का कार्य भी करता है। साहित्यकार अपने अनुभव रूपी दीपक के प्रकाश मे जन सामान्य का पथ-प्रशस्त करना चाहता है। डॉ0 भोलानाथ तिवारी के शब्दो में- ''इसकी (नीति की) एक-एक बात जीवन के खरे अनुभवों से सिक्त है और एक ओर यदि वह भूत के अनुभवो का सार है तो दूसरी ओर वर्तमान और भावी समाज की प्रदर्शिका है।'' साथ ही इस तथ्य को भी स्वीाकर करना पड़ेगा कि साहित्य में उपदेशात्मकता प्रकट न होकर जितनी प्रच्छन्न रूप में विद्यमान होगी उतना ही वह काव्य श्रेष्ठ माना जायेगा।

साहित्य मे उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति हमारे यहाँ प्रारम्भ से ही रही है। संस्कृत में ऋग्वेद, ईशावास्योपनिषद, तैत्तरीय, कठोपनिषद् आदि में यत्र-तत्र नीति-वाक्य बिखरे हुए हैं, महाभारत मे धौम्य नीति, विदुरनीति, भीष्मनीति तथा स्मृतियो मे मनुस्मृति का एक-एक श्लोक उपदेश से परिपूर्ण है। चाणक्य-नीति, भर्तृहरि का नीति-शतक तथा पचतंत्र की कथाएं तो इस दृष्टि

से पर्याप्त प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुकी हैं। पाली साहित्य में 'धम्मपद' जिसे बौद्ध धर्म की गीता कहा गया है तथा भगवान बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाओं का संग्रह 'जातक' तथा प्राकृत भाषा में 'गाहा सतसई' का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त भी विपुल साहित्य इस दृष्टि से उपलब्ध है। हिन्दी साहित्य में भी कबीर, तुलसी, रहीम, गिरिधर कविराय, भैया भगवतीदास, भूधर दास आदि ने भी उपदेशपरक साहित्य की रचना की है। यहाँ भैया भगवतीदास की उपदेशप्रधान रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

(1) पुण्यपचीसिका

इस रचना में कवि ने पहले सामूहिक रूप से पंचपरमेष्ठी-अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु की पृथक-पृथक रूप से विशेषताए बताते हुए स्तुति की है। तत्पशचात् कवि सासारिक मानव को अपना आत्मोत्थान करने के लिये विभिन्न प्रकार से उपदेश देता है। इस नाशवान संसार में आत्मा ही एक शाश्वत सत्य है अतः उसी के विकास में रत रहना चाहिये। मूर्ख मानव पाँचों इन्द्रियों के विषय सुख में रत रहता है और उन पाप कर्मों का बधन करता है जो उसे नरकादिक दुखो की प्राप्ति कराते हैं। संसार के सभी ऐश्वर्य सुख समृद्धि जिन पर अज्ञानी मानव गर्व करता है, नश्वर हैं, धूम्र मेघ के समान क्षणभगुर है[27] सांसारिक सम्बंध माता, पिता, सुत, बनिता, बन्धु सब मिथ्या है, इनके मोह के वशीभूत होकर यह जीव संसार के अन्य पदार्थों से रागद्वेष की भावना रखता है और इसी कारण कर्मों का बंधन होता है। विषयासक्त और रागद्वेष से युक्त मानव ज्ञानशास्त्रो का नित्यप्रति मनन करने पर भी उसी प्रकार अज्ञानी है जिस प्रकार रसव्यंजन मे करछी निरन्तर बनी रहने पर भी उसके स्वाद को ग्रहण नही करती।'[28] पच्चीस कवित्त, सवैया, दोहा, आदि छंदो में निबद्ध इस काव्य की रचना कविवर भैया भगवतीदास ने संवत् 1733 मे फागुन मास में कृष्ण पक्ष में की।

(2) अक्षर बत्तीसिका

प्रस्तुत रचना मे कविवर भैया भगवतीदास जी ने हिन्दी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के आधार पर मानव को कोई न कोई उपदेश दिया है। मानव यदि इनसे अपने जीवन को एकाकार करले तो संसार के बंधनों को काट कर मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है। सर्वप्रथम वर्णमाला के सभी अक्षर पंच परमेष्ठी (अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु) के प्रतीक रूप 'ओम्' का नमन करता हैं। तत्पश्चात् वर्णमाला का प्रथम व्यंजन 'क' मानव को करन

अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने तथा कनक एवं कामिनी से विरत रहने का संदेश देता है। 'घ' मनुष्य को 'स्वघर' (मोक्ष) को पहिचानने का संदेश देता है तो 'च' चंचल मन को स्थिर करने का। 'ज' जैन धर्म में श्रद्धा करने का, 'ठ' वर्ण अष्ट कर्मरूपी आठ ठगों से सावधान रहने का, 'प' परमपद की प्राप्ति की प्रेरणा देता है। इस प्रकार प्रत्येक अक्षर कोई न कोई उपदेश देता है। प्रस्तुत रचना में कलापक्ष की प्रधानता है तथा जायसी के 'अखरावट' से साम्य है। यह रचना पैंतीस दोहा चौपाई आदि छंदों में निबद्ध है।

(3) फुटकर कविता

यद्यपि संग्रह में फुटकर कविता के कुछ छंद जिनपूजाष्टक के पश्चात् रखे गये हैं और छंद संख्या जिनपूजाष्टक के बारह छंदो के पश्चात् तेरह से आरम्भ की गई है तथापि इन फुटकर कवित्तों का जिनपूजाष्टक से कोई सम्बन्ध नहीं है। और सूची में भी इसका नाम एक स्वतंत्र रचना के रूप में दिया गया है। चार छदों में से एक मे भगवान के अष्टप्रातिहार्य का वर्णन तथा शेष में बहुदेववाद का त्याग, भगवान पार्श्वनाथ की उपासना, जिनेन्द्र भगवान की महत्ता तथा सिद्ध और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् एकाक्षरी, द्वयक्षरी, त्र्यक्षरी, चतुरक्षरी और प्रश्नोत्तर रूप में पाँच दोहे है जिनमें कलात्मक चमत्कार अधिक है।

(4) शिक्षा छंद

जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है इस रचना में कवि ने मानव को शरीर और संसार की नश्वरता का संदेश देकर स्वयं को पहचानने की शिक्षा प्रदान की है। "रे मूढ़ अचेतन कछु इक चेतो, आखिर जग मे मरना है," यही मुख्य पंक्ति है और यही मुख्य भाव है। तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न सांसारिक तत्वों की क्षणभंगुरता की ओर संकेत कर अंत में कवि ने कहा है कि मानव, जिनदेव का स्मरण कर जिससे तेरा उद्धार हो सकता है। प्रस्तुत रचना में 12 दोहा और मरहठा छंदों का प्रयोग किया गया है।

(5) परमार्थ पद पंक्ति

प्रस्तुत रचना गेय पदों का सग्रह है जिनमें विभिन्न विषयों पर कवि के हृदय की तीव्र अनुभूति निर्झर के रूप में प्रवाहित हुई है। इनमें प्रथम पंक्ति में ही पूरे पद का मुख्य भाव समाहित रहता है और उसी पंक्ति की बार-बार आवृति होती है। कहीं वह शरीर की निकृष्टता बताते हुए कह उठता है 'या देही को शुचि कहा कीजे,' कहीं मनुष्य जन्म को बहुमूल्य बताकर उसको

नष्ट न कर देने का उपदेश देता है "अरे तैं जु यह जन्म गमायोरे।" कभी संसार के स्वार्थपूर्ण सम्बन्धों की निस्सारता देखकर उसके हृदय से यह पद निसृत होता है, 'अब मैं छाड्‌यो पर जंजाल।' कभी वह स्वआत्मालोचन में डूबकर अलापने लगता है, "छाँड़ि दे अभिमान जिय रे।' कभी वह अपनी चेतना के प्रबुद्ध होने पर मगन होकर गुनगुनाने लगता है 'देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै।' ये पद भैरव, देवगंधार, बिलावल, काफी, सारंग, विहाग, सोरठ, केदारा आदि अनेक राग रागनियों में बद्ध हैं।

(6) मिथ्यात्व विध्वंसन चतुर्दशी

प्रस्तुत रचना में सर्वप्रथम चौबीसों तीर्थंकरों की वंदना करके कवि ने मिथ्या बुद्धि जीव की अवस्था बताई है। वह अपने स्वरूप को भूल कर विषय वासनाओं में लिप्त रहता है और अपनी इसी अवस्था को वास्तविक अवस्था समझता है। जब तक परद्रव्य (पुद्‌गल) से उसका अनुराग नहीं छूट सकता तब तक न ही कर्मों का बंधन छूट सकता है न ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। कवि जीव को अनेक प्रकार से सम्बोधता हुआ अंत में इस भावबंधन के छूटने की कुजी रूप इस रहस्य को उद्‌घाटित करता है कि मोह ही कर्मवृक्ष का मूल है। मूल को उखाड़ने पर वृक्ष स्वयं धराशायी हो जायेगा और सारी शाखाएं पत्र सहित कुम्हाला जायेंगी। यह रचना चौदह, छप्पय, कवित्त, दोहा आदि छंदों में निबद्ध हैं।

(7) सिद्धचतुर्दशी

प्रस्तुत रचना में कवि ने ब्रह्म और सिद्ध की एकता का प्रतिपादन करने के पश्चात् बताया है कि जीव में सिद्ध होने की समस्त शक्ति विद्यमान है। "खोल दृग देखि रूप अहो अविनाशी भूप, सिद्ध की समान सब तोपें सिद्ध कहिये।" ज्ञान वर्ण रूप रस गंध स्पर्श शब्द आदि के इन्द्रिय ज्ञान में नहीं है, ज्ञान की उपलब्धि तो आत्म स्वरूप को समझने में है। वीतराग भगवान की वाणी पर श्रद्धा रखने से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। रागद्वेष की संगति से ही कर्मों का बंध होता है और उससे ही जीव इस संसार में इधर उधर भटकता है। यह रचना चौदह, छप्पय, सवैया कवित्त और दोहा छंदों में निबद्ध है।

(8) कालाष्टक

प्रस्तुत रचना में कवि ने काल अर्थात् मृत्यु का सर्वव्यापी आतंक बताया है कि जिन तीर्थंकरों को तीनों लोक के स्वामी शीश झुकाते हैं वे भी

मृत्यु को प्राप्त होते हैं तथा चक्रवर्ती सम्राट भी काल के मुख से नहीं बच पाते। किन्तु वे सिद्ध परमात्मा धन्य हैं जिन्होंने ऐसे बलिष्ठ काल को भी विजय कर लिया है, अतः मानव मात्र को उन्हीं की आराधना करनी चाहिये। यह रचना आठ दोहा छंदों में निबद्ध है।

(9) उपेदश पचीसिका

यह जीव अनन्तकाल से विभिन्न गतियो में भटक रहा है तथा अनन्त कष्ट भोग रहा है। उन कष्टदायी परिस्थितियों में और अधिक रहकर क्या करना है। इस रचना का केन्द्रीय भाव इसी अर्द्धाली पर आधारित है "एते पर एता क्या करना" (जो प्रत्येक चौपाई के अन्त में है) निगोद में जीव एक श्वास में 18 बार जन्म लेता व मरता है, स्थावर जीव के रूप में अनेक कष्टों को भोगता है। पशु पक्षी के शरीर रूप में अनेक दुखो को सहता है नरक गति के दुख तो असीम है। बड़ी कठिनाई से मनुष्य पर्याय मिलती है मनुष्य फिर भी विषय भोगों मे लिप्त हो जाता है। कवि मानव को सचेत करना चाहता है-

"परसंगति के तो दुख पावै, तबहु तोको लाज न आवै।
वासन संग नीर ज्यो, जरना एते पर एता क्या करना।।"

कवि ने 24 चौपाई और 3 दोहो मे बद्ध इस कृति की रचना वि0 स0 1741 के मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष में की है।

(10) सुबुद्धि चौबीसी

जैन धर्म में मान्य तीर्थंकरो की वंदना करने के पश्चात् कवि ने बाह्य आडम्बर जटाजूट धारण करना, शरीर मे भस्म लगाना आदि की व्यर्थता सिद्ध करके मानव देह के प्रति मोह त्याग कर वीतरागी बनने का संदेश दिया है। यह रचना 24 कवित्त सवैया, अनंगशेखर, छप्पय दोहा छंदों में निबद्ध है।

(11) अनित्य पचीसिका

कवि की दृष्टि इस रचना में संसार और जीवन की क्षणभंगुरता पर ही केन्द्रित रही है। मनुष्य यह जानते हुये भी कि इस संसार में उसे सदैव नहीं रहना है और न ही वह कुछ साथ ले जा सकता है तब भी झूठ सच बोलकर कोटि-कोटि संग्रह करने मे रत रहता है। कवि मनुष्य को सचेत करते हुए, विषय वासनाओं तथा बाह्य आडम्बरों से दूर रहकर जिनवाणी पर श्रद्धा रखने का उपदेश देता है, उसी से उसका उद्धार सम्भव है। पूरी रचना छब्बीस कवित्त और दोहा छंदो में निबद्ध है।

(12) सुपंथ कुपंथ पचीसिका

इस संसार में जीव विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में रत है उनमें से कौन सी उचित है कौन सी अनुचित है तथा उसे क्या करना चाहिये, यही बताना इस रचना में कवि का उद्देश्य है। जीव चेतना युक्त होते हुए भी अचेतन बना रहता है। वह सच्चे और झूठे देव, गुरु और शास्त्र में अन्तर नहीं कर पाता, बाह्य-आडम्बरों को धर्म का पंथ समझता है। सुपंथ वही है जिसे सर्वज्ञ प्रभु ने बताया है तथा जहाँ सब तत्वों का भेद बताया गया है। जीव द्रव्य जब पर-द्रव्यों से मोह त्याग देता है तब वह मोक्ष में जा पहुँचता हैं। यह रचना 27 कवित्त सवैया तथा दोहा छंदों में बद्ध है।

(13) मोहभ्रमाष्टक

जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य पुद्गल (शरीर) से भिन्न है किन्तु वह भ्रम के कारण उसे भिन्न नहीं समझता, उसे ही अपना वास्तविक स्वरूप समझता है और उससे अत्यधिक प्रेम करता है यही जीव के सारे कष्टों का मूल है। जिनमत ने ही इस रहस्य को बताया है अन्य मत तो मानव की बुद्धि को और भी अधिक भ्रमित करने वाले हैं। वह युग खंडन मंडन का युग था अत: कवि ने भी उसी शैली को अपना कर अन्य मतमतान्तरों की आलोचना की है। प्रस्तुत रचना आठ कवित्त और तीन दोहा छंदों में निबद्ध है।

(14) आश्चर्य चतुर्दशी

वीतरागी तीर्थंकर जब अरहंत अवस्था में होते हैं अर्थात् सिद्ध (मुक्त) होने से पूर्व शरीर युक्त अवस्था में रहते हैं तब उनके असामान्य क्रिया कलापों को देखकर सामान्य जीव आश्चर्य में पड़ जाते हैं। वे बहुत समय तक भोजन नहीं करते। बोलते हैं तो उनके ओष्ठ नही हिलते किन्तु श्रोता अपनी-अपनी भाषा में उनके संदेश को ग्रहण कर लेते हैं। इस रचना में कवि ने बहिर्लापिका और अन्तर्लापिका पद्धति को अपनाया है जिसमें छप्पय के आरम्भिक भाग में स्वयं बहुत से प्रश्न करता है तत्पश्चात् आधी पंक्ति में उन सबके उत्तर भी दे देता है। प्रस्तुत रचना पन्द्रह कवित्त छप्पय और दोहा छंदों में निबद्ध है।

(15) पुण्यपाप जग मूल पचीसी

पुण्य और पाप ये दोनों ही संसार के मूल हैं इनके कारण ही संसार में सुखी मनुष्य दुखी दिखाई देता है। इन दोनों से पृथक होने पर ही सुख की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु जीव तो अनादिकाल से भ्रम की नींद में सो रहा है,

वह संसार में अत्यधिक मग्न है। कवि उससे पूछता है कि तेरे साथ यहाँ से कौन-कौन जायेगा- पुत्र, पत्नी धन या शरीर ? कोई भी नहीं जायेगा, तब जहाँ जाना है वहाँ का साथी खोज। प्रस्तुत रचना सत्ताईस कवित्त, छप्पय, दोहा आदि छंदों में निबद्ध है।

(16) मूढ़ाष्टक

प्रस्तुत रचना में कवि ने संसार में मूर्ख मनुष्यों के कुछ लक्षण बताये हैं जिसमें मुख्य भाव यह है कि मूर्ख मानव अपने शुद्ध स्वभाव से तो कभी प्रीति करता नहीं पर-द्रव्यों में ही अनुरक्त रहता है यह कैसी मूर्खता है। ऐसे व्यक्ति करुणा के ही पात्र हैं। यह रचना आठ दोहा चौपाई छंदों में निबद्ध है।

(17) वैराग्य पचीसिका

राग संसार का कारण है और वैराग्य मुक्ति का।[29] इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनसे राग करना व्यर्थ है सब नश्वर हैं अन्त में सब साथ छोड़ देते हैं, धन परिवार यहाँ तक कि शरीर भी साथ छोड़ देता है। ऐसे संसार से क्या मोह करना। कवि जीव को सचेत करते हुए कहता है कि यह मनुष्य जीवन फिर मिलने वाला नही है, अत: शीघ्र ही सम्भल जा। यह रचना 25 दोहा छंदों में निबद्ध है।

(18) दृष्टांत पचीसी

प्रस्तुत रचना में कवि ने भाँति-भाँति के दृष्टांत देकर पाँचों पाप (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) तथा रागद्वेष कुसंगति आदि के दुष्परिणाम दिखाकर मानव मात्र के चित्त को इनसे विमुख करने का प्रयास किया है। परिग्रह का दुष्परिणाम दर्शनीय है- मधुमक्खी मधु का संचय करती है तो मधु प्राप्ति के हेतु छत्ते के साथ-साथ उसको भी निचोड़ लिया जाता है। सत्गुरु का महत्व कवि ने कर्मरूपी सर्पों के लिये मोर के समान बताया है-

"चेतन चन्दन वृक्ष सों, कर्म सांप लपटाहिं।।
बोलत गुरुवच मोर के, सिथल होय दुर जाहिं।।"

प्रस्तुत कृति की रचना सं0 1752 वि0 में आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को की गई।

(19) पदराग प्रभाती

इस रचना में केवल दो ही गेय पद हैं- 'साहिब जाके अमर है सेवक सब ताके', पंक्ति से आरम्भ होने वाले पद में ईश्वर की महत्ता बताई गई है

और दूसरे पद में मोह और भ्रम में पड़े हुए मानव की भर्त्सना की गई है-
"कहा तनक सी आयु पै मूरख तू नाचै।"

(20) फुटकर विषय

इस रचना में विभिन्न विषयों पर कुछ छंद संगृहीत हैं। एक-एक छंद में एक-एक भाव बद्ध है। कहीं कवि ने मोह और भ्रम को सारे प्रपंच का मूल बताया है, कहीं बताया कि सम्यक्त्व के उदय होने पर कर्म कषाय कैसे क्षीण हो जाते हैं। एक छंद में कवि ने जैनधर्म में व्याप्त बाहय क्रिया कांड से सावधान रहने का, तथा एक अन्य छंद में सांसारिक धन सम्पदा और ऐश्वर्य पर गर्व न करने का संदेश निहित है। एक दोहे में कवि ने मनुष्य को घर द्वार त्यागने की अपेक्षा रागद्वेष त्यागने का उपदेश दिया है-

"जो घर तज्यो तो कह भयो, राग तज्यो नहिं वीर।
सांप तजै ज्यों कंचुकी, विष नहीं तजै शरीर।।"

यह रचना तैंतीस कवित्त छप्पय सवैया तथा छंदों में निबद्ध है।

(21) परमात्म शतक

प्रस्तुत कृति में कविवर भैया भगवतीदास जी ने सांसारिकता से विरत होकर परमात्म पद की प्राप्ति को ही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य बताया है और उसके लिये अनेक परामर्श दिये हैं। परमपद की प्राप्ति के लिये मनुष्य को कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। किसी की आराधना करने की आवश्यकता नहीं, अपनी ही आत्मा को कर्मविमुक्त कर परमात्मा की अवस्था तक पहुँचाना है, इस तथ्य को कवि ने कितने सरल ढंग से स्पष्ट कर दिया है-

"परमारथ पर में नहीं, परमारथ निज पास।
परमारथ परिचय बिना, प्राणी रहै उदास।।"

संसार में सभी ओर इस पुद्गल (नाशवान शरीर) के प्रति मोहममता का साम्राज्य है जब जीव इसे 'पर' (पराया) समझ इससे प्रीत छोड़ देता है और आत्म शुद्धि की ओर ध्यान लगा लेता है तब उसे परमपद की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है। इस काव्य कृति का कला पक्ष बहुत उत्कृष्ट है, यमक अलंकार का चमत्कार तो देखते ही बनता है। सौ दोहा तथा सोरठा छंदों में बद्ध इस कृति की रचना कविवर भैया के द्वारा फाल्गुन शुक्ल तृतीया सं0 1732 वि0 को की गई है।

चित्रकाव्य

अठारहवीं शताब्दी का युग भारत के सांस्कृतिक इतिहास में कंचन कामिनी और कादम्ब का युग था, प्राय: सभी राजा और सामन्त विलासिता के पंक में आकठ मग्न रहते थे जिसका प्रभाव कविता कामिनी पर पड़ना भी स्वाभाविक ही था। कवि जन भी काव्य को जीविकोपार्जन का साधन बनाये हुए थे। वे अपने स्वामी की प्रवृत्ति के अनुकूल शृंगार रस की सरिता बहाकर अपने कविकर्म की इतिश्री कर रहे थे। उनकी स्वयं की प्रवृत्ति भी उसी में रम रही थी। नायिकाओं के एक-एक अंग प्रत्यग का वर्णन करने में उनका मन जितना रम रहा था उतना किसी अन्य तत्व में नही, यहाँ तक कि उनकी धार्मिकता भी, जो राधा कृष्ण के नाम का आवरण मात्र ओढ़े हुए थी, शृंगारिकता से ओत-प्रोत थी। सस्कृत के रीतिग्रन्थो के अनुकरण पर विभिन्न अलंकारो तथा छदो के लक्षण और उदाहरण देकर परम्परा का पिष्टपेषण करना ही उनका अभिप्रेत था किन्तु इसी समय कुछ जैन कवि शुद्ध आध्यात्मिक साहित्य सृजन भी कर रहे थे, जिससे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार बहुत समय तक अनभिज्ञ रहे। जहाँ तक भाव सामग्री और विषयवस्तु का प्रश्न है इनमें से अधिकांश कवि अपने युग के विलास वैभव से अप्रभावित रहे,शृगारिकता उनके मानस को स्पर्श भी न कर पाई किन्तु कला के क्षेत्र में ये भी अपने युग से अछूते न रह पाये। अलंकार व छद उनके काव्य में सहजस्वाभाविक रूप में ही आये हैं, वे भावाभिव्यक्ति में साधन ही बने हैं, साध्य नहीं बन पाये हैं, किन्तु तत्कालीन कवियों की चमत्कार प्रियता को इन कवियो ने भी अपनाया है। इन्होंने कहीं एकाक्षरी दोहे लिखे हैं तो कहीं द्वयक्षरी। कहीं प्रहेलिकाए लिखी है जिनमें एक ही दोहे या कवित्त में बहुत से प्रश्न किये गये हैं और उसी में एक विशेष क्रम से पढ़ने पर, उनके उत्तर निकल आते हैं, इसी प्रकार बहुत से प्रश्नों का उत्तर एक ही शब्द में श्लेष से विभिन्न अर्थों के रूप में निकलता है। रीतिकालीन हिन्दी काव्य में चमत्कार-प्रियता सीमा को पार करने लगी थी यद्यपि इनका पथ प्रदर्शन तो लीला पुरुषोत्तम के क्रीड़ा रसिक सूरदास ही अपनी साहित्य लहरी द्वारा कर गये थे। इसी शब्द क्रीड़ा में चमत्कार का चरम बिन्दु चित्र-काव्य के रूप में दिखाई पडता है।

जैसा कि नाम से ही आभास हो जाता है कि चित्र के रूप में कविता

को बांधना ही चित्र काव्य है। हिन्दी शब्द सागर के अनुसार चित्रकाव्य एक प्रकार का काव्य है जिसके अक्षरों को विशेष क्रम से लिखने से कोई विशेष चित्र बन जाता है। लाला भगवान दीन चित्रकाव्य के विषय में लिखते हैं कि ''इसमें अलंकारत्व नहीं है केवल कवि की चतुराई और परिश्रम का परिचय मिलता है। इस काव्य द्वारा कमल, छत्र, चक्र, चंवर, खंड, नखत, दंड, रथ, ध्वजा, हाथी, घोड़ा, मनुष्य, हंस, दर्पण, वृक्ष इत्यादि के चित्र बन सकते हैं।[30]

हिन्दी कवियों को चित्रकाव्य की प्रेरणा संस्कृत काव्यों से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई। संस्कृत में चित्रकाव्य की परम्परा पर्याप्त समृद्ध एवं प्राचीन रही है। आचार्य दंडी ने 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में यमक चक्र के अनन्तर अठारह श्लोकों के चित्र चक्र का वर्णन किया है उनके वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि 'काव्यादर्श' की रचना से पूर्व भी चित्रकाव्य विश्वप्रिय था। अग्नि-पुराणकार, रुद्रट (काव्यालंकार), मम्मट (काव्यप्रकाश), रूय्यक, (अलंकार सर्वस्व), जयदेव तथा विश्वनाथ (साहित्य दर्पण) आदि आचार्यों ने चित्रबद्ध काव्य का वर्णन किया है। चित्रकाव्य की कवि-गोष्ठियों में बडी धाक थी। काव्य शास्त्री इसको चित्रकाव्य के अन्तर्गत स्थान देता था। कालान्तर में इसको शब्द का चमत्कार मानकर अलंकार के अर्न्तगत इसका वर्णन होने लगा। कुछ समय पूर्व श्री जुगल किशोर मुख्तार को अजमेर के एक जैन मंदिर के शास्त्र भंडार से एक संस्कृत का चित्रबंध स्तोत्र प्राप्त हुआ है जिसमें 24 तीर्थंकरों की 24 भिन्न-भिन्न चित्रालंकारों में स्तुति की गई है।[31]

हिन्दी कवियों ने भी इस परम्परा को अपनाया। आचार्य केशव ने 'कविप्रिया' के अन्त में सोलहवें प्रभाव में चित्रालंकार तथा प्रहेलिका आदि का विस्तार से वर्णन किया है तथा कमलबंध, धनुषबंध, सर्वतोमुख, डमरूबंध आदि के चित्र दिये है। जगत सिंह ने 'चित्रमीमाँसा' तथा काशी-नरेश चेतसिंह के पुत्र बलवान सिंह ने सं0 1889 वि0 में 'चित्रचंद्रिका' की रचना की, जिनमें चित्रकाव्य का विस्तृत विवेचन किया गया है। भिखारीदास ने काव्य निर्णय में (इक्कीसवें अध्याय में) तथा कन्हैयालाल पोद्दार ने अन्तिम शब्दालंकार के रूप में चित्र काव्य का वर्णन किया है। जैन कवियों ने भी चित्रकाव्य की रचना की है। डॉ0 प्रेमसागर जैन के अनुसार 'जैन कवियों को 'चित्रबंध' से विशेष प्रेम था। उन्होंने इतने कठिन अलंकारों का प्रयोग आसान और स्वाभाविक ढंग से ही किया है।''

आचार्य केशव ने चित्रालंकार को 'समुद्रवत' कहा है, जिसमें विचित्र

प्रतिभा वाले कवि भी डूब जाते हैं। अपने द्वारा वर्णित चित्रकाव्य को उन्होंने उसी सागर की एक बूंद के एक कण के समान बताया है। किन्तु तत्कालीन कवि इस प्रकार के काव्य को निम्न कोटि का, अधम काव्य मानते थे। वस्तुत: इस प्रकार के काव्य में हृदय पक्ष लगभग शून्य होता था और मस्तिष्क का योगदान ही अधिक रहता था। कविता रूपी पक्षिणी के भाव-पक्षों को काट-छांटकर उसे नैसर्गिक सौंदर्य से विहीन कर दिया जाता था , वह पंगु हो जाती थी। भैया भगवतीदासकृत चित्र काव्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-।

त्रिपदीबद्ध चित्र

प	सं	प	से	त	नि	उ	र	म	धा
र्म	व	र	व	ज	ज	ध	न	न	रि
ध	से	व	मे	त	नि	सु	र	ध	धा

चित्र सं0 1

दोहा इस प्रकार है-

''पर्म सेव पर सेव तज, निज उधरन मन धारि,

धर्म सेव वर सेव तज, निज सुधरन धन धारि।''

इस दोहे में प्रत्येक तीसरा वर्ण समान रखा गया है अर्थात् लिखा तो एक ही बार जाता है किन्तु पढ़ा दो बार जाता है, (चित्र में) प्रथम पंक्ति के साथ भी और तृतीय पंक्ति के साथ भी। इसमें निश्चित रूप से कवि की दृष्टि वर्ण चयन पर ही विशेष रूप से केन्द्रित रही है। इस दोहे का तो अर्थ स्पष्ट है, 'हे जीव पर-द्रव्य (शरीर) की सेवा छोड़कर परम भगवान जिनेन्द्र की सेवा कर अपने उद्धार की बात सोच। धर्म की सेवा ही श्रेष्ठ सेवा है वही स्वयं के सुधार के लिये धन सम्पदा है।' इसी दोहे को त्रिपदी पंचकोष्ठक एवं सप्तकोष्ठक त्रिपदी चित्र के रूप में भी दिया गया है।

एक ही दोहे को विभिन्न चित्रों में बद्ध करना अत्यंत दुष्कर कार्य होता है। स्पष्ट है कि इस प्रयास में कवि के मस्तिष्क को अत्यधिक व्यायाम करना पड़ा होगा।

शब्द क्रीड़ा का एक और चमत्कार देखिये, एक दोहा है-

"अैन धर्म में जीव की कही जात तहकीक।
जैन धर्म में जीत की, लही बात यह ठीक।।"

इसको कवि ने तीन प्रकार के चित्रों में बद्ध किया है। इनमें से अश्वगतिबद्ध चित्र के रूप में यहाँ प्रस्तुत है-

अश्वगतिबद्ध चित्र

जै	न	ध	र्म	में	जी	व	की
क	ही	जा	त	त	ह	की	क
अै	न	ध	र्म	में	जी	त	की
ल	ही	बा	न	य	ह	ठी	क

चित्र सं0 2

जैसे शतरंज के खेल में अश्व की गति होती है (ढाई घर चलने की) वैसी ही गति पढ़ते समय इस चित्र में अपनाई जाती है अर्थात् प्रथम पंक्ति के प्रथम अक्षर के पश्चात् तृतीय पंक्ति का दूसरा अक्षर पढ़ा जाता है, तत्पश्चात् प्रथम पंक्ति का तृतीय, फिर तृतीय पंक्ति का चतुर्थ, इसी क्रम से सारा चित्र पढ़ा जाता है। शब्दों के इस गोरख धंधे को देखकर किसका मस्तिष्क चमत्कृत न हो उठेगा।

कवि के मस्तिष्क का व्यायाम यहीं तक सीमित नहीं है। प्रस्तुत सर्वतोभद्रगति चित्रम् में कितना चमत्कार है शब्द चयन का, जिस ओर से भी पढ़ेंगे एक ही दोहा बनेगा। चाहे आप इसे ऊपर से दायें से बायें पढ़ें चाहे बायें से दायें ऐसे ही नीचे से दायें से बायें या बायें से दायें पढ़ें अथवा दाहिनी ओर से नीचे से ऊपर ओर पढ़ें या ऊपर से नीचे की ओर, इसी प्रकार बाई ओर से पढ़े, एक ही दोहा बनेगा। दोहा इस प्रकार है-

"न तन में मैन तन, तहेम सुसुमहेत।
न मन में मन, मै सु मै हौं हौं मै सु मै।।"

सर्वतोभद्रगति चित्र

न	न	न	मे	मे	न	न	न
न	है	म	मु	मु	म	ह	ल
न	म	न	मे	मे	न .	म	न
मे	सु	म	लों	लों	म	मु	मै
मै	मु	मै	लों	लों	मै	मु	मै
न	म	न	मे	मे	न	म	न
ल	है	न	मु	मु	म	ह	ल
न	न	न	मे	मे	न	न	न

चित्र सं0 3

हृदय की अपेक्षा बुद्धि को चमत्कृत् करने वाले ऐसे अनेक चित्रबद्ध काव्य भैया भगवतीदास के सग्रह ब्रह्मविलास मे संगृहीत हैं, जिनमे से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

विंशतिपत्र कमलाकारबद्ध चित्र
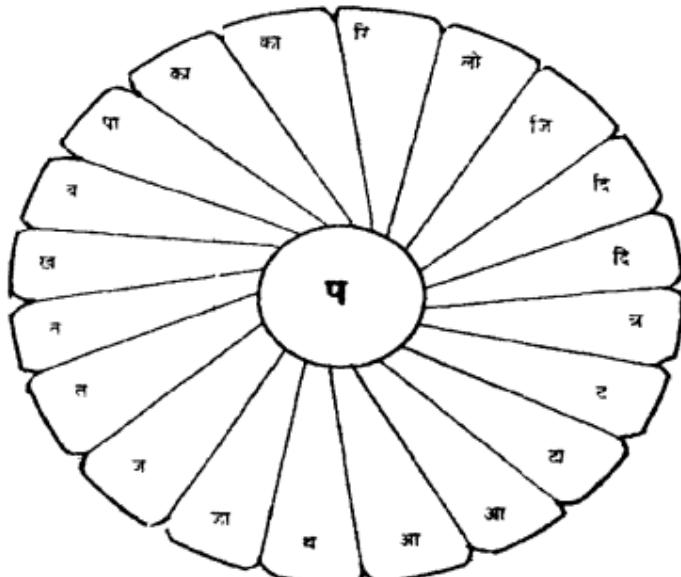
चित्र सं0 4

"आप आप थप जाप जप, तप तप खप बप पाप।।
काप कोप रिप लोप जिप, दिप दिप त्रप टप टाप।।"

इस चित्र में प्रत्येक पंखुरी के अक्षर के साथ बीच में स्थित अक्षर 'प' अवश्य पढ़ा जाता है।

चमराकारबद्ध चित्र
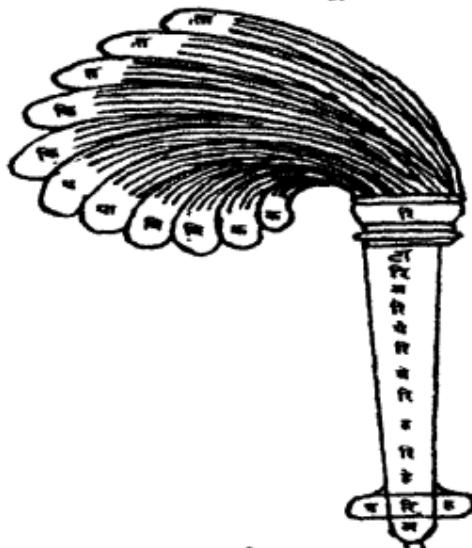
चित्र स0 5

"अरि परि हरि अरि हेरि हरि, धेरि धेरि अरि टारि।
करि करि थिरि थिरि धारि धरि, फिरि फिरि तरि तरि तारि।।"

इसी प्रकार नागबद्ध चित्र बहिर्लापिका तथा चित्रकाव्य का मिश्रित उदाहरण है। इसमें चित्र के साथ एक पद्य है, जिसमें 13 प्रश्न हैं, जिनके उत्तर उसी नागबद्ध चित्र में दिये गये हैं। सर्प के भीतर एक 13 वर्णों की पंक्ति और छिपी हुई है 'श्री जिनराज चरन नित बंदीजै।' इस पंक्ति के प्रत्येक अक्षर का उपयोग इन तेरह प्रश्नों के उत्तर में भी किया गया है। पद्य इस प्रकार है–

"कहाँ अंस को जनम ? नाम कहा दूजे जिनको ?
कौन सीय अपहरी ? कहो तीजो सहन को ?
दयावंत कहा करै ? कौन वर्णादिक पेखै ?
को अति जल संग्रहै ? श्रवण गुण को कहु लेखै ?।।

साधु चलत किम धरणिपर ? भद्दलिपुर जिन कवन हुव ?।।
कवन अक्रित्तम ? कवन प्रभु ? कवन शिरोमणि धर्म तुव ?।।''

नागबद्ध चित्र

चित्र सं0 6
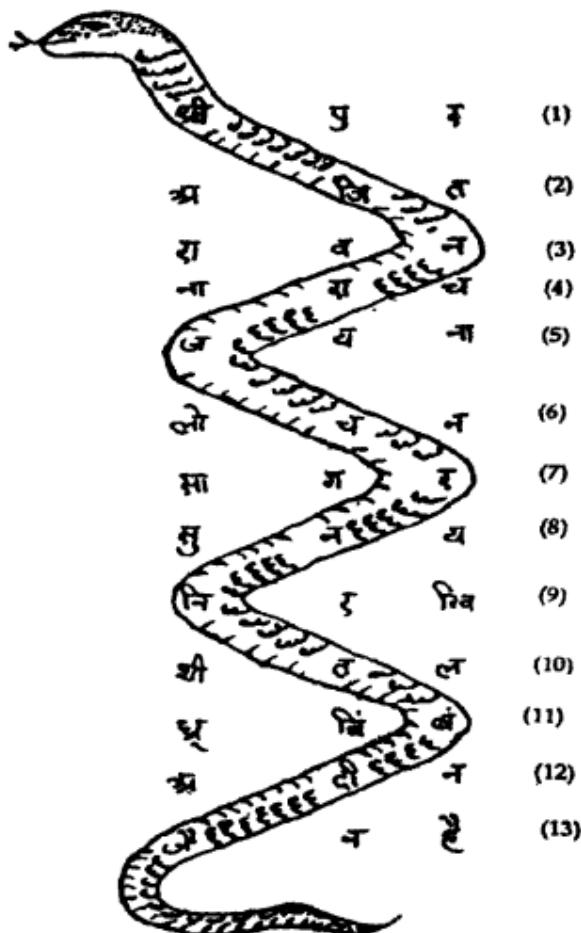
इनके अतिरिक्त कवि ने पर्वतबद्ध, चटाईबद्ध, चक्रबद्ध, धनुषबद्ध, हारबद्ध चित्र और प्रस्तुत किये हैं।

ज्योतिष के छंद

भैया भगवतीदास बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अनेक भाषाओं के साथ-साथ उन्हें ज्योतिष का भी ज्ञान था, इसका प्रमाण है उनके द्वारा रचित 'ज्योतिष के कुछ छंद'। यद्यपि 'ब्रह्मविलास' में ज्योतिष विषयक उनके केवल पाँच छंद-तीन छप्पय एवं दो दोहे ही प्राप्त होते हैं तथापि उनके ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान की गम्भीरता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी भी विषय पर लेखनी तब ही उठा सकता है जबकि उसका उस विषय पर अधिकार हो। कवि ने इन छंदों में ज्योतिष के मूलभूत सिद्धान्तों को पद्यबद्ध किया है। भारतीय ज्योतिष पूर्णत: वैज्ञानिक है। समस्त आकाशमंडल को ज्योतिषशास्त्र ने 27 भागों में विभक्तकर प्रत्येक भाग का नाम एक-एक नक्षत्र रखा है। जैसे अश्विनी, रोहिणी, चित्रा, आर्द्रा, स्वाति आदि। इसी प्रकार 12 राशियां मानी हैं। आकाश मे स्थित भूचक्र के 360 अंश अथवा 108 भाग होते हैं। समस्त भूचक्र 12 राशियों में विभक्त है, अत: 30 अंश अथवा 9 भाग की एक राशि होती है।'' ये राशियां इस प्रकार है-1 मेष, 2 वृष, 3 मिथुन, 4 कर्क, 5 सिंह, 6 कन्या, 7 तुला, 8 वृश्चिक, 9धनु 10 मकर, 11 कुम्भ, 12 मीन। ज्योतिर्विदों ने इन राशियों के स्वरूप निश्चित किये हैं। और इनका सम्बन्ध मुख्य नव ग्रहों के साथ स्थापित किया है। नवग्रह इस प्रकार है- सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। भैया भगवतीदास ने प्रथम छप्पय मे वर्ष में 360 दिनों को नवग्रहों की दशाओं में विभाजित किया है। सूर्य के 20, चन्द्रमा के 50, मंगल के 28, बुध के 56, शनि के 36, बृहस्पति के 58, राहु के 46, तथा शुक्र के 70 दिन निर्धारित किये हैं। दूसरे छप्पय में कवि ने कौन सा ग्रह किस-किस राशि का स्वामी है, इसका निर्देश किया है। इनमें से सूर्य सिंह राशि के तथा चन्द्र कर्क राशि के स्वामी हैं। ये दोनों ग्रह एक-एक राशि के स्वामी हैं और मंगल-मेष तथा वृश्चिक के, शुक्र-वृष और तुला राशि के बृहस्पति-मीन और धनु राशि के, बुध-कन्या और मिथुन के तथा शनि-मकर और कुम्भ राशि के स्वामी हैं। द्रष्टव्य है प्रस्तुत छंद-

''मेष वृछिक पति भौम, वृषम तुलनाथ शुक्र सुर।
मीनराशि धनराशि ईश, तस कहत देव गुरु।।

कन्या मिथुन बुधेश, कर्क स्वामी श्री चंद गणि।।
मकर कुम्भ नृप शनी, सिंह राशिहि प्रभु रवि मणि।।
ये राशी द्वादश जगत में, ज्योतिष ग्रंथ बखानिये।
तस नाथ सात लखि भविक जन, परम तत्व उर अनिये।।"

कुछ विशेष राशियों में विशेष ग्रहों के स्थान उच्च माने जाते हैं। तीसरे छप्पय में कवि ने यही बताया है। मेष में सूर्य, वृष में चन्द्र, मकर में मंगल, कन्या में बुध, कर्क में बृहस्पति, मीन में शुक्र, तुला में शनि, मिथुन में राहु उच्च (स्थान) के माने जाते हैं। उच्च स्थान-स्थित ग्रह अपने भाव की वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त इनकी विपरीत राशियों में उन्हीं ग्रहों को नीच स्थान का माना जाता है। चतुर्थ और पंचम दोहा छंदों में कवि ने इसी तथ्य का उल्लेख किया है। तुला राशि में सूर्य, वृश्चिक में चन्द्रमा, कर्क में मंगल, मीन में बुध, मकर में बृहस्पति, कन्या में शुक्र, मेष मे शनि, धन में राहु नीच स्थान के माने जाते हैं ऐसा होने पर ग्रह जिस भाव (राशि) मे स्थित है उसकी हानि करते हैं। द्रष्टव्य है प्रस्तुत छंद-

"तुल सूरज वृश्चिक शशी, कर्क भौम बुध मीन।।
मकर बृहस्पति कन्य भृगु, मेष शनिश्चर दीन।।
राहु होय धन राशि जो, ए सब कहिये नीच।।
परमारथ इनमें इतो, रहिये निज सुख बीच।।"

अन्त मे भैया भगवतीदास कहते हैं-

"परमारथ इनमें इतो, रहिये निज सुख बीच।।"

अर्थात् कवि की दृष्टि अन्ततः अध्यात्म पर ही केन्द्रित है। सुख इन सब में नहीं अपने भीतर ही है, उसमें ही लीन रहना चाहिये।

काव्यानुवाद

भैया भगवतीदास कृत 67 रचनाओं के संग्रह 'ब्रह्मविलास' में केवल एक ही रचना ऐसी है जो कवि की मौलिक कृति न होकर अनुवाद है। यह है- द्रव्य संग्रह। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव द्वारा रचित द्रव्य संग्रह जैन धर्मावलम्बियो मे पर्याप्त लोकप्रिय है। "श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव एक महान आचार्य और सिद्धान्त व अध्यात्म ग्रन्थों के पूर्ण पारगामी थे, इसी कारण 'सिद्धान्त-देव' उनकी उपाधि थी। उनके निश्चित समय का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव के कथनानुसार श्री नेमिचन्द्र

आचार्य राजा भोज के समकालीन 11 वीं शताब्दी के महान विद्वान व कवि प्रतीत होते हैं।''[32]

इस ग्रंथ में जैन दर्शन का बहुत कुछ सार भर दिया गया है, इसमें तीन अधिकार हैं, प्रथम अधिकार में षट द्रव्यों का, द्वितीय अधिकार में सात तत्वों का तथा तृतीय अधिकार में मोक्षमार्ग स्वरूप रत्नत्रय-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रारम्भ से सत्ताईस गाथाओं तक प्रथम अधिकार, अट्ठाईस से अड़तीस गाथाओं तक द्वितीय अधिकार, तत्पश्चात् अट्ठावन गाथाओं तक तृतीय अधिकार है। दो पंक्तियों की संक्षिप्त सी गाथाओं में गहन एवं विस्तृत अर्थ भरे हुए हैं। भैया भगवतीदास ने स्वयं इस तथ्य की ओर संकेत किया है-

''गाथा मूल नेमिचन्द करी। महाअर्थ निधि पूरण भरी।।
बहुश्रुत धारी जे गुणवंत। ते सब अर्थ लखहि विरतंत।।''

द्रव्य संग्रह मूलत: प्राकृत में है, भैया भगवतीदास ने उसका हिन्दी कविता में अनुवाद किया है। मूल ग्रंथ में 58 गाथाएं हैं, कवि ने उसी क्रम से उन्हें 58 छंदों में बद्ध किया है, जिनमें अधिकतर कवित्त हैं, कुछ दोहा चौपाई, सवैया, कुंडलिया और छप्पय छंद भी है।

कवि ने मूल भाषा की दो पंक्तियों का विस्तार कवित्त के चार चरणों में किया है। कवित्त के चार चरणों में सामान्य तथा प्रथम दो पंक्तियों मे मूल का अनुवाद है तथा शेष दो में उसी भाव का विस्तार है। मूल गाथा सहित एक उदाहरण दृष्टव्य है-

''णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवयेहिं संजुत्ता।।''

अनुवाद इस प्रकार है-

''अष्टकर्महीन अष्ट गुणयुत चरमसु।
देह तातें कछु ऊनो सुख को निवास है।
लोकको जु अग्र तहां स्थित है अनन्त सिद्ध,
उतपादव्यय संयुक्त सदा जाको बास है।
अनन्तकाल पर्यन्त थिति है अडोल जाकी,
लोकालोक प्रतिभासी ज्ञान को प्रकाश है।
निश्चै सुखराज करै बहुरि न जन्म धरै,
ऐसो सिद्ध राशनि को आतम विलास है।''

कुछ गाथाओं का अनुवाद दोहा छंदों में किया है।

अन्त में कवि ने इस कृति के उद्देश्य आदि पर प्रकाश डालते हुए सात छंद और लिखे हैं। कवि ने बताया है कि द्रव्य संग्रह के गुण उदधि के समान हैं जिनका मैने यथाशक्ति निजमति के अनुसार वर्णन किया है।

''द्रव्यसंग्रह गुण उदधि सम किंह विधि लहिये पार।
यथाशक्ति कछु वरणिये, निजमति के अनुसार।।''

'निजमनि' से हमे उपर्युक्त भाव-विस्तार का सकेत मिलता है। कवि ने केवल 'मक्षिका-स्थाने-मक्षिका' प्रवृत्ति को नहीं अपनाया, वरन् अपने आराध्य पूर्वाचार्य के भावो को पूर्णत: आत्मसात करके उनको अत्यंत स्पष्ट कर दिया है।

सामान्य बुद्धि के मनुष्य प्राकृत की मूल गाथाओं का अर्थ नहीं समझ सकते, अत. इस महत्वपूर्ण रचना को जन-सामान्य के लिये बोध-गम्य बनाने के हेतु कवि ने इसका हिन्दी भाषा मे अनुवाद तथा भाव विस्तार करके अत्यत लोकोपकारी कार्य किया है-

''जो यह ग्रथ कवित्त मे होय। तौ जगमाहि पढ़ै सब कोय।
इहविधि ग्रथ रच्यो सुविकास। मानसिह व भगोतिदास।।''

प्रस्तुत उदाहरण इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि भैया भगवतीदास ने इस कृति की रचना अपने मित्र मानसिंह के सहयोग से की थी। डॉ0 प्रेमसागर जैन ने इस रचना को उनके मित्र मानसिह कृत माना है किन्तु उपर्युक्त पंक्ति से यह अर्थ ध्वनित नहीं होता, प्रत्युत भैया भगवतीदास ने अपने मित्र मानसिह के सहयोग से प्रस्तुत कृति की रचना की है। उक्त कृति की रचना माघ सुदि दशमी वि0 सम्वत् 1731 को की गई थी।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 डॉ0 नगेन्द्र, **कामायनी के अध्ययन की समस्यायें**, पृ0 सं0 41, 42

2 ''काया सी जु नगरी मे चिदानद राज करै,
माया-सी जु रानी पै मगन बहु भयो है।
मोह सो है फौजदार क्रोध सो है कोतवार,
लोभ सो बजीर जहाँ लूटिबै को रहयो है।''
-भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 28

3. "पुग्गल के हारे हार पुग्गल के जीते जीत,
पुग्गल की प्रीत संग कैसे बह बहे हो।
लागत हो धाय धाय, लागे न उपाय कछु,
सुनो चिदानन्द राय। कौन पंथ गहे हो।
-भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 9

4. "काल अनादि तैं फिरत फिरत जिय, अब यह नरभव उत्तम पायो।
समुझि-समुझि पंडित नर प्रानी, तेरे कर चिंतामणि आयो।
घट की आँखों जोहरी, रतन जीव जिन देव बतायो।
तिल में तेल बास फूलनि में, घट में घटनायक गायो।"
-भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 85

5. "पचन सो भिन्न रहे कंचन ज्यों काई तजैं;
रंच न मलीन होय जाकी गति न्यारी हैं,
कंजन के कुल ज्यों स्वभाव कीच छुवै नाहीं,
बसै जलमाहिं पै न ऊर्द्धता बिसारी हैं।।"
-भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 55

6 "यही मोह नृप मोहि भुलाय। निजपुत्री दीन्ही परनाय।
X X X X X X
जडपुर को मुह कियो नरेश। मैं जानो सब मेरो देश।
तब में पाप किये इहि संग। मानि मानि अपने रस रंग।"
-भैया भगवतीदास, **चेतनकर्मचरित्र**, छं0 सं0 79, 82

7 "इतने दिन लो पालिकें, मैं तुम कीने पुष्ट।
तातें लरिबे को भये गुण लोभी महादुष्ट।।
जाहु जाहु पापी सवै, चेतन के गुण जेह।
मोको मुख न दिखावहु छिन में करिहों स्नेह।।
- भैया भगवतीदास, **चेतनकर्मचरित्र**, छं0 सं0 115, 116

8. "कानन की बातैं सुनी, सांची झूठी होय।
आँखिन देखी बात जो, तामें फेर न कोय।।
इन आँखिन सो देखिये, तीर्थंकर को रूप।
सुख असंख्य हिरदै लसे, सो जाने चिद्रूप।"
-भैया भगवतीदास, **पंचेन्द्रिय संवाद**, छं0 सं0 50, 51

9 ''तब बोले मुनिराज जी, मन क्यों गर्व करंत।
- देखहु तंदुल मच्छ को तुमतै नर्क परंत।।
अर्थात् तंदुल मच्छ तेरे ही कारण नरक में जाता है। कहा जाता है कि जल मे बडे मच्छ के कान में एक छोटा सा मच्छ रहता है। बड़े मच्छ के मुख में छोटे-छोटे जीव जाते और निकलते रहते हैं, उन्हें जाता आता देखकर छोटा तंदुल मच्छ हर समय दुखी व क्रोधित रहता है कि इस बडे मच्छ के स्थान पर मैं होता तो सबको खा लेता। इस भावना के कारण ही तंदुल मच्छ नरक में जाता है।
-भैया भगवतीदास, **पंचेन्द्रिय संवाद**, छं0 सं0 117

10 ''मन राजा की सैन सब, इन्द्रिय से उमराव।
रात दिना दौरत फिरै, करै अनेक अन्याव।।''
- भैया भगवतीदास, **मनबत्तीसी**, छं0 सं0 10

11 श्री बलदेव उपाध्याय, **भारतीय दर्शन**, तृतीय संस्करण 1948 पृ0 सं0 3, 4

12. प0 कैलाशचद शास्त्री, **जैन धर्म**, पृ0सं0 62,63

13 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, द्वितीय सस्करण 1957, पटना 3, पृ0 सं0 11

14 ''छहो सु द्रव्य अनादि के जगत माहि जयवंत।
को किस ही कर्ता नहीं, यों भाखे भगवंत।।''
- भैया भगवतीदास, **अनादि बत्तीसिका**, छं0 सं0 2

15 ''अपने अपने सहज सब उपजत विनशत वस्त।
है अनादि को जगत यह इहि परकार समस्त।।''
- भैया भगवतीदास, **अनादि बत्तीसिका**, छं0 सं0 26

16 ''कर्मन के सयोग से भये तीन परकार।
एक आतम द्रव्य को कर्म नचावन हार।।''
- भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छं0 सं0 16

17 ''मैंहि सिद्ध परमातमा, मैं ही आतमराम।
मै ही ज्ञाता ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम।।''
-भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छं0 सं0 12

18. "नरकन में जिय डारिये, पकर पकर के बांह।
जो करता ईश्वर कहो, तिनको कहा गुनाह॥"
– भैया भगवतीदास, **कर्ता अकर्ता पचीसी**, छं0 सं0 12

19. डॉ0 प्रेमसागर जैन, **जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि**, पृ0 सं0 25

20. 'पूजा कोटि समं स्तोत्र स्तोत्र-कोटिसमो जयः।
जय-कोटिसमं ध्यानं ध्यान-कोटिसमो लयः॥'
अर्थात् कोटि बार पूजा करने का जो फल है उतना फल एक बार स्तोत्रपाठ करने में है। कोटि बार स्तोत्र पढ़ने से जो फल होता है, उतना फल एक बार जप करने में होता है। इसी प्रकार कोटि जप के समान एक बार के ध्यान का फल और कोटि ध्यान के समान एक बार के तप का फल जानना चाहिये। पं0 हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, पूजा स्तोत्र, जप, ध्यान और लय, **अनेकान्त**, फरवरी 1957 पृ0 सं0 193 से उद्धृत।

21. "राम सो बड़ों है कौन, मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौन खोटो॥"
– कवि तुलसीदास, **विनयपत्रिका**, छं0 सं0 72

22. "न पूजयार्थ स्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथाऽपि ते पुण्य,-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिता जनेम्यः॥"
– आचार्य समन्तभद्र, **स्वयम्भू स्तोत्र**, पं0 जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, हिन्दी अनूदित, 12, 2 पृ0 सं0 41

23 डॉ0 देवेन्द्र कुमार शास्त्री, अपभ्रंश का जयमाला साहित्य, **अनेकान्त**, अगस्त 1971, पृ0 सं0 128

24. **श्री वृहत जैन शब्दार्णव भाग-1**, सम्पादक श्री बी0 एल0 जैन, चैतन्य, अकृत्रिम चैत्यालय, पृ0 सं0 22, अढ़ाई द्वीप पृ0 सं0 25

25. "हां, इनमें जो भावुक और प्रतिभा-सम्पन्न हैं, जो अन्योक्तियों आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं वे अवश्य ही कवि क्या, उच्चकोटि के कवि कहे जा सकते हैं।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ0 सं0 324

26. "Poetry is not concerned with telling people what is to do, but with extending our knowledge of good and evil "
-पं0 रामदहिन मिश्र, **काव्य-दर्पण**, पृ0 सं0 30 से उद्धृत

27. "धूमन के धरोहर देख कहा गर्व करै,
ये तो छिन माहिं जाँहि पौन परसत हो।
सध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल गरसत हो।।"
-भैया भगवतीदास, **पुण्यपचीसिका**, छं0 सं0 17

28 "आतम के तत्व को निमित्त कछू रंच पायों,
तौलो तोहि ग्रन्थनि में ऐसेके बतायो है।
जैसे रसव्यंजन में करछी फिरै सदीव,
मूढता स्वभाव सो न स्वाद कछु पायो है।"
-भैया भगवतीदास, **पुण्यपचीसिका**, छं0 सं0 22

29 "जगत मूल यह राग है, मुक्ति मूल वैराग।
भूल दुहून को यहै कह्यो, जाग सकै तो जाग।।"
-भैया भगवतीदास, **वैराग्य पचीसिका**, छं0 स0 2

30 लाला भगवान दीन, **अलंकार मंजूषा**, पृ0 सं0 14

31. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, युगवीर, पुराने साहित्य की खोज, **अनेकान्त**, नवम्बर 1956, पृ0 स0 95, 96

32 प्राक्कथन, **वृहद द्रव्यसंग्रहः**, प्रकाशक-श्री गणेशवर्णी, दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, खरखरी (धनबाद) बिहार।

अध्याय – 4

भाव–पक्ष

रस-निरूपण

मानव एक संवेदनशील प्राणी है। संसार में रहते हुए वह विभिन्न प्रकार की घटनाओं से गुजरता है, अनेक प्रकार के मधुर-कटु अनुभव प्राप्त करता है। इस सबकी उसके हृदय पर प्रतिक्रिया होती है जिससे अनेक प्रकार के भाव हृदय में जाग्रत होने लगते हैं अत: मानव हृदय पर दृश्यमान जगत के प्रभावों की प्रतिक्रिया ही भाव है। इन भावों को अभिव्यक्ति देने के लिये वह आकुल रहता है और भाषा का माध्यम अपनाता है। इसे ही हम साहित्य कहते हैं। अभिव्यक्ति को सुन्दर सजीव और प्रांजल बनाने के लिये वह भाषा को अलंकारों से सजाता है, छंदो में बांधकर संवारता है तथा अन्य उपकरणों का आश्रय लेता है। इसी के आधार पर काव्य के अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष दो भाग होते हैं जिन्हें क्रमश: भाव पक्ष तथा कला पक्ष कहते हैं।

काव्य को पढ़ने, सुनने अथवा देखने से सामाजिक को जो असाधारण एवं अनिवर्चनीय आनन्द की प्राप्ति होती है उसे ही रस कहते हैं। रस उसे कहते हैं जो आस्वादित हो सके। आचार्यों ने काव्य में रस को अत्यधिक महत्व दिया है। यहाँ तक कि आचार्य विश्वनाथ ने रसयुक्त वाक्य को ही काव्य कहा है।[1] रस के बिना रचना कविता की सीमा में प्रवेश नहीं कर पाती। मानव हृदय में अनेक भाव स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। ये स्थायी भाव ही अनेक कारण, कार्य और सहकारी कारणों, जिन्हें क्रमश: विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहते है, के सहयोग से रस दशा को प्राप्त होते हैं। यहाँ भाव, विभाव आदि का पृथक पृथक सम्यक् विवेचन अपेक्षित है।

स्थायी भाव-

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति विशेष अवस्था में जो मानसिक स्थिति होती है उसे भाव कहते हैं। जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से सम्बद्ध होने पर रस-रूप में व्यक्त होता है, उस आनन्द के मूलभूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं। ये भाव मानव हृदय में प्रसुप्त अवस्था

में विद्यमान रहते हैं और विभाव आदि के संयोग से उद्दीप्त हो उठते हैं। मानव हृदय सागर के समान अतल गम्भीर होता है, उसमें भाव रूपी अनन्त रत्न विद्यमान रहते हैं। उनकी गणना करना तथा सीमा निर्धारित करना अत्यंत दुष्कर कार्य है फिर भी आचार्यों ने प्रमुख भावों की संख्या निर्धारित की है। भरत मुनि ने इनकी संख्या आठ मानी है। काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने भी उनका ही अनुकरण किया है। ये इस प्रकार हैं-

1. रति=स्त्री-पुरूष के पारस्परिक प्रेम को रति कहते हैं।
2. हास=किसी विकृति को देखकर जो प्रफुल्लता होती है उसे हास कहते हैं।
3. शोक=प्रियजन के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता शोक है।
4 क्रोध=शत्रु को देखकर मानव हृदय में जो उत्तेजना होती है वही क्रोध है।
5. उत्साह=वीरता आदि के लिये प्रवृत्त करने वाला भाव उत्साह है।
6 भय=अनिष्ट कारणों की उपस्थिति पर उत्पन्न चित्त की व्याकुलता भय है।
7 जुगुप्सा=घृणित वस्तुओं के दर्शन से, उनसे दूर रहने की इच्छा जुगुप्सा है।
8. विस्मय=आश्चर्यमयी वस्तुओं को देखकर चित्त मे उत्पन्न मनोविकार ही विस्मय है।

इनके आधार पर आठ रसो को मान्यता दी गई है-

1. शृगार	5. वीर
2. हास	6. भयानक
3 करुण	7. वीभत्स
4 रौद्र	8 अद्‌भुत

कालान्तर में इनकी संख्या में वृद्धि होती गई। उदभट ने 'शान्त रस' को नवम् रस के रूप में स्थान दिया। निर्वेद इसका स्थायी भाव है। विश्वनाथ ने वत्सल नामक एक नये रस का उल्लेख किया है जिसका स्थायी भाव वात्सलय है। भगवत् विषयक रति के आधार पर भक्ति रस की स्थापना रूप गोस्वामी एवं मधुसुदन सरस्वती के द्वारा की गई।[2] स्थायी भाव का परिपक्व रूप ही रस है। विभाव, अनुभाव सचारी भावों से पुष्ट होने पर ये ही 'रस' रूप मे बदल जाते हैं।

विभाव

हृदय सागर में भाव-उर्मियों को उद्वेलित करने के कारण रूप उपकरण ही विभाव कहलाते हैं। विभाव, कारण, निमित्त, हेतु, ये सब एक ही अर्थ के बोधक है। विभाव दो प्रकार के होते हैं- आलम्बन और उद्दीपन।

जिसके हृदय में भाव जाग्रत होता है वह आश्रय कहलाता है और जिन पर आलम्बित होकर भाव उत्पन्न होता है वे आलम्बन विभाव हैं जैसे रति स्थायी भाव के आलम्बन नायक और नायिका होते हैं। हास्य रस के आलम्बन मूर्ख या विकृत आकृति वाले व्यक्ति अथवा वस्तुएं होती हैं। दीन दुखी आर्त जन करुण रस के, दुराचारी रौद्र रस के, शत्रु वीर रस के, भयप्रद दृश्य भयानक रस के, घृणित वस्तुएं वीभत्स रस की, आश्चर्यजनक कार्य व्यापार अद्‌भुत रस के तथा परमार्थ शान्त रस के आलम्बन हैं। स्थायी भाव आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदय में जाग्रत होकर जिन कारणों अथवा वस्तुओं से उद्दीप्त होता है उन्हें उद्दीपन कहते हैं जैसे नायक नायिका की चेष्टाएं, चन्द्र-ज्योत्सना, सुरभित पवन, वाटिका आदि शृंगार रस के उद्दीपन हैं। तीर्थस्थल, सत्संग, शास्त्रानुशीलन आदि शान्त रस के उद्दीपन हैं। आलम्बन स्थायी भाव के उत्पादक कारण तथा उद्दीपन उद्दीपक कारण हैं।

अनुभाव

आश्रय के हृदय में उत्पन्न स्थायी भाव को अभिव्यक्ति देने वाली उसकी जो उक्तियां, चेष्टाएं, अथवा लक्षण होते हैं उन्हें ही अनुभाव कहते हैं, वे भाव के अनु अर्थात् पीछे उत्पन्न होने के कारण अनुभाव कहलाते हैं तथा सामाजिकों को स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आलम्बन की चेष्टाएं उद्दीपन तथा आश्रय की चेष्टाएं अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं। अनुभाव दो प्रकार के होते हैं सात्विक और कायिक। शरीर के अकृत्रिम अंगविकार, जिनके ऊपर आश्रय का कोई वश नहीं रहता, साात्विक अनुभाव कहलाते हैं। आचार्यों ने इनकी संख्या आठ मानी है-

1. स्तम्भ- अंगों की गति रूक जाना।
2. स्वेद- भय आदि के कारण शरीर स्वदेयुक्त हो जाना।
3. रोमांच- रोंगटें खड़े होना।
4. स्वर भंग- कंठ अवरूद्ध होना।
5. वेपथु- शरीर में कम्पन होना।
6. वैवर्ण्य- मुख का रंग उड़ जाना।
7. अश्रु- नेत्रों से अश्रुपात होना।
8. प्रलय- संज्ञाहीन होना।

कृत्रिम आंगिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं। रस के

अनुकूल विभिन्न प्रकार की उक्तियाँ भाव भंगिमाए तथा चेष्टाएं इनके अन्तर्गत आती हैं।

संचारी या व्यभिचारी भाव

स्थायी भावों को पुष्ट करने में सहायता पहुँचाने के लिए कुछ मनोविकार कुछ समय के लिये उत्पन्न होते हैं और काम करके तत्काल ही लुप्त हो जाते हैं। संचरण करते रहने के कारण ही इन क्षणिक सहायक भावों को संचारी भाव कहते हैं। ये किसी एक ही रस के साथ बंधे नहीं रहते कभी किसी के साथ प्रकट हो जाते है और कभी किसी के साथ। इसी से इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहते हैं।[3] स्थायी भाव रसास्वादन पर्यन्त मन में ठहरते हैं तथा संचारी भाव तरंगो की भांति उठते और विलीन होते रहते हैं। इनकी सख्या तैंतीस मानी गयी हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

निर्वेद=दरिद्रता, आपत्ति, अपमान आदि के कारण तुच्छता का अनुभव।
ग्लानि=मनस्ताप से कार्य में अनुत्साह और मन का शैथिल्य।
शका=भावी अनिष्ट की चिन्ता।
असूया=दूसरे की उन्नति अथव सुख-वैभव से ईर्ष्या।
श्रम=शारीरिक श्रम के कारण मानसिक अवसाद।
आलस्य=श्रम, जागरण आदि के कारण कार्य शैथिल्य।
दैन्य=दारिद्रय अथवा दुर्गति के कारण मन की ओज हीनता।
चिन्ता=इष्ट वस्तु की अप्राप्ति से मन की विकलता।
स्मृति=सादृश्य वस्तु के दर्शन से पूर्वानुभूत सुख दुख का स्मरण।
धृति=हर्ष विषाद आदि मे चित्त की स्थिरता।
व्रीडा=स्त्रियो में पुरुष को देखने आदि से और पुरुषों में निन्दित कार्य करने से लज्जा का अनुभव।

इस प्रकार स्थायी भाव ही आलम्बन उद्दीपन विभाव के कारण उदित होकर संचारी भावो से पोषित होकर तथा अनुभाव रूप में व्यक्त होकर रस दशा को प्राप्त होते है। यही रस-निष्पत्ति है।[4]

जैन हिन्दी काव्य में शान्त रस का रसराजत्व

भरत मुनि ने साहित्य में आठ रसों को स्वीकृत कर शांत रस को उपेक्षित कर दिया था किन्तु कालान्तर में शान्त रस को नवम रस के पद पर प्रतिष्ठित किया गया और मम्मट आदि अनेक आचार्यों के द्वारा निर्वेद को स्थायी भाव स्वीकार किया गया। आचार्य विश्वनाथ ने शान्त रस को स्पष्ट

करते हुए साहित्यदर्पण में कहा है कि जिसमें न दुख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं।[5] प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में तो शान्त रस की स्थिति मोक्षप्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती है किन्तु इस का समाधान यह है कि यहाँ सुख के अभाव से तात्पर्य सांसारिक सुख से है अन्य सुख अर्थात् आत्मिक सुख से नहीं।

संसार से वैराग्य भाव का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है। निर्वेद अथवा वैराग्य ही शान्त रस का स्थायी भाव है, संसार की असारता का बोध तथा परमात्म तत्व का ज्ञान इसका आलम्बन विभाव है, सज्जनों का सत्संग, तीर्थाटन, धर्मशास्त्रों का चिन्तन आदि उद्दीपन विभाव है, रोमांच, पुलक, अश्रु-विर्सजन, संसार त्याग के विचार आदि अनुभाव हैं तथा धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, स्मृति, जड़ता आदि इसके संचारी भाव हैं।

जैन साहित्य अध्यात्म प्रधान है अत: उसमें शान्त रस को प्रमुखता दी गई है तथा शृंगार के स्थान पर शान्त को रसराज माना गया है। प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास ने "नवमों सान्त रसनि को नायक" कहा है[6], तथा डॉ0 भगवानदास ने अपने रस-मीमांसा निबन्ध में शान्त रस का रस-राजत्व अनेक तर्कों द्वारा सिद्ध किया है। उनके विचार से शेष सब रस शान्त रस में ही समाहित हो जाते है। संसार की असारता और परिवर्तनशीलता को देखकर मन का विरक्त होना तथा आत्मिक आनन्द में लीन होना ही परम शान्ति है। अष्ट कर्मों का क्षयकर निर्विकार अवस्था को प्राप्त कर परम आनन्द की उपलब्धि जैन धर्मसाधना का लक्ष्य है। भैया भगवतीदास ने भी जैन-धर्म को 'शान्त रस का मत' कहा है-

"शान्ति रसवारे कहैं मत को निवारे रहै,
तेई प्रान प्यारे लहै और सब वारे हैं।"[7]

भक्ति रस की उद्‌भावना

प्राचीन आचार्यों ने भक्ति भाव की सरलता की ओर ध्यान न देकर शान्त रस के अन्तर्गत ही इसे निहित कर दिया था। किन्तु कालान्तर में इसकी महत्ता और प्रसार का अनुभव किया गया और रूप गोस्वामी के प्रयास से इसे पृथक रस के रूप में स्वीकार किया गया। शांडिल्य के अनुसार 'सा परानुरक्तिः ईश्वरे[8] अर्थात् ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति कहते हैं। भगवद्‌विषयक अनुराग भक्तिरस का स्थायी भाव है। ईश्वर अथवा देवी देवता इसके आलम्बन विभाव है, ईश्वर के अनुपम गुण, सर्वशक्तिमत्तता, भक्तों का

सत्संग आदि उद्दीपन विभाव हैं। औत्सुक्य, हर्ष, गर्व, निर्वेद, मति, धृति, स्मृति, चिन्ता आदि संचारी भाव है। रोमांच, नेत्रविकास, विनीत प्रार्थना, याचना, गदगद वचन, अनुभाव हैं। 'भक्ति रसामृत सिंधु' में रूप गोस्वामी ने भक्ति रस से सम्बंधित पाँच भाव स्वीकार किये हैं- शुद्धा (शांत), प्रीति (दास्य), सख्य, वात्सल्य और प्रियता (माधुर्य)।[9]

जैन धर्म में भक्ति की सम्भावना

जैन दर्शन निरीश्वरवादी तो नहीं है किन्तु उसमें अन्य दर्शनों की भाँति ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता अथवा नियन्ता नहीं स्वीकार किया गया है। सृष्टि अनादि और अनन्त है, प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वभावानुसार उत्पन्न होती, कार्य करती तथा नष्ट होती रहती है। प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। जीव अपने कर्मरूपी शत्रुओं को जीत कर 'जिन' अर्थात् ईश्वर बन जाता है, जैन धर्म में इन्ही 'जिन' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की पूजा की जाती है।[10] अत: वहाँ ईश्वर एक नहीं अनेक हैं जो भी कर्मबंधन से मुक्त हो गया वही ईश्वर है। जैन परम्परा में ईश्वर वीतराग है। राग को वहाँ कर्मबंधन का हेतु माना गया है। अत: राग द्वेष से परे होकर ही वह कर्म-विमुक्त हो सकता है और पूज्य बन सकता है। भक्ति में श्रद्धा तथा प्रेम का योग होता है।[11] ईश्वर में गहन अनुराग ही भक्ति है। जैन भक्त भगवान की वीतरागता पर रीझ कर ही उनकी भक्ति करता है किन्तु प्रश्न उठता है कि जब भक्ति मे राग सन्निहित है तो भक्ति भी कर्मबंध का कारण होनी चाहिये। किन्तु ऐसा नही होता। जिस प्रकार प्रेम का आलम्बन अलौकिक होने से वह प्रेम अलौकिक हो जाता है उसी प्रकार वीतराग से किया गया अनुराग राग की कोटि में ही नही आता। वस्तुत: पर-पदार्थों से किया गया प्रेम बंध का कारण होता है, ईश्वर पर-पदार्थ नहीं स्व-आत्मा रूप ही है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन ईश्वर मे कर्तृत्व शक्ति नही मानता। भक्त की भक्तिभावना से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, और न वह किसी को सुख अथवा दुख देता है। सुख-दुख तो जीव अपने पूर्वकृत कर्मानुसार भोगता है। तब भक्त को भगवान की भक्ति से क्या लाभ है ? वह भक्ति क्यों करता है ? इसका भी उत्तर है। भगवान के पुण्य गुणों का स्मरण करने से भक्त का चित्त निर्मल होता है[12], कर्मबंध का क्षय होता है, मंजिल समीप आती जाती है। इस प्रकार ईश्वर भक्त को स्वयं भले ही कुछ न दें किन्तु उनके निमित्त से भक्त सब कुछ पा जाता है। किन्तु जैन भक्त का ईश्वर से सुख की याचना करना अनुचित है तथा भक्ति-भावना

से रहित, पूजा, अर्चना निरर्थक है। इस प्रकार जैन-धर्म में ईश्वर के राग-द्वेष से अतीत होने पर भी उसकी भक्ति की जाती है।

भैया भगवतीदास के काव्य में भक्ति का स्वरूप

मध्य युग में उत्तर भारत में धर्म के क्षेत्र में निर्गुण और सगुण को लेकर जो पारस्परिक विरोध और संघर्ष व्याप्त रहा, जैन-धर्म साधना उससे मुक्त रही है। यद्यपि भक्त-कवियों ने निर्गुण की उपासना कठिन बताकर सगुण की भक्ति करने की बात कह कर दोनों की एकता स्थापित करने का प्रयास किया[13] किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। जैन परम्परा में दोनों में कोई तात्विक विरोध ही नहीं माना गया है। आचार्य योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' में सिद्ध भगवान को 'निष्कल' कहा है। और अरहंत भगवान 'सकल' कहलाते है।[14] उत्तरोत्तर आत्म विकास करते हुए, चार घातिया कर्मों का क्षय करके जीव अरहंत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अरहंत सशरीर होते हैं उन्हें 'सकल' कहा गया है। जब ये अरहंत भगवान चार अघातिया कर्मों का भी क्षय करके शरीर त्याग देते हैं तब सिद्ध कहलाते हैं, इन्हें ही 'निष्कल' कहा गया है। इन्हें हम क्रमशः सगुण तथा निर्गुण कह सकते हैं। प्रत्येक निष्कल पहले सकल बना है अतः दोनो में कोई विरोध नहीं है। उत्तरोत्तर आत्म विकास करते हुए अरहंत अवस्था सिद्ध अवस्था से पहला सोपान है और सिद्ध अवस्था अन्तिम। जैन परम्परा के 'सिद्ध' और निर्गुण भक्ति धारा के 'ब्रह्म' एक ही हैं, भैया भगवतीदास ने भी दोनों की एकता का प्रतिपादन किया है-

''जोई गुण सिद्ध माहिं सोई गुण ब्रह्ममाहिं,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निश्चै निरधार कें।''[15]

जैन साहित्य साधना मे 'सकल' और 'निष्कल' में कोई विरोध नहीं माना गया है। जैन कवियों ने समान रूप से दोनों के चरणों में श्रद्धा-सुमन चढ़ाये हैं। भैया भगवतीदास ने भी दोनों की समान रूप से भक्ति की है। यद्यपि जैन साधना का सर्वोच्च सोपान सिद्ध पद है किन्तु जैन स्तुतियों और मंत्रों मे पहले अरहंत को नमस्कार किया गया है क्योंकि अरहंत अवस्था में रहते हुए भगवान उपदेश आदि का लोकोपकारी कार्य करते हैं। भैया भगवतीदास ने भी ब्रह्मविलास ग्रंथ में संगृहीत प्रथम रचना पुण्यपचीसिका का आरम्भ एक मंगलाचरण से किया है जिसमें पहले अरहंत को, तत्पश्चात् सिद्ध को नमस्कार किया है-

''प्रथम प्रणमि अरहंत, बहुरि सिद्ध नमिज्जै।
आचारज उवझाय, तासु पद वंदन किज्जै।''

इसके अतिरिक्त उन्होंने अरहंत तथा सिद्ध भगवान की पृथक-पृथक रूप में वंदना की है।

वैसे तो जैन भक्त चौबीसों तीर्थंकरों का उपासक होता है किन्तु कभी-कभी उसकी भक्ति-भावना किसी एक के प्रति अधिक प्रवाहित होती है। भैया भगवतीदास ने भी सामूहिक वन्दना करते समय चौबीसों तीर्थंकरों की समान रूप से स्तुति की है जैसे 'वर्तमान चतुर्विंशति जिनस्तुति' तथा 'चतुर्विंशति तीर्थंकर जयमाला'। किन्तु उनका भक्त हृदय अपेक्षाकृत तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की ओर अधिक उन्मुख है। भगवान पार्श्वनाथ की भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उन्होने उनके प्रति एक पृथक स्तुति की रचना की है। 'अहक्षिति पार्श्वनाथ जिनस्तुति'। यह कवि की सर्वप्रथम मौलिक रचना जान पड़ती है। इसकी रचना सवत् 1731 मे की गई और इससे पूर्व की उनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नही है। इसके अतिरिक्त अन्य रचनाओं के मध्य यत्र-तत्र भगवान पार्श्वनाथ के प्रति उनके भक्ति-भाव-सुमन झर पड़े हैं जैसे सुबुद्धि चौबीसी के अन्तर्गत प्रस्तुत कवित्त-

''आनन्द को कंद किधों पूनम को चन्द किधों,
देखिये दिनन्द ऐसो नन्द अश्वसेन को।
करम को हरै फंद भ्रम को करै निकंद,
चूरै दुख द्वंद सुख पूरै महा चैन को।
सेवत सुरिंद गुनगावत नरिद भैया,
ध्यावत मुनिद तेहू पावै सुख ऐन को।
ऐसो जिन चंद करै छिन मे सुछंद सतौ,
ऐक्षितको इंद पार्श्व पूजों प्रभु जैन को।''

तथा फुटकर कविता के अन्तर्गत प्रस्तुत सवैया-

''काहे को देश दिशातर धावत, काहे रिझावत इंद नरिंद।
काहे को देवि और देव मनावत, काहे को शीस नवावत चंद।
काहे को सूरज सों कर जोरत, काहे निहोरत मूढमुनिंद।
काहे को शोच करै दिन रैन तू, सेवत क्यों नहिं पार्श्व जिनंद।''

दास्य भक्ति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'श्रद्धेय के महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति'

को श्रद्धा कहा है और भक्ति में श्रद्धा तथा प्रेम का योग होता है। ईश्वर के प्रति अनुराग ही दास्य-भक्ति का स्थायी रस है, ईश्वर आलम्बन विभाव, उनके अनुपम गुण उद्दीपन विभाव, उत्सुकता, गर्व, हर्ष, मति आदि संचारी भाव तथा रोमांच, भक्तिपूर्ण कथन आदि अनुभाव हैं। भक्त अपने इष्ट में गुणों का उत्कर्ष देखकर ही उस ओर उन्मुख होता है और उसके गुणों का श्रवण, चिंतन और दर्शन कर उसे विशेष सुख की प्राप्ति होती है। अत: उपास्य की महिमा का गुणगान करना भक्त हृदय का सहज स्वाभाविक कर्म है। भैया भगवतीदास ने भी अपने आराध्य के महत्व की चरम अनुभूति की है और उसे भाँति-भाँति से अभिव्यक्ति दी है। जैन भक्त की दृष्टि में ईश्वर की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने स्वयं को कर्मबंधन का क्षय कर मुक्ति प्राप्त की तथा उनकी भक्ति से भक्त का चित्त निर्मल होता है और वह भी भव सागर से पार हो जाता है। अत: यहाँ यही उद्दीपन विभाव है। भैया भगवतीदास की दृष्टि अपने इष्ट की इसी विशेषता पर केन्द्रित है। वे कहते हैं-

"आप तरैं तारें परहिं, जैसे जल नइया।।
केवल शुद्ध स्वभाव है, समुझै समुझैया।।
"भविक तुम बंदहु मनधर भाव, जिन प्रतिमा जिनवर सो कहिये।
जाके दरस परमपद प्रापति, अरू अनंत शिवसुख लहिये।।"
"जिनवाणी को को नहिं तारे।
मिथ्यादृष्टि जगत निवासी, लहि समकित निज काज सुधारे।।"[16]

कवि जिनेन्द्र भगवान की वंदना इसलिये करता है कि उनकी शरण में आने पर कामदेव जैसे योद्धा का भी उस पर कोई जोर नहीं चलेगा जिसे संसार के सब प्राणियों पर विजय प्राप्ति का अहंकार है। अत: इस पद्य में भगवान की यही विशेषता उद्दीपन विभाव है। गर्व, हर्ष, मति सचारी भाव तथा पुष्प अर्पण अनुभाव है-

"जगत के जीव जिन्हें जीत के गुमानी भयों,
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है।
ताके शर जानियत फलनि के वृंद बहु,
केतकी कमल कुंद केवरा सुहायो है।
मालती सुगंध चारू बेलि की अनेक जाति,
चंपक गुलाब जिनचरण चढ़ायो है।
तेरी ही शरण जिन जोर न बसाय याको,
सुमन सों पूजे तोहि मोहि ऐसी भायो है।"[17]

जैन भक्त भगवान की वीतरागता को जानता है और उनके अकर्तृत्व से भी परिचित है, फिर भी उसका हृदय कुछ आशा आकांक्षा लेकर ही उनकी ओर उन्मुख रहता है किन्तु फिर भी जैन भक्ति निष्काम होती है क्योंकि सांसारिक सुख की इच्छा ही कामना कहलाती है। अलौकिक अथवा आध्यात्मिक सुख की वांछा 'कामना' नहीं होती। यद्यपि जैन-भक्त कवियों ने भी समय के प्रभाव में आकर वीतराग भगवान से बहुत कुछ मांगा है किन्तु भैया भगवतीदास के काव्य में इस प्रकार की याचना नहीं की गई अतः उनकी भक्ति निष्काम है।

उपास्य के महत्व की स्वीकृति के साथ-साथ निज के लघुत्व की अनुभूति भी भक्त हृदय में होती है। इससे तात्पर्य केवल यही है कि अहंकारी हृदय भक्ति जैसी पवित्र भावना को धारण करने का अधिकारी नहीं होता। भैया भगवतीदास के काव्य मे हमे उस दैन्य अथवा लघुता के दर्शन नहीं होते जिसके अतिरेक मे भक्त कवि स्वय को 'पतितों कौ टीकौ'[18] बता गये है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वे अहंकारी थे। उपास्य के गुणों के महत्व का अनुभव ही वह व्यक्ति कर सकेगा जो स्वयं को उन गुणों से वंचित मानता है तथा उन्हे धारण करने का अभिलाषी है। वस्तुत: दैन्य अथवा लघुत्व की अनभिव्यक्ति के पीछे उनका ईश्वर के अकर्तृत्व में सबल विश्वास है। उनकी प्रत्येक कृति का आरम्भ भगवान के गुणों का स्मरण करते हुए उनकी वंदना से हुआ है।

सभी भक्त कवि भगवान के नाम के माहात्म्य को स्वीकार करते हैं। भक्ति के अतिरेक में वे भगवान के नाम मे ही ऐसे चमत्कार का वर्णन करने लगते हैं कि जिसके लेने मात्र से ही भवबंधन कट जाते हैं यहाँ तक कि भूल से भगवान का नाम जिह्वा से निकल जाने पर ही बड़े-बड़े पापियो का उद्धार हो जाता है। भैया भगवतीदास ने भी भगवान के नाम की महत्ता को स्वीकार किया है-

''तेरो नाम कल्पवृच्छ इच्छा को न राखै उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन, चिन्ता को न राखै पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद हरत हैं।
तेरो नाम अम्रत पिये तैं जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुख मूल दुख को दरत है।

तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागा,

भव्य तोहि पाय भवसागर तरंत है।''[19]

मध्यकालीन भक्ति सम्प्रदायों ने गुरु को पर्याप्त महत्व दिया है। कबीरदास तो गोविन्द को छोड़ गुरु को बलिहारी गये हैं क्योंकि वही तो गोविन्द की पहचान और उस तक पहुँचने का मार्ग बताता है। जैनधर्म में भी गुरु की महत्ता को स्वीकार किया गया है, उनके यहाँ जो पाँच परमेष्ठी माने गये हैं- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन्हें ही पंचगुरु कहा गया है। अर्थात् जो मोक्ष के मार्ग पर चल चुके है अथवा चल रहे हैं वही सांसारिक प्राणी को उस मार्ग का निर्देशन कर सकते हैं। भैया भगवतीदास ने सत्गुरु की महत्ता का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है। कर्मरूपी सर्पों से मुक्ति दिलाने के लिये गुरु के वचन मोर के समान हैं-

''चेतन चंदन वृक्ष सों, कर्म सांप लपटाहिं।।

बोलत गुरू वच मोर के, सिथल होय दुर जाहि।।''[20]

किन्तु गुरु का सतगुरु होना अनिवार्य है अन्यथा वह तो पतन की ओर ले जाता है-

''देत मरन भव सांप इक, कुगुरु अनन्ती बार।

वरू सापहि गहि पकरिये, कुगुरु न पकर गंवार।।''[21]

दाम्पत्य भक्ति

ईश्वर के प्रति गहन अनुराग ही दाम्पत्य भक्ति का स्थायी भाव है, ईश्वर स्वयं आलम्बन विभाव तथा आलम्बन के गुण उद्दीपन विभाव है। उत्सुकता, गर्व, हर्ष, निर्वेद, स्मृति, धृति आदि संचारी भाव हैं, तथा नेत्रविकास, रोमांच, भक्तिपूर्ण उक्तियाँ अनुभाव हैं। भक्त हृदय में ईश्वर मिलन की तीव्र आकांक्षा होती है, उसे वह पति पत्नी के मध्य मिलन की आतुरता का बाना पहना देता है। नारी हृदय स्वभावत: अधिक कोमल और प्रेमपूर्ण होता है अत: भक्त स्वयं पत्नी अथवा प्रेमिका बनता है और ईश्वर को प्रियतम मानकर उसके विरह एवं मिलन के गीत गाता है। कबीरदास ने स्वयं को 'राम की बहुरिया' कहा है,[22] राम को पुकारते-पुकारते उनकी जिह्वा में छाले पड़ गये हैं और पंथ निहारते-निहारते आँखों में जाला पड़ गया है।[23] सूरदास ने यह प्रेभाभिव्यक्ति गोपियों के माध्यम से की है। सूफी प्रेमाख्यानकों में भक्त स्वयं प्रेमी बना है ओर भगवान् को प्रियतमा रूप में देखता है। जायसी के 'पद्मावत में रतनसेन भक्त का प्रतीक है तो' पद्मावती ईश्वर का। जैन साहित्य में भी

दाम्पत्य भाव की भक्ति प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होती है। इसका एक रूप बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रति राजुल के प्रेम के माध्यम से व्यक्त हुआ है। नेमिनाथ वैराग्य उत्पन्न होने के कारण विवाह मंडप के द्वार से ही लौट गये थे, सुहागोन्मुखी राजुल प्रतीक्षा ही करती रह गई। अनेक कवियों ने साधु मुनियों अथवा तीर्थंकरों के संयम-श्री तथा शिवरमणी से आध्यात्मिक विवाह होते हुए दिखाए हैं। जैन परम्परा में आत्मा और परमात्मा में तात्विक भेद नहीं माना गया है। कर्म-मल से युक्त आत्मा है और कर्म-मल से मुक्त परमात्मा है। आत्मा को पति तथा उसे 'कान्तासम्मित उपदेश' देने वाली सुमति को पत्नी मानकर भैया भगवतीदास ने रूपक काव्यों की रचना की है। चेतना युक्त होने के कारण जैन कवियों ने आत्मा को चेतन चिदानन्द चिन्मूर्ति आदि की संज्ञा दी है। सुमति रानी अपने पति चेतन से प्रेम करती है पति की अनन्त शक्ति तथा गुणो से परिचित है किन्तु दुर्भाग्यवश वह कुबुद्धि आदि दासियों की संगति मे रहकर विपथगामी हो गया है। उसे मधुर शब्दो में सचेत करते हुए सुमति रानी कहती है-

"दासीन के संग खेल खेलत अनादि बीते,
अजहूँ लो वहै बुद्धि कौन चतुराई है।
कैसी है कुरूपकारी निशि जैसे अँधियारी,
औगुन गहनहारी कहा जान लई है।
इन्ही की संगत सो सकट अनेक सहे,
जानि बूझ भूल जाहु ऐसी सुधि गई है।
आवत परेखो हस । मोहि इन बातन को,
चेतन के नाथ को अचेतना क्यों भई है।"[24]

चेतन के सचेत न होने पर सुमति पुनः प्यार भरे शब्दो में क्षमा, करुणा, शान्ति जैसी अनेक सुन्दर नारियों की सेवा का लोभ दिखाते हुए ज्ञान रूपी महल में ले जाना चाहती है-

"कहाँ-कहाँ कौन सग लागे ही फिरत लाल।
आवो क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।।
नैकहू विलोकि देखो अन्तरसुदृष्टि सेती,
कैसी कैसी नीकी नारि ठाड़ी है टहल में।।
एकनतें एक बनी सुन्दर सुरुप धनी,
उपमा न जाय गनी वाय की चहल मे।।

ऐसी विधि पाय कहूँ भूलि और काज कीजै,

एतो कह्यो मान लीजे वीनती सहल में।।''[25]

पत्नी के समान मधुर उपदेश और कौन दे सकता है ? वह भाँति-भाँति से उसे समझाते हुए कहती है-

''इक बात कहूँ शिवनायक जी, तुम लायक ठौर कहाँ अटके ?
यह कौन विचक्षन रीति गही, विनु देखहि अक्षन सों भटके।।
अजहूँ गुणमानो तो शीख कहूँ, तुम खोलत क्यों न पटै घट के ?
चिनमूरति आपु विराजतु है, तिन सूरत देखे सुधा गटके।।''[26]

आज बहुत दिन के पश्चात् सुमति का पति चेतन घर लौटकर आ रहा है। सुमति अपनी सखि से प्रसन्न होकर कहती है-

''देखो मेरी सखीयै आज चेतन घर आवै।।
काल अनादि फिर्‌यो परवश ही, अब निज सुधहिं चितावै।।
जनम जनम के पाप किये जे, ते छिन माहि बहावै।।
श्री जिन आज्ञा शिर पर धर तो परमानंद गुण गावै।।
देत जलांजलि जगत फिरन को, ऐसी जुगति बनावै।।
विलसै सुख निज परम अखंडित, भैया सब मन भावै।।''[27]

रीतिकालीन साहित्य में दूती वर्णन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। दूती का मुख्य कार्य नायक नायिका का मिलन कराना होता था। एक ऐसी ही दूती सुमति को लेकर नायक चेतन के पास जाती है और उसकी प्रशंसा करते हुए कहती है-

''लाई हों लालन बाल अमोलक, देखहु तो तुम कैसी बनी हैं ?
ऐसी कहूँ तिहूँ लोक में सुन्दर, और न नारि अनेक बनी हैं।।
याही तैं तोहि कहूँ नित चेतन ! याहू की प्रीति जु तो सो सनी है।।
तेरी और राधे की रीझि अनंत, सु मो पें कहूँ यह जात गनी है।''[28]

मानव हृदय एक ही नारी की ओर अनुरक्त रह सकता है। कवि ने यहाँ एक मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन किया है। सांसारिक काम वासनाओं में अनुरक्त प्राणी परमार्थ के पथ पर कैसे जा सकता है ? मन को सम्बोधन करते हुए वह कहता है कि यदि तू स्त्री अर्थात् विषय-वासनाओं का त्याग कर दे तो शिवनारी तुझे वरण कर लेगी-

''रे मन मूढ़ विचारि करो, तिय के संग बात सबै बिगरैगी।।
ए मन ज्ञान सुध्यान धरो, जिनके संग बात सबै सुधरैगी।।

धू गुण आप विलक्ष गहो पुनि, आपुहि तै परतीति टरैगी।

सिद्ध भये ते यही करनी कर, ऐसें किये शिव नारी वरैगी।।''[29]

जैन साहित्य में शिव मोक्ष अथवा मुक्ति का पर्यायवाची बनकर प्रयुक्त हुआ है। भैया भगवतीदास ने भी श्योवधू (शिववधू), शिव रमणी, शिवनारी, शिव सुख आदि पदों का प्रयोग किया है। चौदह गुणस्थान जीव संख्यावर्णन नामक कृति के अंत मे नाम 'शिवपथपचीसिका' दिया गया है।

शांत रस अथवा शान्ता भक्ति

पहले ही कहा जा चुका है कि जैन साहित्य शांत रस प्रधान है। वहाँशृगार के स्थान पर शात रस का राजत्व स्वीकार किया गया है। स्थायी आनन्द शान्त रस मे ही प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने भी शान्त रस को श्रेष्ठ कहा है क्योंकि उसका लक्ष्य मोक्षप्राप्ति होता है और मोक्ष जीवन साधना का अन्तिम और परमलक्ष्य है। ससार की असारता देखकर मन में वैराग्य भाव पुष्ट होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है और ससार को असार, अनित्य तथा दुखमय मान कर आत्मा अथवा परमात्मा मे केन्द्रित हो जाना ही शान्ति (शान्ता भक्ति) है। भक्ति रसामृत-सिधु मे श्री कृष्ण में परमात्मबुद्धि से उत्पन्न रति को शान्ति कहा गया है।[30] निर्वेद इसका स्थायी भाव है। ध्वन्यालोककार ने तृष्णाक्षय सुख को इसका स्थायी भाव माना है। अनित्य संसार इस रस का आलम्बन विभाव, मन्दिर, सत्संग धर्मशास्त्रों का अध्ययन, सासारिक विपत्तियां, उद्दीपन विभाव, धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, जड़ता आदि सचारी भाव तथा कामक्रोध, लोभ मोह आदि का अभाव तथा इनको त्यागने की उक्तिया आदि अनुभाव है। पं0 रामदहिन मिश्र के अनुसार, ''अन्य रस लौकिक होने से प्रवृत्ति मूलक और शान्तरस पारलौकिक होने से निवृत्ति-मूलक है।''[31]

जैन धर्म में आत्मा का विस्तृत वर्णन होने से तथा उसके सर्वशक्तिमान मानने से जैन साहित्य अध्यात्म प्रधान है तथा उसमें अध्यात्म मूला--भक्ति प्रमुख है। भैया भगवतीदास के काव्य में भी शान्त रस की प्रधानता है। मन को सांसारिकता से विमुख करके आत्मसुख की ओर उन्मुख करना ही उनके काव्य का मूल स्वर है। संसार की क्षण-भंगुरता, शरीर की निकृष्टता, जीव की अज्ञानता, आदि की अनेक हृदयग्राही उक्तियों से उनकी कृतियाँ ओतप्रोत हैं। शतअष्टोतरी के एक कवित्त में वे कहते हैं कि मानव की कामनाएँ सदैव

अतृप्त रहती हैं। उसकी तृष्णा भगवान का ध्यान करने से ही शान्त हो सकती है-

"जेतोजल लोकमध्य सागर असंख्य कोटि,
तेतो जल पियो पै न प्यास याकी गई है।
जेते नाज दीपमध्य भरे हैं अवार ढेर,
ते ते नाज खायो तोउ भूक याकी नई है।
तातैं ध्यान ताको कर जातै यह जाय हर,
अष्टादश दोष आदि ये ही जीत लई है।
वहै पंथ तूही साजि अष्टादश जाय भाजि,
होय बैठि महाराज तोहि सीख दई है।"

जिस शरीर को मानव छप्पन प्रकार के रसपूर्ण व्यंजन खिला-खिलाकर पोषित करता है, उस शरीर की निकृष्टता का कितना स्पष्ट वर्णन है-

"मांस हाड लोहू सानि पुतरी बनाई काहु,
चाम सों लपेट तामें रोम केश लाये हैं।
तामैं मलमूत भर कृमि केई कोटि धर,
रोग संचै कर कर लोक में ले आये हैं।
बोलै वह खाउं खाउ खाये बिना गिर जाऊं,
आगे को न धरों पाउं ताही पै लुभाये हैं।
ऐसे भ्रम मोह ने अनादि के भ्रमाये जीव,
देखैं परतक्ष तोउ चक्षु मानो छाये हैं।"[32]

इस पर भी मानव शरीर से प्रेम करता है किन्तु यह फिर भी सदैव उसका साथ नहीं देता, जब तक देह है तब तक ही सब सगे सम्बंधी भी साथ है। समस्त सम्बन्ध स्वार्थ के हैं-

"काहे को देह सो नेह करै तुअ, अंत को राखी रहेगी न तेरी।
मेरी है मेरी कहा करै लच्छि सों, काहु की ह्वै के कहूं रही नेरी।
मान कहा रह्यो मोह कुटुम्ब सो, स्वारथ के रस लागे सगेरी।
तातें तू चेति विचक्षन चेतन, झूठी है रीति सबै जग केरी।।"[33]

संसार की नश्वरता का वर्णन करते हुए कवि कहता है-

"धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै,
ये तो छिनमाहिं जाहिं पौन परसत ही।

संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही।
सुपने में भूप जैसे इन्द्र धनु रूप जैसे,
ओस बूंद धूप जैसे दुरै दरसत ही।
ऐसोई भरम सब कर्मजाल वर्गणा को,
तामे मूढ मग्न होय मरै तरसत ही।।''[34]

संसार की असारता का वर्णन कवि ने एक अन्योक्ति के माध्यम से किया है-

''सूवा सयानप सब गई, सेयो सेमर वृच्छ।।
आये धोखे आम के, यापैं पूरण इच्छ।।
यापै पूरण इच्छ, वृच्छ को भेद न जान्यो।।
रहे विषय लपटाय, मुग्धमति भरम भुलान्यो।।
फलमहिं निकसे तूल, स्वाद पुन कछु न हूवा।।
यहै जगत की रीति देखि, सेमर सम सूवा।।''

जीव सांसारिक विषय वासनाओ मे लिप्त रहकर अपने चारों ओर कर्मजाल फैला लेता है फिर स्वय ही उसमे उलझ जाता है-

''हसा हँस हँस आप तुझ पूर्व सवारे फंद।
तिहिं कुदाव मे बंधि रहे, कैसे होहु सुछंद।।
कैसे होहु सुछद, चंद जिम राहु गरासै।
तिमर होय बल जोर, किरण की प्रभुता नासै।।
स्वपर भेद भासे न देह जड लखि तजि ससा।
तुम गुण पूरन परम सहज अवलोकहु हंसा।।''[35]

कर्म-बध का मूल राग द्वेष की परिणति है। राग द्वेष में लिप्त होने के कारण ही जीव अपने आत्म स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। राग-द्वेष रूपी मल के उच्छेदन करते ही कर्म रूपी वृक्ष धराशायी हो जाता है, आत्मिक आनन्द का प्रकाश विकीर्ण होने लगता है-

''मोह के निवारे राग द्वेषहू निवारें जाहिं,
राग द्वेष टारे मोह नेकहू न पाइये।
कर्म की उपाधि के निवारिवै को पेंच यहै।
जड के उखारे वृक्ष कैसे ठहराइये।

डार पात फल फूल सबै कुम्हलाय जाय,

कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइये।

तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,

विलसै अनन्त सुख सिद्ध में कहाइये।।''[36]

इस अनन्त आत्मिक आनन्द की उपलब्धि में ही परमशान्ति है, यही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

वीर रस

भैया भगवतीदास के काव्य में वीर रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह, शत्रु आलम्बन विभाव, शत्रु का गर्व, पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव हैं। गर्व, धृति, स्मृति, आवेग, हर्ष आदि संचारी भाव तथा रोमांच, गर्व युक्त उक्तियाँ, भुजाएं फड़कना आदि अनुभाव हैं। वीर रस के चार भेद माने गये हैं- युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर और दानवीर। भैया भगवतीदास के 'चेतनकर्मचरित्र' में राजा चेतन के द्वारा शत्रु राजा मोह से युद्ध करने के प्रसंग में वीर रस का समुचित परिपाक हुआ है-

''ज्ञान गम्भीर दलबीर संग ले चढ्यो,

एक ते एक सब सरस सूरा।

कोटि अरू संखिन न पार कोउ गने,

ज्ञान के भेद दल सबल पूरा।''

''बज्जहिं रण तूरे, दल बहु पूरे, चेतन गुण गावंत।

सूरा तन जग्गो, कोउ न भग्गो, अरिदल पै धावत।।

ऐसे सब सूरे, ज्ञान अंकूरे, आये सम्मुख जेह।।

आपा बल मंडे, अरिदल खंडे, पुरुषत्वन के गेह।।''

''रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं करहिं, महा दोउ जुद्ध।।

इत जीव हंकारहिं, निज परवारहिं, करहु अरिन को रुद्ध।।''

वीभत्स रस

रुधिर मांस तथा अन्य घृणित वस्तुओं को देखकर उत्पन्न जुगुप्सा से वीभत्स रस उत्पन्न होता है। जुगुप्सा इसका स्थायी भाव है। घृणित वस्तुएं आलम्बन विभाव, कुत्सित रूप रंग उद्दीपन विभाव, ग्लानि, जड़ता, निर्वेद आदि संचारी भाव हैं। भैया भगवतीदास ने शरीर की निकृष्टता के प्रसंग में

वीभत्स रस उत्पन्न करने वाले वर्णन किये हैं-

"बड़ी, नीत लघु नीत करत है, बाय सरत बदबोय भरी।
फोडा बहुत फुनगणी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी।
शोणित हाड मांस मय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरखिकर केशव ? 'रसिक प्रिया' तुम कहा करी।।"[37]

अद्‌भुत रस

विचित्र वस्तु के देखने व सुनने से जब आश्चर्य का परिपोषण होता है तब अद्‌भुत रस की प्रतीति होती है। आश्चर्य इसका स्थायी भाव है अद्‌भुत वस्तुएं अथवा अलौकिक घटनाएं आलम्बन विभाव, उनकी विलक्षणता उद्दीपन विभाव, औत्सुक्य, शंका, आवेग, जडता आदि संचारी भाव, नेत्र-विस्तार, रोमाच, स्तम्भ आदि अनुभाव है। भैया भगवतीदास के द्वारा तीर्थंकरों के असामान्य लक्षणो के वर्णन मे अद्‌भुत रस की प्रतीति हुई है-

"देहधारी भगवान करै नाहीं खान पान,
रहै कोटि पूरब लो जग मे प्रसिधि है।
बोलत अमोल बोल जीभ होठ हाले नाहिं,
देखै अरू जानै सब इन्द्री न अवधि है।
डोलत फिरत रहै डग न भरत कहै,
परसंग त्यागी सग देखो केती रिधि है।
ऐसी अचरज बात मिथ्या उर कैसे मात,
जानै सांची दृष्टिवारो जाके ज्ञान निधि है।।"[38]

हास्य, रौद्र, भयानक आदि अन्य रसों का वर्णन उनके काव्य में उपलब्ध नही है। इस प्रकार भैया भगवतीदास की समस्त कृतियों में शान्त रस सर्वप्रमुख है। दाम्पत्य भक्ति में रानी सुमति की उक्तियों में मिलन की आकुलता अथवा विरहातुरता का उतना उन्मेष नहीं है जितना उसके पत्नी रूप में मधुर मिठास भरे शब्दों मे परामर्श का। दास्य भक्ति में उनकी उक्तियों में दीनता का अतिरेक नहीं है। वीर, अद्‌भुत तथा वीभत्स रस सहायक रूप में आये हैं। उनसे शांत रस अथवा शान्ता भक्ति के पूर्ण-परिपाक में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।
   - आचार्य विश्वनाथ, **साहित्य दर्पण**, डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री की टीका सहित, प्रथम परिच्छेद, पृ0 सं0 23
2. विद्याचावस्पति पं0 रामदहिन मिश्र, **काव्य दर्पण**, पृ0 सं0 154
3. पंडित रामबहोरी शुक्ल, **काव्य प्रदीप**, पृ0 सं0 56
4. विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
   भरतमुनि, **नाटय शास्त्र**, षष्ठ अध्याय, सं0 डॉ0 रघुवंश, पृ0 सं0 274
5. 'न यत्र दुखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छाः
   रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।
   - आचार्य विश्वनाथ, **साहित्य-दर्पण**, डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री की टीका सहित, तृतीय परिच्छेद, पृ0 सं0 265
6. डॉ0 प्रेमसागर जैन, **जैन शोध और समीक्षा**, पृ0 सं0 169
7. भैया भगवतीदास, **ईश्वर निर्णयपचीसी**, छं0 सं0 6
8. विद्यावाचस्पति पं0 रामदहिन मिश्र, **काव्य दर्पण**, पृ0 सं0 213
9. सं0 डॉ0 श्यामनारायण पांडेय, **रूप गोस्वामीकृत भक्ति रसामृत सिंधु**, पृ0 सं0 11
10. 'जैन वह आत्मा है जो 'जयति कर्म शत्रून् इति जिनः' 'के अनुसार कर्म शत्रुओ को जीतने वाले देव को या परमात्मा को अपना उपास्य या आराध्य माने।'
    - श्री हीरा लाल पाडे, जैन-धर्म और कर्म-सिद्धान्त, **श्री तनसुख राय जैन स्मृति-ग्रंथ**, पृ0 सं0 374
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि**, भाग एक, श्रद्धा भक्ति निबन्ध।
12. 'न पूजयार्थ स्तवयि वीतरागे न निन्दया नाथ। विवान्त-वैरे।
    तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिता जनेभ्यः॥'
    - आचार्य समन्तभद्र, **स्वयंभू स्तोत्र**, पृ0 सं0 12.
13. 'रूप रेख गुन जाति जुगति बिन निरालम्ब मन चकृत धावे।
    सब विधि अगम विचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावे॥'
    - सूरदास, **सूर-विनय-पत्रिका**, (गीताप्रेस), पद सं0 3.

14. योगीन्दु, **परमात्म प्रकाश**, ब्रह्मदेव की टीका सहित, 1, 25 पृ0 सं0 32
15. भैया भगवतीदास, **फुटकर कविता**, छं0 स0 16
16 भैया भगवतीदास, **परमार्थ पद** पंक्ति, छं0 सं0 3
17. भैया भगवतीदास, **जिनपूजाष्टक**, छं0 सं0 5
18. 'प्रभु, हौं सब पतितन कौ टीकौ।
- सूरदास, **सूर-विनय-पत्रिका**, पद सं0 187
19. भैया भगवतीदास, **सुपंथ कुपंथ पचीसिका**, छं0 सं0 3
20 भैया भगवतीदास, **दृष्टान्त पचीसी**, छं0 सं0 20
21. भैया भगवतीदास, **फुटकर विषय**, छ0 स0 29
22 'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया,
राम मोर बडो मै तन की लहुरिया।'
- प्रस्तुतकर्ता डॉ0 शुकदेव सिह, **कबीर बीजक**, शब्द स0 78
23 'अखडियाँ झाई पडी पंथ निहारि निहार।
जीभडियाँ छाला पड्या राम पुकारि पुकार।।'
- कबीरदास, **कबीर ग्रंथवाली**, विरह कौ अंग, साखी स0 22
24 भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छं0 सं0 26
25 वही, छद सं0 27
26 वही, छ0 सं0 10
27. भैया भगवतीदास, **परमार्थपद पंक्ति**, छं0 स0 14
28 भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छं0 स0 28
29 वही, छं0 स0 81
30. डॉ0 प्रेम सागर जैन, **जैन शोध और समीक्षा**, पृ0 सं0 170
31 विद्यावाचस्पति प0 रामदहिन मिश्र, **काव्य-दर्पण**, पृ0 सं0 210
32 भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 स0 106
33 भैया भगवतीदास, **आश्चर्य चतुर्दशी**, छं0 सं0 14
34 भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छ0 स0 90
35 वही, छं0 स0 74
36 भैया भगवतीदास, **मिथ्यात्वविध्वंसन चतुर्दशी**, छं0 सं0 8
37 भैया भगवतीदास, **सुपंथ कुपंथ पचीसिका**, छ0 सं0 19
38 भैया भगवतीदास, **आश्चर्य चतुर्दशी**, छ0 स0 2

अध्याय–5

कला पक्ष

अलंकार-योजना

कवि अपने भावों को सुन्दर रूप प्रदान करने के लिये अलंकारों का आश्रय लेते हैं। अलंकारों के प्रयोग से काव्य में सौंदर्य की वृद्धि के साथ-साथ आकर्षण एवं प्रभावोत्पादकता का भी समावेश हो जाता है। काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहे जाते है।[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने की युक्ति अलंकार है। काव्य में भावो की स्पष्टता और मूर्तिमत्ता का विधान करने के लिये कवि अप्रस्तुत विधान करता है। यह अप्रस्तुत-योजना आग्रहपूर्वक नहीं होनी चाहिये अन्यथा भाव सौंदर्य में बाधा उपस्थित होगी। वास्तव में अप्रस्तुत योजना भाव सौंदर्य को प्रकाशित करने के लिये है, उसे धूमिल करने के लिये नहीं। काव्य में शोभा अथवा सौंदर्य का विधान शब्द एवं अर्थ के माध्यम से होता है। इसी आधार पर अलंकारों के दो वर्ग निर्धारित किये गये हैं-शब्दालंकार तथा अर्थालकार। शब्दालंकारो में शब्द सौंदर्य तथा अर्थालंकारों में अर्थ के सौंदर्य की प्रधानता रहती है। जहाँ शब्द और अर्थ दोनो का ही सौदर्य विद्यमान हो वहाँ उभयालंकार माने जाते हैं।

काव्य में अलंकारों की सत्ता एवं महत्ता के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी, भामह आदि इसी मत की स्थापना करते हैं। हिन्दी में रीति-युग के आचार्य केशवदास भी अंलकारों के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार अलंकारों के बिना कविता कामिनी सुशोभित नहीं हो सकती। वे कहते हैं-

''जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सुरस सुवृत।
भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त।।''[2]

वास्तविकता यह है कि अलंकारों के उपयोग से काव्य में सौंदर्य की वृद्धि अवश्य होती है किन्तु हम उन्हें काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार

नही कर सकते। अलंकारो के अतिशय प्रयोग से भी काव्य का स्वाभाविक सौंदर्य लुप्त हो जाता है। आचार्य केशव की कविता मे अलंकार भार के कारण भाव का सौंदर्य विकृत हो गया है। अत: औचित्य की सीमा मे अलंकारों का प्रयोग काव्य को सौदर्ययुक्त बनाता है तथा स्पष्टता में सहायक होता है।

भैया भगवतीदास ऐसे समय मे हुए जब हिन्दी में रीतियुग का आरम्भ हो चुका था। केशवदास की चमत्कारपूर्ण कविता तथा बिहारी के अलंकृत दोहे साहित्यिक क्षेत्र मे अवतरित हो चुके थे। भैया भगवतीदास की प्रमुख रचनाएं यद्यपि दर्शनपरक एवं धर्मप्रधान है जिनमें अलंकारों का प्रयोग नाममात्र को है तथापि अन्य रचनाओ मे अलंकार, बहुलता है। उनके काव्य में अलंकार सामान्यत: सहज स्वाभाविक रूप में ही आये हैं, केवल कुछ स्थलो पर यमक अलकार सप्रयास लाया गया है। ऐसे स्थलो पर भावपक्ष शिथिल हो गया है। यह कवि के ऊपर रीतिकालीन प्रभाव है। चित्रकाव्य अन्तर्लापिका आदि के रूप मे भी उन्होने अभिव्यक्ति की ऐसी ही अनेक चमत्कारपूर्ण शैलियों को अपनाया है।

शब्दालंकार

शब्दालकारो मे अनुप्रास और यमक भैया भगवतीदास जी को विशेष प्रिय हैं तथा इनके अनेक उदाहरण उनके काव्य मे विद्यमान है, जिनमे से कुछ यहाँ प्रस्तुत है-

अनुप्रास

''रैन समै सुपनो जिम दखतु प्रात बहै सब झूठ बताया।।
त्यो नदि नाव सयोग मिल्यो तुम, चेतहु चित मे चेतन राया।।''[3]
''ऐसी नारि नागनि के नैन को निमेष जीत,
भये है अजीत मुनि जगत विख्यात है।।''[4]

यमक

यमक अलकार में कवि की विशेष रुचि है। यमक के भंगपद और अभगपद दोनों प्रकार के प्रयोग पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत होते है, यथा-

''मिटै उरझ उर की सबै जी, पूछत प्रश्न प्रतक्ष।।
प्रगट लहै परमात्मा जी, विनसे भ्रम को पक्ष।।''[5] **(भंगपद यमक)**
''कानन सुनि कानन गये हो, भूपति तज बहु राज।।
काज संवारे आपने हो, केवलि ज्ञान उपाज।।''[6] **(अभंग पद यमक)**

"एक मतवारे कहैं अन्य मतवारे सब,

मेरे मतवारे परवारे मत सारे हैं।।"[7] **(अभंग पद यमक)**

परमात्म शतक में कवि का यमक के प्रति अनुराग चरम-सीमा को पहुँच गया है। लगभग तीस सोरठे एवं दोहे, ऐसे हैं जिनमें यमक का प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

"हरी खात हो बावरे, हरी तोरि मति कौन।।

हरी भजो आपौ तजो, हरी रीति सुख हौन।।"

श्लेष

भैया भगवतीदास के काव्य में श्लेष के प्रयोग अत्यंत विरल हैं।

अर्थालंकार

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, दृष्टान्त भैया भगवतीदास के विशेष प्रिय अलंकार हैं। भाव साम्य के निरूपण मे उपमान योजना से विशेष सहायता मिलती है। उनके उपमान सजीव, सटीक तथा प्राय: मौलिक हैं। उनसे बिम्ब ग्रहण मे विशेष सहायता मिलती है। उनके काव्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

उपमा

उपमा कवि का अत्यंत प्रिय अलंकार है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

"पुहुप वृष्टि शिव सुख दातार। दिव्य ध्वनि जिन जै जै कार।।

चौसठ चवर ढरहिं चहु ओर। सेवहिं इन्द्र मेघ जिमि मोर।।"[8]

मालोपमा

मालोपमा अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

"धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै,

ये तो छिन माहि जाहिं पौन परसत ही।

संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,

दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही।।

सुपने में भूप जैसे इन्द्रधनुष रूप जैसे,

ओसबूंद धूप जैसे दुरै दरसत ही।

ऐसोई भरम सब कर्म जाल वर्गणा को,

तामें मूढ मग्न होय मरै तरसत ही।।"[9]

रूपक

धर्म, दर्शन तथा उपदेश के प्रसंग में रूपक अलंकार का सुन्दर निदर्शन

हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

''हृदय कमल पर बैठिकें, करत विविध परिणाम।
कर्ता नाही कर्म को, ब्रह्मा आतम राम।।''[10]

सांगरूपक

उनके काव्य में सांगरूपक का भी यत्र-तत्र अच्छा निर्वाह हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है-

''ज्ञान रूप तरू ऊगियो, सम्यक धरती माहिं।
दर्शन दृढ़ शाखा सहित, चारित दल लहकाहिं।।
लगी ताहि गुण मंजरी, जस स्वभाव चहु ओर।।
प्रगटी महिमा ज्ञान में, फल है अनुक्रम जोर।।''[11]

कवि ने दो ही पंक्तियो मे कितना सुन्दर सांगरूपक बांधा है-

''चेतन चदन वृक्ष सो, कर्म साप लपटाहि।
बोलत गुरू वच मोर के, सिथल होय दुर जाहि।।''[12]

'सुआबत्तीसी' मे तो आदि से अत तक सागरूपक ही है। इतना विस्तृत सागरूपक हिन्दी मे गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस को छोडकर अन्यत्र दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त भैया भगवतीदास ने 'चेतनकर्मचरित्र' 'मधुबिन्दुक चौपाई', शत अष्टोत्तरी, पंचेन्द्रिय-सवाद आदि रूपक काव्यो की भी रचना की है, जिनका विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय-कृतियो का परिचय में रूपक-काव्य के अतर्गत किया जा चुका है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

''धरती तपत मानो तवा सी तपाय राखी,
बडवा अनल सम शैल जो जरत हैं।।''[13]

दृष्टान्त

यह भी कवि का प्रिय अलंकार है। दृष्टान्त-पचीसी में कवि ने दृष्टान्तों के माध्यम से ही धर्म एवं नीति का उपदेश दिया है। उनके दृष्टान्त अनुभव पर आधारित होने के कारण हृदय-स्पर्शी एव ग्राह्य है। यथा-

''जिय हिसा जग में बुरी, हिंसा फल दुख देत।
मकरी माखी भक्ष्यती, ताहि चिरी भख लेत।।''[14]

उदाहरण

गूढ़ सिद्धान्तों को सरल रूप में प्रस्तुत करने के लिये कवि ने उदाहरण अलंकार का आश्रय लिया है। 'परमात्मछत्तीसी' में इस अलंकार के सुन्दर उदाहरण हैं। यथा-

"दोष आतमा को यहैं, राग द्वेष के संग।
जैसे पास मजीठ के, वस्त्र और ही रंग।।"[15]

विरोधाभास

'भैया' के काव्य में 'विरोधाभास' अलंकार के भी अच्छे उदाहरण हैं-

"त्याग बड़ो संसार में, पहुचावै शिवलोक।
त्यागहि तें सब पाइये, सुख अनन्त के थोक।।"[16]

असंगति

असंगति अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

"देखी देह-खेत क्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी,
बोये कछु आन उपजत कछु आन है।
पंचामृत रस सेती पोखिये शरीर नित,
उपजै रूधिर मास हाडन को ठान है।।"[17]

अन्योक्ति

उनके काव्य मे अन्योक्ति अलंकार का भी यत्र-तत्र अच्छा निर्वाह हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

"सूवा सयानप सब गई, सेयो सेमर वृच्छ।
आये धोखे आम के, यापैं पूरण इच्छ।।
यापैं पूरण इच्छ वृच्छ को भेद न जान्यो।
रहे विषय लपटाय, मुग्धमति भरम भुलान्यो।।
फलमहिं निकसे तूल स्वाद पुन कछू न हूवा।
यहै जगत की रीतिदेखि, सेमर सम सूवा।।"[18]

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी जैन साहित्य में अलंकार योजना पर विचार करते हुए बताया है "हिन्दी जैन कवियों की कविता-कामिनी अनाड़ी राजकुलांगना के समान न तो अधिक अलंकारों के बोझ से दबी है और न ग्राम्य-बाला के समान निराभरण ही है। इसमें नागरिक रमणियों के समान सुन्दर और उपयुक्त अलंकारों का समावेश किया गया है।"[19] भैया भगवतीदास के काव्य पर भी यह कथन चरितार्थ होता है।

छंद-योजना

मानव अपनी हृदयगत भावनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति साहित्य के रूप में करता है। जब यह अभिव्यक्ति विशेष गति और लय से युक्त होती है तब यह कविता की संज्ञा पा लेती है। 'मात्रा वा वर्ण वा दोनों के निश्चित क्रम वा माप वा संख्या के साथ ही विराम गति वा लय तथा तुक आदि के नियमों से युक्त रचना को पद्य कहते हैं। 'पद्य' और 'छन्द' समानार्थक शब्द हैं।'[20] मात्रा, वर्ण की रचना, विराम, गति का नियम और चरणान्त मे समता जिन पंक्तियों में पाई जाती है, वे छंद कहलाती हैं। छंद बद्ध होने से काव्य का सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है। साधारण वाक्य में वह प्रवाह और सौदर्य नहीं होता जो छंद मे बद्ध होने से उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार नदी की स्वाभाविक धारा को तीव्र और प्रवाहमान बनाने के लिये पक्के पाटों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भावनाओं और अनुभूतियों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये छंदों की आवश्यकता है।

छद-विधान नाद-सौंदर्य की विशेषता पर अवलम्बित है। अत: वह काव्य को सगीतात्मकता प्रदान करता है। काव्य और सगीत का संगम प्राचीन काल से होता रहा है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय और अभारतीय भाषाओं में भी पद्य का विकास बहुत पहले हो गया था तथा गद्य का विकास आधुनिक काल में छापेखानों के अविष्कार के पश्चात् हुआ, इसका कारण यही है कि पद्य एक निश्चित क्रम, गति और लय मे बद्ध रहने के कारण सरलता से कंठस्थ किया जा सकता था और लिपिबद्ध न होने पर भी एक पीढ़ी के द्वारा दूसरी पीढ़ी को हस्तनान्तरित किया जा सकता था। इस प्रकार प्राचीन काल मे काव्य की धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने का काफी कुछ श्रेय छंद-योजना को है। छद में बद्ध होने से काव्य प्रभावपूर्ण आकर्षक एवं हृदयग्राही बन जाता है।

छंद दो प्रकार के होते हैं- वर्णिक और मात्रिक। जिस छन्द के चरणों या पदों मे वर्णो की संख्या समान होती है या जिसमें गणो के क्रम का नियम होता है उसे वर्ण-वृत (वर्णिक) कहते हैं। जिसके प्रत्येक चरण की मात्राएं समान रहती है उसे मात्रिक छंद कहते हैं। जैन कवियों ने अपने काव्य में दोनों ही प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है।

भैया भगवतीदास की रचनाओ मे छंद वैविध्य दिखाई देता है। यद्यपि उन्होने विनम्रशीलतावश स्वयं को पिगलशास्त्र से अनभिज्ञ बताया है[21] किन्तु

उनके काव्य में छन्द-परीक्षण से ज्ञात होता है कि उन्होंने विविध छंदों का प्रयोग किया है और छंदशास्त्र का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। छंदों का इतना वैविध्य विरल कवियों के काव्य में ही दृष्टिगत होता है। दोहा, चौपाई, कवित्त और छप्पय उनके प्रिय छंद हैं। अधिकतर रचनाएं दोहा चौपाई छंद में हैं। इनके अतिरिक्त सवैया, कुंडलिया, सोरठा, अरिल्ल, प्लवंगम, पद्धरि, आर्या, चांद्रायण आदि अनेक छंदों का भी प्रयोग किया गया है। उनके काव्य से कुछ छंदों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं-

चौपई

यद्यपि प्रकाशित ब्रह्मविलास में बहुत से छंदों को चौपाई छंद लिखा गया है किन्तु परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि वह 32 मात्राओं वाला चौपाई छंद न होकर 30 मात्रओं वाला चौपई छंद है, जिसके एक चरण में 15 मात्राएं होती हैं।[22] यह लिपिकर्त्ताओं की अज्ञानता का ही परिणाम प्रतीत होता है। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है-

''एक जीव गुण धरै अनंत। ताको कछु कहिये विरतंत।
सब गुण कर्म अछादित रहैं। कैसे भिन्न-भिन्न तिहँ कहैं।।''[23]

दोहा

भैया भगवतीदास ने अधिकतर रचनाओं का आरम्भ दोहा छंद से किया है जिसमें जिनेन्द्र भगवान की वंदना की गई है। इसके अतिरिक्त कुछ पूरी रचनाए दोहा छंद में बद्ध हैं। उनके काव्य से दोहा छंदों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है-

''तीर्थंकर त्रिभुवन तिलक, तारक तरन जिनन्द।
तास चरन वंदन करौं, मनधर परमानन्द।।''
''ईश्वर निर्मल मुकुरवत, तीन लोक आभास।
सुख सत्ता चैतन्यमय, निश्चय ज्ञान विलास।।''[24]

मनहरण कवित्त

इस छंद का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें 8,8,8,7 वर्ण पर यति है और अन्तिम वर्ण गुरु है, छंद की लयात्मकता हृदयग्राही है-

''हाथी घोरे पालकी नगारे रथ नालकी न,
चकचोल चाल की न चढ़ि रीझियतु है।
स्वेतपट चाल की न, मोती मन मालकी न,
देख द्युति भाल की न मान कीजियतु है।

शैल बाग ताल की न, जल जंतु जाल की न,
दया वृहध बाल की न, दंड दीजियतु है।
देख गति काल की न, ताह कौन हालकी न,
चाबि चूब गालकी न, बीन लीजियतु है।[25]

मात्रिक कवित्त

इसके एक दल मे 31 मात्राए होती हैं और 16, 15 पर यति होती है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

चेतन नीद बडी तुम लीनी, ऐसी नींद लेय-नहिं कोय।
काल अनादि भये तोहि सोवत, विन जागे समकित क्यों होय।।
निहचै शुद्ध गयो अपनो गुण, परके भाव भिन्न करि खोय।
हस अश उज्वल ह्वै जब ही, तब ही जीव सिद्ध सम होय।।[26]

दुर्मिल सवैया

इसमें लघु लघु गुरु के क्रम से चौबीस वर्णों की पूरी पंक्ति होती है। उनके काव्य से दुर्मिल सवैया का एक उदाहरण प्रस्तुत हैं-

प्रभु बाहु सुग्रीव नरेश पिता, विजया जननी जग में जिनकी।
मृग चिह्न विराजत जासु धुजा, नगरी है सुसीमा भली जिनकी।।
शुभ केवल ज्ञान प्रकाश जिनेश्वर जानतु है सबही जिनकी।
गनवार कहै भवि जीव सुनो, तिहुं लोक मे कीरति है जिनकी।।[27]

कुंडलिया

यह छद भी भैया भगवतीदास द्वारा पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुआ है, यथा-

भैया, भरम न भूलिये, पुद्गल के परसंग।
अपनो काज संवारिये, आय ज्ञान के अंग।।
आय ज्ञान के अग, आज दर्शन गहि लीजे।
कीजे थिरता भाव, शुद्ध अनुभौ रस पीजै।।
दीजे चउविधि दान, अहो शिव-खेत बसैया।
तुम त्रिभुवन के राय, भरम जिन भूलहु भैया।।[28]

छप्पय

उनके काव्य मे छप्पय छंद का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

कल्पवृक्ष जिनधर्म, इच्छ सब पूरै मन की।
चिंतामन जिनधर्म, चिंत सब टारै जन की।।
पारस सो जिनधर्म, करै लोहादिक कंचन।
कामधेनु जिनधर्म, कामना रहती रंच न।।
जिनधर्म परमपद एक लख, अनंत जहां पाइये।
'भैया' त्रिकाल जिन-धर्म तें, मुक्तिनाथ तोहि गाइये।।''[29]

सोरठा

दोहा छंद के साथ उनके काव्य में सोरठा छंद भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

''इक अंगुल परमान, रोग छानवें भर रहे।।
कहा करै अभिमान, देख अवस्था नरक की।।''[30]

अनंगशेखर

लघु गुरु लघु गुरु के क्रम से इच्छानुसार प्रयुक्त वर्णों वाले इस छंद में प्रस्तुत पद्य की लय और गत्यात्मकता तो देखते ही बनती है-

''कटाक कर्म तोर के छटाक गाँठि छोर के,
पटाक पाप मोर के तटाक दै मृषा गई।
चटाक चिह्न जानि के, झटाक हीय आन के,
नटाकि नृत्य भान के खटाकि नै खरी ठई।।
घटाक घोर फारिके, तटाक बंध टारके,
अटाक राम धार कें, रटाक राम की जई।
गटाक शुद्ध पान को हटाकि आन आन को,
घटाकि आप थान को, सटाक श्यौ बधू लई।।''[31]

पद्धरि छंद

प्रत्येक चरण में 16 मात्राओं व अन्त में जगण (लघु गुरु लघु) युक्त पद्धरि छंद का भी भैया भगवतीदास ने पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है, यथा-

''जय जय प्रभु ऋषभ जिनेन्द्र देव। जय जय त्रिभुवनपति करहिं सेव।
जय जय श्री अजित अनंत जोर। जय जय जिहं कर्म हरे कठोर।।''[32]

मरहटा

10, 8, 11 पर यति के क्रम से 29 मात्राओं वाले इस छंद का उपयोग भी कवि ने युद्ध के प्रसंग में ही किया है, इस छंद में युद्ध का वर्णन बहुत ही उपयुक्त हुआ है। इसमें ध्वनि और अर्थ का सामंजस्य दर्शनीय है-

"बज्जहिं रण तूरै, दल बहु पूरै, चेतन गुण गावंत।
सूरा तब जग्गो, कोउ न भग्गो, अरि दल पै धावंत।।
ऐसे सब सूरे, ज्ञान अंकूरे, आये सन्मुख जेह।।
आपाबल मंडे, अरिदल खंडे, पुरुषत्वन के गेह।।"[33]

उनके छंदों मे कहीं-कहीं यति भंग और लघु गुरु वर्णों के क्रम का उल्लंघन भी मिलता है किन्तु इससे उनके काव्य सौंदर्य मे कुछ भी क्षति नहीं होती, क्योंकि वे किसी लक्षण ग्रंथ की रचना नहीं कर रहे थे। छंद उनके काव्य सृजन का साधन थे साध्य नहीं।

इन छंदों के अतिरिक्त भैया भगवतीदास ने आर्या, धत्ता, मत्तगयन्द आदि छंदों का भी प्रयोग किया है। प्रसंग के अनुकूल छंदों के प्रयोग से उनका महत्व और सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है। 'भैया' जी ने चेतनकर्मचरित्र आदि प्रबन्धकाव्यो मे अधिकतर चौपई छंद, जिनेन्द्र भगवान की वंदना करने के लिये दोहा छद तथा युद्ध का सजीव वर्णन करने के करिखा और मरहटा छंद का प्रयाग किया है। इस प्रकार विविध मात्रिक और वर्णिक छंदों का उपयुक्त प्रयोग छदशास्त्र मे उनके पर्याप्त ज्ञान और गति का द्योतक है। डॉ0 प्रेमसागर जैन ने उन्हे 'कवित्तों का राजा' कहा है।[34] छंद-बद्ध होने से उनके काव्य में सगीतात्मकता का समावेश हो गया है और उसकी प्रभावोत्पादक शक्ति में अतीव वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त उन्हे विभिन्न रागरागनियों का भी ज्ञान था। परमार्थ पद-पंक्ति के समस्त पद भैरव, बिलावल, रामकली, काफी, सारग, देवगधार, विहाग आदि अनेक राग रागनियों में बद्ध हैं।

मध्यकालीन हिन्दी जैन भक्त कवियों ने पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी आदि के रूप मे भावाभिव्यक्ति की है। उन्होंने अपनी रचनाओं के नाम अधिकतर छद-सख्या के आधार पर निर्धारित किये हैं। भैया भगवतीदास ने भी अपने ग्रथो के नाम अधिकतर इसी आधार पर रखे हैं। उन्होंने पच्चीसियाँ सर्वाधिक मात्रा में लिखीं जिनके नाम इस प्रकार हैं- उपदेशपचीसिका, अनित्य पचीसिका, सुपंथ कुपंथ पचीसिका, पुण्यपाप जगमूलपचीसी, जिनधर्म पचीसिका, सम्यक्त्व पचीसिका, वैराग्य पचीसिका, नाटक पचीसी, ईश्वर निर्णय पचीसी, कर्त्ताअकर्त्ता पचीसी, दृष्टांत पचीसी। इनसे कम संख्या है बत्तीसियों की, जो इस प्रकार है- अनादि बत्तीसिका, अक्षरबत्तीसिका, मनबत्तीसी, स्वप्नबत्तीसी, सुआबत्तीसी। इनके अतिरिक्त उन्होने अष्टक, चतुर्दशी, चौबीसी, छत्तीसी और अष्टोत्तरी भी लिखीं हैं।

भाषा

प्रत्येक कवि भावाभिव्यक्ति के लिये किसी भाषा को अपनाता है। भाव यदि काव्य की आत्मा है तो भाषा उसका शरीर है। सुन्दर भावों की अभिव्यंजना के लिये कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। समर्थ कवियों की भाषा उनकी भावानुगामिनी होती है जो उनके अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्ति देती चलती है। भैया भगवतीदास ने भावाभिव्यंजना के लिये उत्तर प्रदेश की तत्कालीन जनभाषा को अपनाया है, जिसे हम ब्रजमिश्रित हिन्दी खड़ी बोली का विकसित होता हुआ रूप कह सकते हैं। वे संस्कृत तथा प्राकृत के विद्वान थे, अरबी फारसी का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था अतः उनकी भाषा में तत्सम, तद्भव, सामान्य बोलचाल के तथा विदेशी सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिये कुछ शब्दों की सूचियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

तत्सम शब्द

भैया भगवतीदास जी की अनूदित तथा दर्शन प्रधान रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दो का ही अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। शेष रचनाओं में भी तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। ऐसे कुछ शब्दों की सूची यहाँ प्रस्तुत है- अंखडित, अंगज, अवक्तव्य, अस्ति, उपशम, उपेक्षा, कंचन, तार्क्ष्य, द्रव्यगुण, दर्शन, नास्ति, निर्मल, नीलोत्पल, परमानन्द, प्रत्याख्यान, भ्रामक, मिथ्यात्व, मीन, मोक्ष, वज्र, वर्जित, विद्यमान, विवेक, वृषभ, व्योम, शुद्धि, शून्य, शुभ्र, श्रावक, षट, सयंम, सप्तम, सिद्ध, सृष्टि, सुरपति।

तद्भव शब्द

प्रयोग में आते-आते बहुत से शब्द अपने मूल रूप से भिन्न हो जाते हैं। भैया भगवतीदास ने ऐसे तद्भव शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। ऐसे कुछ शब्दों की सूची यहाँ प्रस्तुत है-

अचरज < आश्चर्य, अपछरा < अप्सरा, आतम < आत्म, उवझाय < उपाध्याय, ऊरध < ऊर्ध्व, करतब < कर्तव्य, कूख < कुक्षि, चारित < चारित्र, जुझार < युद्धकार, तत्ता < तप्त, धूम < धूम्र, निरवाह < निर्वाह, पच्छिम < पश्चिम, परमाद < प्रमाद, परसाद < प्रसाद, पुहुमि < पृथ्वी, प्रानी < प्राणी, बरनन < वर्णन, महूरत < मुर्हूत, वानी < वाणी, विधना < विधाता, सरवज्ञ < सर्वज्ञ।

सामान्य बोलचाल के शब्द

उथल पुथल, टेव, टोटा, नगीच, नियारी, नीकी, पतियारी, पिछोरी, पोखिये, बकवाद, बकिबो, बापुरो, बांझ, मूंडी, लल्लोपत्तो, होंस, हंकारि।

विदेशी शब्द

भैया भगवतीदास ने तत्कालीन जन-प्रचलित भाषा को अपनाया है। अत: उनकी भाषा में कुछ विदेशी शब्द अपने मूल रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं और कुछ विकृत रूप मे। यहाँ ऐसे ही शब्दों की पृथक-पृथक सूची दी जा रही है-

अरबी भाषा के शब्द

मूल रूप में प्रयुक्त-इलाज, ऐन, ऐब, महल्ला, मुद्दत, सिलह,

विकारयुक्त-अदल < अद्‌ल, उमर < उम्र, कूबत < कूवत, ख्याल < खयाल, फैल < फेल, साहत < सायत, साहिब < साहब, हजूर < हुजूर, हुकुम < हुक्म।

फारसी भाषा के शब्द

मूल रूप में प्रयुक्त- खुशामदी, गुनाह, गुमान, जहान, दमामा, दरम्यान, दाम, दिल, निशानी, पाठ, मीर, यार, सरदार, सिपहसालार।

विकारयुक्त- अरदास < अर्जदाश्त, आतिस < आतिश, चशम < चश्म, जसूस < जासूस, जुदे < जुदा, तमासगीर < तमाशबीन, दोजक < दोज़ख, निवाज < नवाज़, परवाह < परवा, पातशाह < बादशाह, फिरस्तों < फरिश्तो, महिमान < मेहमान, मोरचे < मोरच:, हुश्यिार < होशियार।

अरबी फारसी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको हम न विकृत कह सकते है न पूर्णत: शुद्ध। उस समय देवनागरी लिपि में अरबी फारसी भाषा की कुछ ध्वनियो के लिये कोई सकेत चिह्न ही नहीं था, कालान्तर में इन्हें देवनागरी वर्णों के नीचे बिन्दु लगाकर संकेतित किया गया।

तुर्की शब्द

कुमक

ध्वनि परिवर्तन

तत्सम शब्दावली से तद्‌भव शब्दो के निर्माण तथा लोकव्यवहार की शब्दावली मे अनेक स्थानों पर ध्वनि परिवर्तन दृष्टिगत होता है। यहाँ भैया भगवती दास की भाषा मे ध्वनि परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्तियों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है-

स्वर परिवर्तन-

अ=ऐ	मल > मैल
आ=अ	वृतान्त > विरतंत
इ=ई	विनती > बीनती
इ=ओ	उदित > उदोत
इ=औ	दिवस > द्यौंस
ई=इ	मुनीन्द्र > मुनिन्द

व्यंजन परिवर्तन

क=ग	प्रकट > परगट
क्ष=ख	कुक्षि > कूख
द=ग	पुद्गल > पुग्गल
द=ज	दशरथ > जसरथ
थ=ह	नाथ > नाहु
ब=प	बादशाह > पातशाह
य=ज	योद्धा > जोधा
ष=ख	भाषै > भाखै
स=छ	अप्सरा > अपछरा

स्वर का आगम

अग्नि > अगनी

द्रव्य > दरब

प्रपंच > परपंच

आचार्य > आचारज

निर्वाह > निरवाह

प्रणाम > परणाम

व्यंजन का आगम

कर्म > कर्म्म

कुछ > कछुइक

कौन > कवन

बाईस > बाहिज

स्वर का लोप

शिव > श्यौ

नरक > नर्क

चरण > चर्ण

परम > पर्म

व्यंजन का लोप

अर्ज़दास्त > अरदास

उदय > उदै

अनुभव > अनुभौ

ध्वनि > धुनि

पवन > पौन　　　　　वचन > वच

विनय > बिनै　　　　　लक्ष्मी > लच्छि

व्यथा > विथा　　　　　सम्यक्त्व > समकित

भैया भगवतीदास की कृतियों में कुछ छंद अरबी फारसी शब्दों से बोझिल है अत: उनका 'टोन' फारसीमय हो गया है। इसके अतिरिक्त उनका गुजराती भाषा पर भी पर्याप्त अधिकार था, इसका प्रमाण उनका गुजराती भाषा मे लिखा गया एक छंद है।[35] इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं 'नकार' के स्थान पर 'णकार' के प्रयोग से उन पर राजस्थानी तथा गुजराती प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि आगरा की सीमाएं एक ओर से ब्रजप्रदेश का स्पर्श करती हैं तो दूसरी ओर राजस्थान का। उदाहरणार्थ-

राखण, धणो, तणो, जाणै,

उनकी भाषा मे 'जू' लगाने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, जिसे बुदलेखडी का प्रभाव माना जा सकता है, यथा-

"जिन राज जू ने यातै कह्यो।

सर्वज्ञ जू ने पुग्गल प्रमाणु प्रति।

ब्रह्मा जू की सृष्टि को चुराय चोर लै गये।"

किसी भी कवि की भाषा का विवेचन करते समय उनके द्वारा प्रयुक्त सज्ञा, सर्वनाम, कारक तथा क्रिया रूपों का अध्ययन वाछनीय है, अत: यहाँ भैया भगवतीदास की भाषा का इसी दृष्टि से अध्ययन किया जा रहा है-

संज्ञा रूप

ब्रजभाषा मे व्यंजनान्त सज्ञाओ मे 'अन' प्रत्यय जोड़कर बहुवचन बनाया जाता है। यह प्रवृत्ति भैया भगवतीदास की भाषा में बहुत अधिक दृष्टिगत होती है, यथा-

"ससारी **जीवन** (जीवो) के **करमन (कर्मो)** को बंध होय।"

"**धूमन** के धौरहर देख कहा गर्व करै।

सूरन की नहिं रीति अरि आये घर में रहे।"

कवि ने 'अन' के स्थान पर 'अनि' प्रत्यय का प्रयोग भी किया है, यथा-

"इतने **पदार्थनि** को कायधर मानिये।

तोलो तोहि **गन्थनि** में ऐसे के बतायो है।।"

स्त्रीलिंग संज्ञाओं में 'इन' तथा 'ईन' प्रत्यय के योग से बहुवचन बनाये गये हैं, यथा-

"**इन्दिन** के सुख में मगन रहै आठो जाम।

दासीन के संग खेल खेलत अनादि बीते॥"

क्रिया रूप

भैया भगवतीदास जी की कृतियों में क्रियाओं का प्रयोग प्रायः ब्रजभाषा की प्रवृत्ति के अनुसार हुआ है। **वर्तमान काल उत्तम पुरुष** के साथ उकरान्त क्रियायें दृष्टिगत होती है, यथा-

प्रणमूं परम देव के पाय।

इसके अतिरिक्त 'अत' अथवा 'अतु' लगाकर भी रूप बनाये गये हैं, यथा-

बांध **मंगावत** हों तुम तीर।

"हेतु हेतु तुअ हेतु **कहतु** हों रूप गह।"

मध्यम पुरुष में क्रिया के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं, यथा- ऐकारान्त, 'अत' तथा 'अतु' प्रत्यान्त-

मूढ़ क्यों जन्म **गमावै**।

अबके सभारितैं पार भले **पहुंचत** हौं।

तू कछु भेद न **बूझतू** रंचक।

अन्य पुरुष में भी क्रिया के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं अत, अतु, हि तथा ऐकारान्त, यथा-

सोवत महल मिथ्यात में।

ये अपने अपने रस को नित **पोखतु** हैं।

ताकी भगति **करहि** मन लाय।

रसना के रस मीन प्राण पल माहिं **गमावै**।

उत्तम पुरुष में एकारान्त तथा ओकारान्त क्रिया रूप प्रयुक्त हुए हैं, यथा-

तब मैं पाप **किये** इहि संग।

मैं **जानो** सब मेरो देश।

मध्यम पुरुष में भूतकालिक क्रियाएं ईकारान्त, एकारान्त तथा ओकारान्त हैं-

जिय ! तुमने सांची **कही**।

ताकी तुम तीर **आये**।

अरे तैं जु यह जन्म **गमायो** रे।

अन्य पुरुष में भूतकालिक क्रियाओं के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं, यथा- ईकारान्त, नी (कीनी), न्ही (कीन्ही), ओकारान्त तथा अन्तिम वर्ण में स्वर को लोप करके तथा 'यो' लगाकर-

मृग करि श्रवण सनेह देह दुरजन को **दीनी**।

निज पुत्री **दीन्ही** परनाय।

इहि **कीन्हों** जैसे नटकीस।

जडपुर को मुह **कियो** नरेस।

कोप्यो मोह महा बली।

भविष्यत्काल- उत्तम पुरुष की भविष्यत्कालिक क्रियायें एकारान्त, ऐकारान्त अथवा 'इहो' लगाकर बनाई गई हैं-

अब या को हम **परसें** नाही।

निजबल राज **करैं** जग माहि।

जो ऐहै या दाव में तौं मैं **करिहों** भोर।

मध्यम पुरुष में भविष्यवत्कालिक क्रियायें 'इहो', 'हुगे', और 'बो' लगाकर बनाई गई हैं, यथा-

देखे सो **बचिहो** पुनि नाहिं।

तुमहू सब जन दौरिके जाय **मिलहुग** धाय।

बहुर्यो फिर **मिलबो** नाहिं।

अन्य पुरुष मे ये क्रियायें 'गे' अथवा 'है' लगाकर बनाई गई हैं, यथा-

ते तोहि सौज **करेंगे**।

देहैं सजा बहु ऐसी भई।

जैन कवियों की भाषा सामान्यत: प्रसाद गुण युक्त है। भैया भगवतीदास जी की कृतियो की भाषा भी प्रसादगुण से ओतप्रोत है। जैन-धर्म के पारिभाषिक शब्दों के कारण कहीं-कहीं बोधमम्यता में बाधा अवश्य पड़ गई है अन्यथा उसमे कहीं भी क्लिष्टता अथवा जटिलता नहीं है। भाषा का एक अन्य गुण 'ओज' भी भैया जी की रचनाओं में कूट-कूट कर भरा हुआ है। उनके पद ओजस्विता से परिपूर्ण हैं। चेतनकर्मचरित्र में चेतन तथा मोह के परस्पर युद्ध का वर्णन होने से वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वहाँ उनकी भाषा ओज से परिपूर्ण युद्ध वर्णन के उपयुक्त है। द्रष्टव्य है एक उदाहरण-

रणसिंगे बज्जहिं, कोऊन भज्जहिं, करहिं महा दोउ जुद्ध।।

इतजीव हंकारहिं, निज परवारहिं, करहु अरिन को रूद्ध।।

डॉ0 प्रेमसागर जैन के अनुसार "उनका (भैया भगवतीदास का) ब्रह्मविलास ओज से भरा सिन्दूर-घट है। बनारसी का 'शान्त-रस' शान्ति की गोद में पनपा, जबकि भैया का वीरता के प्रभंजन में जनमा, पला और पुष्ट हुआ। अध्यात्म और भक्ति के क्षेत्र में वीर रस का प्रयोग भैया की अपनी विशेषता थी।"[36]

उनमें भावाभिव्यक्ति की अद्‌भुत क्षमता थी। उनकी वाणी कामधेनु की भाँति उनके अभीप्सित भावों को व्यक्त करती चलती है। भावानुकूल भाषा का प्रयोग उनकी एक अन्य विशेषता है।

उनकी भाषा का सांगोपांग अवलोकन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम तद्‌भव शब्दों से युक्त अरबी, फारसी शब्दों से भरपूर ब्रजभाषा से प्रभावित, विकसित होती हुई खड़ी बोली थी। भावाभिव्यंजना की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

भाषा में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। जब कोई शब्द-समूह अथवा वाक्यांश अपने अभिधार्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का द्योतन करने लगता है और उसी अर्थ में रूढ़ हो जाता है तो वही मुहावरा बन जाता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति का यह प्रकार शब्द की लक्षणा शक्ति पर आधारित है। हिन्दी के सब मुहावरे लक्ष्यार्थ के उदाहरण हैं। अर्थात् उन सबमें लक्षण-शक्ति अभिप्रेत होती है। संक्षेप में गहरी चोट कर जाना, कोई मार्मिक व्यंजना कर डालना, यह मुहावरों के माध्यम से ही सम्भव है। अतः मुहावरे भाषा का शृंगार हैं। जन-मानस के अनुभव के आधार पर अथवा किसी घटना विशेष के कारण जब कोई उक्ति समाज में प्रचलित हो जाती है तो लोकोक्ति कहलाती है। लोकोक्ति में गागर में सागर भरने की प्रवृति काम करती है। इसमें जीवन के सत्य बड़ी खूबी से प्रकट होते हैं। लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान के धनीभूत रत्न हैं। सांसारिक व्यवहार-पटुता और सामान्य-बुद्धि का जैसा निदर्शन कहावतों में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों ही समाज के द्वारा अनुभूत तथ्यों पर आधारित हैं। इनमें अभिव्यंजना की अद्‌भुत शक्ति होती है। जो भाव कितने ही विस्तृत

वाक्यों में स्पष्ट नहीं किया जा सकता, उसे एक छोटे से मुहावरे या लोकोक्ति के माध्यम से सरलता से अभिव्यक्ति दी जा सकती है, अतः इनके माध्यम से लेखक संक्षेप में ही बहुत कुछ कह देता है।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से लेखक के भाषा पर अधिकार का परिचय मिलता है। लोकोक्तियाँ जन-सामान्य की धरोहर होती हैं, जो कवि जितना अधिक जन सम्पर्क में रहता है उतना अधिक ही अपनी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करता है। भैया भगवतीदास ने भी मुहावरों और लोकोक्तियों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है जिससे उनकी भाषा में रोचकता और सजीवता आ गई है। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत है--

मुहावरे

1 दिन दस बीत जाये हाथ पीट पछताय।
2. पींजरे से पाछी उड़ जातु है।
3 व्याधि की पोट बनाई काया।
4 पाय पसारि पर्‌यो धरती माहिं।
5. तेरे कर चिन्तामणि आयो।
6 घट की आँखे खोल जोहरी।
7. तिनकी मूर उखारहु नीव।
8 छिन मे रक करै छिन राव।
9 होय हम नाम दिन दिन सवायो।
10. जो कबहु टेढो बकै।
11 बाधकर मोरचे बहुरि सन्मुख भयो।
12 तबै मोह नृप बीडा धरै।
13. चढ्‌यो सु मुछ मरोरि।
14 जो चूको अब दाव।
15 जो ऐहै मो दाव में, तौ मैं करिहो भोर।
16 खोटे फंद रचे अरिजाला।
17. सोवहु सदन पिछोरी तान।
18 खोल देख घट पटहि उघरना।
19. खाय चल्यो गाठ की कमाई।
20. लाख बात की बात यह।

लोकोक्तियाँ

1 जोवन की जेब भरे, जुवति लगावे गरे।
2. गुड़ खाय जो काहे न कान विंधावे।
3. सूरन की नहिं रीति, अरि आये घर में रहे।
4. जैसी कछु करनी, तैसी भरनी।
5. दिन दश निकस बहुर फिर परना।
6. वेश्याघर पूत भयो बाप कहै कौन सो।
7 आज काल जम लेत है तू जोरत है दाम।
8 जगहिं चलाचल देखिये कोउ सांझ कोउ भोर।
9. इहि काल बली सों बली नहिं कोय।
10. आतम के काज बिना रज सम राज सुख।
11 हाथ ले कुल्हारी पांय मारत है अपनो।
12. इक अंगुल परमान रोग छानवें भर रहे।
13 वोवे जे वबूर ते तौ आम कैसे खावेगे।
14 सूत न कपास करै कोरी सो लठालठी।
15 गुरु अंधे शिष्य अंध की लखै न बार कुबार।
16. कौडी के अनन्त भाग आपन बिकाय चुके।
17 बीति गयो औसर बनाय कहै बतियां।
18 सांप तजै ज्यों कंचुकी, विष नही तजै शरीर।
19. सांपहि गहि पकरिये, कुगुरु न पकर गंवार।

सारांश यह है कि उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भैया भगवतीदास की भाषा में बोधगम्यता, स्वाभाविकता, सजीवता तथा रोचकता आ गई है। इनके प्रयोग से अर्थगाम्भीर्य के साथ-साथ भाषा में प्रवाह का भी संचार हुआ है।

चमत्कारिक शैलियाँ

भैया भगवतीदास ने उस समय काव्य-रचना की जब हिन्दी साहित्य में रीतिकाल चल रहा था। यद्यपि वे रस अलंकार आदि के क्षेत्र में तत्कालीन प्रवृत्तियों से अप्रभावित रहे तथापि अपने युग से नितान्त असंपृक्त भी वे न रह सके। उन्होंने कथन की अनेक चमत्कारपूर्ण शैलियों को अपनाया जिनमें

निश्चय ही हृदय-पक्ष क्षीण तथा बुद्धि-पक्ष सबल है। उनके द्वारा रचित 'चित्र-काव्य' का "कृतियों का परिचय" अध्याय के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है।

परमात्मशतक में कवि ने कुछ ऐसी शैलियों का प्रयोग किया है। इसमें रचना काल का सम्वत् सीधे सरल ढंग से अकों मे न बताकर कवि ने कितनी चमत्कारपूर्ण शैली में बताया है-

"जुगल चन्द की जे कला, अरु सयम के भेद।
सो सवत्सर जानिये, फाल्गुन तीज सुपेद।"[37]

अर्थात् चंद्रमा की सोलह कलाओं के युगल अर्थात् बत्तीस और संयम नियमो के सत्रह भेद, इस प्रकार सम्वत् 1732 वि0 का संकेत दिया गया है। कहने का तात्पर्य है कि फाल्गुन शुक्ल तृतीया सम्वत् 1732 को इस कृति की रचना की गई। इस प्रकार शब्दों के माध्यम से अको को व्यक्त किया गया है।

एक अन्य दोहे मे अंको के माध्यम से कुछ शब्दो के अर्थ खीचकर निकाले गए है-

"जे लागे दशबीस सो, ते तेरह पचास।
सोरह बासठ कीजिये, छाड चार को वास।।"[38]

इसका अर्थ इस प्रकार है-जो दश बीस=तीस से, अर्थात् तृष्णा तृप्त करने मे लगे रहे वे तेरह पचास=त्रेसठ (तरेसठ) अर्थात् शठ है। अत: वे सोलह बासठ=अठहत्तर (अठहत्तर) अर्थात् आठ कर्मो को नष्ट अर्थात हत कर इस भवसागर से पार हो (तर) और चार गतियो (देव, मुनष्य, तिर्यंच, नरक) का वास छोड़ दें। यहाँ कवि ने सख्यावाचक शब्दों से अन्य अर्थ द्योतित करने की योजना अपनाई है।

जैन धर्म में चार संख्या के कितने ही समूह होते हैं जैसे चार गति, चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) चार अनन्त चतुष्टय (अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य) कवि ने एक ही दोहे में चार शब्द का चार बार प्रयोग किया है और प्रत्येक बार वह भिन्न-भिन्न समूहो का द्योतक है-

"चार माहिं जोलों फिरै, धरै चार सो प्रीति।।
तोलों चार लखै नहीं, चार खूंट यह रीति।।"[39]

अर्थात् जीव जब तक चार गतियो का भ्रमण करता रहता है और चार कषायों मे प्रीति रखता है, जब तक चार अनन्त चतुष्टय को प्राप्त नहीं कर सकता,

चार खूंट अर्थात् संसार की यही गति है।

मनबत्तीसी में मन अर्थात् चित्त के लिये आठ पसेरी (आठ पसेरी=मन) का प्रयोग किया गया है। मन के दोनों अर्थ है चित्त तथा भार की एक माप=मन (40 सेर अतः आठ पसेरी=मन अर्थात् चित्त।

''कहा मुंडाये मूंड बसे कहा मट्ठका।
कहा नहाये गंग नदी के तट्ट का।।
कहा कथा के सुने वचन के पट्ठ का।
जो बस नाही तोहि पसेरी अट्ठ का।।''[40]

भैया भगवतीदास के काव्य में बहिर्लापिका तथा अंतर्लापिका भी हैं इनका लक्षण कवि केशव ने इस प्रकार बताया है-

''उत्तर बरण जु बहिरै बहिर्लापिका होय।
अन्तर अन्तर्लापिका यह जानै सब कोय।।''[41]

छन्द में कुछ प्रश्न किये जाते हैं जहाँ उत्तर के अक्षर बाहर से निश्चित किये जाये वहाँ बहिर्लापिका और जहाँ उत्तर के अक्षर उसी छंद में सम्मिलित हों उसे अन्तर्लापिका कहते हैं। कवि केशव ने बहिर्लापिका और अन्तर्लापिका के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। लाला भगवान दीन ने इनको अलंकार कहा है।[42] इनका मूल हमे विक्रमी की चौदहवीं शताब्दी के कवि अमीर खुसरो की पहेलियों मे मिलता है-

''एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औधा धरा।।
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।।''
(उत्तर आकाश)[43]

''चार महीने बहुत चलै औ आठ महीने थोरी।
अमीर खुसरो यों कहै तू बूझ पहेली मोरी।।''
(उत्तर-मोरी)[44]

इनमें से प्रथम को बहिर्लापिका तथा द्वितीय को अन्तर्लापिका कह सकते हैं। भैया भगवतीदास कृत आश्चर्यचतुर्दशी में एक छंद को बहिर्लापिका तथा दो छंदों को अंतर्लापिका लिखा गया है, जबकि परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि जिसको बहिर्लापिका लिखा गया है वह छंद भी अंतर्लापिका का ही उदाहरण है जो यहाँ प्रस्तुत है-

''कहा सरसुति के कंध ? कहो छिन भंगुर को है ?।

कानन को कहा नाम ? बहुत सों कहियत जो है ?।।
भूपति के संग कहा ? साधु राजै किहं थानक ?।
लच्छिय विरथी कहाँ ? कहा रेसम सम वानक ?।।
श्रेयांसराय कीन्हो कहा ? सो कीजे भविजन ददा।
सब अर्थ अन्त यह तंत, सुन वीतराग सेवहु सदा।।''[45]

इस छंद में बहुत से प्रश्न है और इसी छन्द की अन्तिम पंक्ति के 'सुन वीतराग सेवहु सदा' के वर्णों को विशेष क्रम से लगाने पर सब प्रश्नों के उत्तर निकल आते हैं। इसके तीसरे और दूसरे अक्षर से वीन (पहले प्रश्न का उत्तर) चौथे और दूसरे से तन, पांचवे दूसरे से रान, छठे और दूसरे से गन, सातवें दूसरे से सेन, आठवें दूसरे से वन, नवें दूसरे से होन (हुन) दसवें दूसरे से सन और ग्यारहवें दूसरे से दान बनकर सब प्रश्नों के उत्तर निकलते है। इस प्रकार यह भी अंतर्लापिका का ही उदाहरण है।

भैया भगवतीदास ने कुछ एकाक्षरी, द्वयक्षरी, त्रयक्षरी, चतुरक्षरी दोहो की भी रचना की है। कवि केशवदास ने भी इस प्रकार के छदो की पर्याप्त मात्रा मे रचना की है। भैया भगवतीदास के काव्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

एकाक्षरी

''नानी नानी नान मे, नानी नानी नान।।
नन नानी नन नान नै, नन नैनानन नान।।''[46]

द्वयक्षरी

''मान न मानों मान में, मान मान मै मान।।
मनु न मानै मान में, मान मानु मे मान।।''[47]

इन छदो का अर्थ मस्तिष्क को पर्याप्त व्यायाम कराने के पश्चात् कुछ न कुछ तो निकल ही आता है किन्तु दृष्टि बाहय चमत्कार पर ही उलझकर रह जाती है हृदय तो उसमे रम ही नहीं पाता।

इस प्रकार इन शैलियो में काव्य का कलापक्ष ही पुष्ट है, भाव पक्ष अत्यंत शिथिल हो गया है। सामान्य व्यक्ति को तो ये छंद बोधगम्य भी नहीं हो सकते। यह भैया भगवतीदास पर तत्कालीन रीतिकाव्य का प्रभाव है। यद्यपि इन शैलियों का उपयोग अपेक्षाकृत कम ही किया गया है तथापि वे अपने युग से नितान्त अप्रभावित भी न रह सके।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते।'
   - आचार्य दण्डी, **काव्यादर्श**, 2 (1)
2. केशवदास, **कविप्रिया**, 511
3. भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 48
4. भैया भगवतीदास, **बाईसपरीसहन के कवित्त**, छं0 सं0 19
5. भैया भगवतीदास, **पंचेन्द्रिय संवाद**, छं0 सं0 81
6. वही, छं0 सं0 44
7. भैया भगवतीदास, **ईश्वर निर्णयपचीसी**, छं0 सं0 6
8. भैया भगवतीदास, **जिनगुणमाला**, छं0 सं0 13,14
9. भैया भगवतीदास, **पुण्यचीसिका**, छं0 सं0 17
10. भैया भगवतीदास, **ब्रह्माब्रह्म निर्णय चतुर्दशी**, छ0 स0 9
11. भैया भगवतीदास, **गुणमंजरी**, छं0 सं0 2,3
12. भैया भगवतीदास, **दृष्टान्त पचीसी**, छं0 स0 20
13. भैया भगवतीदास, **बाईस परीसहन के कवित्त**, छं0 सं0 3
14. भैया भगवतीदास, **दृष्टान्त पचीसी**, छं0 स0 4
15. भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छ0 सं0 27
16. भैया भगवतीदास, **फुटकर विषय**, छं0 सं0 26
17. **शतअष्टोत्तरी**, छ0 सं0 103
18. भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 74
19. नेमिचन्द्र शास्त्री, **हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन**, भाग 2, पृ0 सं0 163
20. रामबहोरी शुक्ल, **काव्य-प्रदीप**, पृ0 सं0 266
21. मैं न पढ्यों पिंगल न देख्यो छंद कोश कोऊ,
    नाममाला नाम को पढ़ी नहीं विचारके।
    - भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छं0 सं0 107
22. जगन्नाथ प्रसाद भानुकवि, **छंद प्रभाकर**, पृ0 सं0 48
23. भैया भगवतीदास, **अष्टकर्म की चौपाई**, छं0 सं0 2
24. भैया भगवतीदास, **कर्ता अकर्तापचीसी**, छं0 सं0 16
25. भैया भगवतीदास, **ईश्वर निर्णयपचीसी**, छं0 सं0 11

26 भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छं0 स0 83

27. भैया भगवतीदास, **विदेहक्षेत्रस्थ वर्तमान जिन विंशतिका**, छं0 सं0 3

28. भैया भगवतीदास, **शतअष्टोत्तरी**, छं0 सं0 71

29. भैया भगवतीदास, **जिनधर्मपचीसिका**, छं0 सं0 5

30. भैया भगवतीदास, **पंचेन्द्रिय संवाद**, छं0 सं0 109

31. भैया भगवतीदास, **सुबुद्धि चौबीसी**, छं0 सं0 9

32. भैया भगवतीदास, **चतुर्विंशति तीर्थंकर जयमाला**, छं0 सं0 2

33. भैया भगवतीदास, **चेतनकर्म चरित्र**, छं0 सं0 105

34 डॉ0 प्रेमसागर जैन, **हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि**, पृ0 स0 438

35 **शत अष्टोत्तरी**, छं0 सं0 40

36 डॉ0 प्रेमसागर जैन, **हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि**, पृ0 स0 270

37 भैया भगवतीदास, **परमात्म शतक**, छं0 सं0 100

38 वही, छ0 स0 41

39. वही, छ0 स0 40

40 भैया भगवतीदास, **मनबत्तीसी**, छ0 स0 29

41 कवि केशव, **कवि प्रिया**, सोलहवा प्रभाव, छ0 स0 43

42 लाला भगवानदीन, **प्रिया प्रकाश**, पृ0 सं0 326, 327

43 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत, **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ0 स0 55 से उद्धृत

44 हिन्दी शब्द सागर, प्रथम भाग, (अन्तर्गत अन्तर्लापिका)पृ0 स0 29

45 भैया भगवतीदास, **आश्चर्य चतुर्दशी**, छ0 स0 4

46 भैया भगवतीदास, **फुटकर कविता**, छ0 स0 18

47. वही, छ0 सं0 19

अध्याय - 6

दार्शनिक विवेचन

सृष्टि कर्तृत्व विचार

जैन दर्शन के अनुसार यह संसार कुछ द्रव्यों से मिल कर बना है, ये हैं जीव और अजीव। अजीव द्रव्य पांच प्रकार का है, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। इस प्रकार ये षट द्रव्य हैं जिनसे सम्पूर्ण संसार की सृष्टि हुई है, संसार में इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। द्रव्य का लक्षण है सत् अर्थात् अस्तित्व, और जैन दर्शन के अनुसार सत् का लक्षण है-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अर्थात् उत्पत्ति विनाश और स्थिरता। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों प्रक्रियायें प्रतिक्षण होती रहती हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय (अवस्था) से युक्त होता है। उसमे जो गुण होते हैं वे तो ध्रुव अर्थात् स्थायी होते हैं और पर्याय उत्पत्ति और विनाशशील होती है। यदि स्वर्ण के एक आभूषण हार को तुड़वा कर कंगन बनवा लिये जायें तो स्वर्ण की हार अवस्था का विनाश कंगन पर्याय की उत्पत्ति और स्वर्ण गुण ध्रौव्य रहता है। जैन दर्शनाचार्यों ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। श्री भागेन्दु कृत महावीराष्टक स्तोत्र में कहा गया है-

"यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावश्चिदचितः,
सम भांति ध्रौव्य व्यय जनि लसन्तोऽन्तरहिता।।"

अर्थात् "जिनके केवलज्ञान में ध्रौव्य, व्यय और उत्पत्ति सहित अनन्त चेतन और अचेतन पदार्थ दर्पण में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होने के समान एक साथ प्रतिभासित होते हैं।" इस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ त्रयात्मक (ध्रौव्य व्यय उत्पत्ति युक्त) हैं, उन्हें उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक भी कह सकते हैं और गुण पर्यायात्मक भी। और प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि द्रव्य नित्य भी होते है और अनित्य भी। कविवर 'भैया' ने द्रव्य के इस त्रयात्मक रूप को कितनी सरल भाषा में स्पष्ट कर दिया है-

"यह ससार अनादि को, यहीं भांत चल आय।
उपजै विनशै थिर रहैं, सो सब वस्तु स्वभाय।।"[1]

वे षट द्रव्य जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित है, अनादि और अनन्त हैं, सबका

अपना भिन्न-भिन्न स्वभाव होता है, उनका स्वभाव भी अनादि काल से जैसा है अनन्त काल तक वैसा ही रहेगा। सभी द्रव्यों का अपने-अपने गुण और पर्याय के अनुसार परिणमन होता रहता है और सृष्टि स्वतः ही चलती रहती है। कोई किसी द्रव्य का निर्माता नहीं है। भैया भगवतीदास ने इस बात को अनादि बत्तीसिका में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है-

"छहो सु द्रव्य अनादि के, जगत माहि जयवंत।
को किस ही कर्ता नहीं, यों भाखै भगवंत।।
अपने गुण परजाय में, बरतें सब निरधार।।
को काहू मेटै नहीं, यह अनादि विस्तार।।"

जैन-दर्शन के अनुसार जिन षट द्रव्यों के अस्तित्वस्वरूप यह सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है, वे इस प्रकार हैं-

जीव द्रव्य-

इस जीव द्रव्य का प्रमुख लक्षण है चेतना, जिसके कारण यह अन्य पाच द्रव्यों से नितान्त भिन्न है। इसीलिये प्रायः इसे चेतन नाम से ही पुकारते है। कविवर भगवतीदास ने भी इसे चेतन द्रव्य नाम दिया है-

"षष्ठम चेतन द्रव्य है, दर्शन ज्ञान स्वभाय।।
परणामी परयोग सों, शुद्ध अशुद्ध कहाय।।"[2]

इसी चेतनता के कारण यही देखने सुनने और जानने वाला है अर्थात् ज्ञानमय है। इसकी दूसरी विशेषता है अमूर्तत्व। यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से परे है, अगोचर है। जिस शरीर को धारण करता है उसी के अनुरूप आकार ग्रहण कर लेता है, अतः स्वदेह परिमाण है। जीव स्वय ही कर्म करता है, स्वयं ही उनका फल भोगता है, स्वय ही कर्मजाल के बधन में पड़कर नाना जन्म धारण करता है किन्तु अनन्त शक्तिवान है। अपने पुरुषार्थ के बल पर उन कर्मबंधनों को काटकर मुक्त अर्थात् सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है अतः उसमें परमात्मपद प्राप्त करने की सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान रहती है। यह बात भिन्न है कि ससारी जीव अज्ञान के कारण अपनी इस शक्तिमत्ता से अनभिज्ञ रहता है। वह देह से मुक्त होते ही ऊपर की ओर गमन करता है अतः ऊर्ध्वगामी है। द्रव्य सग्रह मे नेमिचन्द आचार्य ने जीव की यही विशेषताएँ बताई हैं। आचार्य पूज्यपाद ने भी सिद्ध भक्ति में एक श्लोक में आत्मा की इन सब विशेषताओं का उल्लेख किया है जिसका रूपान्तर पंडित जुगल किशोर मुख्तार के शब्दों मे इस प्रकार है-

"अस्तु अनादि बद्ध आत्मा है, स्वकृत-कर्मफल का भोगी,
कर्मबन्धफल भोग नाश से, होता मुक्ति रमा योगी।
ज्ञाता दृष्टा निजतनु परिमित, संकोचेतर-धर्मा हैं,
स्वगुण युक्त रहता है हरदम, ध्रौव्योत्पत्ति व्ययात्मा है।।"[3]

भैया भगवतीदास भी जीव के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

"जीव है सुज्ञान मयी चेतना स्वभाव धरै,
जानिबो और देखिबो अनादिनिधि पास है।
अमूर्तिक सदा रहै और सो न रूप गहै,
निश्चै नै प्रवान जाके आतम विलास है।
व्योहारनय कर्त्ता है देह के प्रमान मान,
भोक्ता सुख दुखनि को जग में निवास है।
शुद्ध नै विलोके सिद्ध करम कंलक बिना,
ऊर्द्ध को स्वभाव जाको लोक अग्रवास है।"[4]

इस जीवात्मा को दो प्रकार का माना गया है, संसारी और सिद्ध। सिद्ध, जो ससार के बधन से मुक्त हो चुके हैं, शेष सब संसारी हैं। समस्त संसारी जीव चार गतियों में विभाजित हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति। इनमें से मनुष्य गति सर्वोत्तम मानी गई है क्योंकि जीव इस गति से ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है और यह मनुष्य गति जीव को बडी कठिनाई से बहुत से पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है। कविवर भैया भगवतीदास ने भी अनेक बार इस तथ्य की ओर संकेत किया है-

काल अनादि तैं फिरत फिरत जिय अब यह नरभव उत्तम पायो।
समुझि समुझि पंडित नर प्रानी तेरे कर चिन्तामणि आयो।[5]

जैन दर्शन के अनुसार संसारवर्ती अनन्त जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है स्थावर और त्रस। स्थावर एकेन्द्रिय जीव होते हैं जो पांच प्रकार के होते हैं, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इनके केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है। त्रस में द्वि-इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्रकार के जीव आ जाते हैं। स्थावर के पांच और त्रस भेदों को मिलाकर ही षटकाय जीव माने गये हैं।

पुद्गल द्रव्य-

यह द्रव्य अचेतन (जड़) है। इसका प्रमुख लक्षण है मूर्त्तत्व। पुद्गल

ही रूपवान् तत्व है शेष पांचों द्रव्य अरूपी अमूर्तिक हैं अत: यह रूप, रस, गंध, वर्ण आदि से युक्त है। समस्त दृश्यमान जगत् इस 'पुद्गल' द्रव्य का ही विस्तार है। यह इन्द्रियग्राह्य है। भैया भगवतीदास ने भी पुद्गल द्रव्य के ये ही लक्षण बताते हैं-

''वर्ण पंच स्वेत पीत हरित अरुण स्याम,
तिनहु के भेद नाना भाँति के विदीत है।
रस तीखो खारो मधुरो कडुओ कषायलो,
इनहू के मिले भेद गणती अतीत है।
तातो सीरो चीकनो रूखो नरम कठोर,
हरूवो भारी सुगंध दुर्गंध मयी रीत है।
मूरति सुपुद्गल की जीव है अमूरतीक,
नैव्योहार मूरतीक बध तै कहीत है।''[6]

अर्थात् पुद्गल पाच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श तथा दो प्रकार की गंध से युक्त है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य अचेतन है तथापि उसमे अपूर्व शक्ति होती है। पौद्गलिक पदार्थों के आकर्षण मे पड़कर ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूला रहता है और संसार सागर मे भटकता रहता है। वह जीव के अनन्त ज्ञान दर्शन आदि गुणो पर आवरण डालकर ढक देता है जिससे जीव स्वयं को पुद्गल रूप ही समझने लगता है। वह अपने को शरीर से भिन्न नहीं मानता, शरीर को ही 'मैं' कहता है और उसकी क्रियाओं को ही अपनी क्रियाएं मानता है। उसके कष्ट मे अपने को दुखी तथा उसके सुख में अपने को सुखी मानता है। जीव के पुद्गल के प्रति इस घनिष्ठ प्रेम को कविवर 'भैया' ने एक रूपक के माध्यम से अत्यत मनमोहक ढंग से वर्णित किया है। चेतन (जीव) की रानी सुमति उसे सचेत करते हुए कहती है-

''आतम के वंश को न अंश कहु सुन्यो कीजे,
पुग्गल के वश सेती लाग लहलहे हो।।
पुग्गल के हारे, हार, पुग्गल के जीते जीत,
पुग्गल की प्रीति सग कैसे बहबहे हो।।
लागत हो धाय धाय, लागे न उपाय कछु,
सुनो चिदानन्द राय कौन पंथ गहे हो।।''[7]

यह जीव अपने आत्म स्वभाव को तो भूला हुआ है और पर द्रव्यों की प्रीति में ही मग्न हो रहा है यही तो संसार बंध का कारण है। कवि ने जीव और पुद्गल इन दोनों की भिन्नता का बार-बार उल्लेख किया है-

"चेतनचिन्ह ज्ञान गुण राजत, पुद्गल के वरणादिक रूप।।
चेतन आपरू आन विलोकत, पुग्गल छांह धरै अरू धूप।।
चेतन कै थिरता गुण राजत, पुग्गल कै जड़ता जु अनूप।।
चेतन शुद्ध सिधालय राजत, ध्यावत है शिवगामी भूप।।"[8]

इसीलिए तो कवि ने जीव को स्थान-स्थान पर पुद्गल से प्रेम न करके आत्मस्वरूप को समझने का संदेश दिया है-

"याही देह देवल में केवलि स्वरूप देव,
ताकी कर सेव मन कहाँ दौड़े जात है।।"

और जब जीव को आत्म स्वरूप की सम्यक् प्रतीति हो जाती है तभी मोह और अज्ञान की तमिस्रा छंट जाती है, राग और द्वेष के बंधन शिथिल होने लगते हैं और जीव शनैः शनैः परमात्मपद की प्राप्ति के पथ पर बढ़ने लगता है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य जीव द्रव्य को मोह और अज्ञान में रखकर उसका अत्यधिक अहित करता है।

धर्म द्रव्य-

धर्म द्रव्य से तात्पर्य किसी शुभ कर्म से नहीं है। यह जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। यह एक अचेतन और अमूर्तिक द्रव्य है, जो जीव और पुद्गल द्रव्य गतिशील होते है उनको गतिशीलता में सहायता करता है जैसे जल मीन को चलने में सहायता देता है। यह तत्व लोकाकाश के कण-कण में व्याप्त है। अब वैज्ञानिक भी इस द्रव्य की सत्ता को स्वीकार करने लगे हैं। भैया भगवतीदास ने इस द्रव्य की सत्ता को स्वीकार कर उसकी इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है-

"जब जीव पुद्गल चलै उठि लोकमध्य,
तबै धर्मास्तिकाय सहाय आय होत है।
जैसे मच्छ पानी माहिं आपुहि तै गौन करे,
नीर को सहाय सेती अलसता खोत है।।"[9]

अधर्म द्रव्य-

अधर्म द्रव्य धर्म के विपरीत, ठहरते हुए जीव और पुद्गल पदार्थों को

स्थित होने में सहायता करता है। यह भी एक अमूर्तिक और अचेतन द्रव्य है जो समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। इसकी स्थिति वैसी ही है जैसे पथिक के लिये छाया। यह न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के लगभग समान है। भैया भगवतीदास ने इस अधर्म द्रव्य के इसी गुण का उल्लेख किया है-

"चौथो द्रव्य अधर्म है, जब थिर तबहिं सहाय।।
देय जीव पुद्गलन को, लोक हद्द लों भाय।।"[10]

आकाश द्रव्य-

आकाश द्रव्य का लक्षण है स्थान देना। आकाश वही है जो सभी द्रव्यो को अवकाश देता है। यह भी अचेतन अमूर्तिक और सर्वव्यापी है। जैन दर्शन के अनुसार इसके दो भेद हो जाते हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश सर्वव्यापी आकाश के मध्य में है, इसी मे छहों द्रव्य विद्यमान हैं, इसके अतिरिक्त शेष आकाश शून्य है अनन्त है शुद्ध आकाश है इसे ही अलोकाकाश कहते हैं, किसी अन्य पदार्थ की वहाँ पहुँच नहीं है। आकाश के विषय में कविवर भैया भगवतीदास कहते हैं-

"जीव आदि पंच पदार्थनि को सदा ही यह,
देत अवकाश तातै आकाश नाम पायो है।
ताके भेद दोय कहे, एक है अलोकाकाश,
दूजो लोकाकाश जिन ग्रंथनि मे गायो है।"[11]

काल द्रव्य-

जो वस्तु मात्र के परिवर्तन कराने में सहायक है उसे काल द्रव्य कहते है। काल द्रव्य के निमित्त से ही अन्य द्रव्यों में समय-समय में परिवर्तन होता रहता है। बिना काल द्रव्य के परिवर्तन असम्भव है यह भी अचेतन, अमूर्त है और लोकाकाश मे व्याप्त है। दिन, वर्ष, भूत-वर्तमान-भविष्य सब इसी के पर्याय हैं। कविवर 'भैया' ने काल के अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक होने के इसी स्वभाव की ओर संकेत किया है-

"जोई सर्व द्रव्य को प्रवर्त्तावन समरथ,
सोई कालद्रव्य बहुभेद भाव राजई।।
निज निज परजाय विषै परिणवै यह,
काल की सहाय पाय करै निज काजई।।"

इस प्रकार इन छः द्रव्यों से सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित है। अब प्रश्न उठता

है कि इस सृष्टि का निर्माता कौन है ? जैन दर्शन सृष्टिकर्ता के रूप में किसी भी युग पुरुष की कल्पना नहीं करता, यह सृष्टि अनादि है, अनिधन है, वस्तु के गुण और पर्याय भी अनादि हैं। वस्तु के स्वभाव के अनुसार, जिस प्रकार आज अनेकों परिवर्तन हो रहे हैं, उसी भाँति सदैव से होते आये हैं और होते रहेंगे। संसार में वस्तु से, उसके स्वभावानुसार वस्तु की उत्पत्ति होती रहती है। सागर का जल वाष्प बनकर आकाश में मेघ खंड बनता है फिर जलवृष्टि के रूप में धरा पर आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु अस्ति से नास्ति रूप कभी नहीं होती और नहीं नास्ति से अस्ति रूप होती है केवल अपनी पर्याय बदलती है। इस प्रकार संसार में न तो एक परमाणु कम होता है न अधिक। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभावानुसार कार्य करती हैं और सृष्टि का चक्र चलता रहता है। कविवर भैया भगवतीदास ने अनादि बत्तीसिका में इस विषय पर विस्तार से विचार प्रकट किये हैं-

''सूरचंद निशदिन फिरै, तारागण बहु संग।।
यही अनादि स्वभाव है, छिन्न इक होय न भंग।।''

x x x x x

''को बोवत वन वृक्ष को, को सींचत नित जाय।
फल फूलनि कर लहलह, यहै अनादि स्वभाय।।''[12]

इसी प्रकार से अपने-अपने स्वभाव के अनुसार समय पर सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना कार्य करता रहता है, वसंत के आगमन की सूचना मिलते ही वनस्पति फूल उठती है, वर्षा ऋतु में स्वत: ही जलवृष्टि होने लगती है। जल स्वत: ही नीचे की ओर बहता है, अग्नि की शिखा ऊपर ही उठना चाहती है, मीन के नवजात को तैरना कौन सिखाता है ? पक्षी स्वत: आकाश में पंख पसारना सीख जाते हैं। कवि आगे कहते हैं- सर्प के शरीर में विष अथवा सिंह शावकों में शौर्य कौन भर देता है-

''कौन सांप के वदन में, विष उपजावत वीर।
यह अनादि स्वभाव हैं, देखो गुण गम्भीर।।
कहो सिंह के बालको, सूरपनो कब होत।
कोटि गजन के पुंज को, मार भगावै पोत।।''

प्रत्येक वस्तु के अनादित्व की घोषणा करते हुए कवि कहते हैं-

''पृथिवी पानी पौन, पुन अग्नि अन्न आकास।
है अनादि इहि जगत में, सर्व द्रव्य को वास।

अपने-अपने सहज सब, उपजत विनसत वस्त।
है अनादि को जगत यह, इहि परकार समस्त।।"

इसी प्रकार चेतन और पुद्गल के संयोग से यह प्राणी वर्ग की सृष्टि चल रही है-

"चेतन अरु पुद्गल मिले, उपजे कई विकार।
तासो विन समुझे कहैं, रच्यो किनहिं ससार।।"[13]

इस प्रकार द्रव्यों के अपने-अपने स्वभावानुसार कार्यरत रहने से ही सम्पूर्ण सृष्टि सुचारू रूप से चल रही है, कोई इस सृष्टि का निर्माता नहीं, कोई प्रबंधक नही, कोई पालक नहीं, जीव भ्रम के वशीभूत होकर ही सृष्टि को किसी अन्य के द्वारा सृजित मानता है-

"को काहू कर्ता नहीं करता भुगता आप।
यहै जीव अज्ञान में करै पुण्य अरू पाप।।"

लोकरचना

जैन दर्शन के अनुसार यह संसार षट द्रव्यों से निर्मित है। ये षट द्रव्य इस प्रकार है- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमे आकाश वह द्रव्य है जो सभी द्रव्यो को अवकाश (स्थान) देता है। कुंदकुदाचार्य तथा आचार्य उमास्वाति ने आकाश का यही लक्षण बताया है। डॉ0 हीरालाल जैन के अनुसार उसका गुण है-जीवादि अन्य सब द्रव्यों को अवकाश प्रदान करना। यह द्रव्य जड, अमूर्तिक, तथा सर्वव्यापी है। जैन दर्शन मे आकाश के दो भेद माने गये हैं, एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। "सर्वव्यापी अलोकाकाश के मध्य में लोकाकाश है और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाश मे छहों द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है।"[14] कोष के अनुसार आकाश के जितने भाग में जीव पुद्गल आदि षट द्रव्य देखे जाये सो लोक है। तत्वार्थ सूत्र मे आचार्य उमास्वाति ने ऐसा ही बताया है। इस प्रकार अनन्त आकाश के मध्य में जितने भाग में षट द्रव्यों की अवस्थिति है उतना भाग लोक अथवा लोकाकाश, शेष शुद्ध आकाश है। द्रव्य सग्रह का अनुवाद तथा भाव विस्तार करते हुए भैया भगवतीदास भी कहते है-

"जीव आदि पंच पर्दार्थनि को सदा ही यह,
देत अवकाश तातै आकाश नाम पायो है।

लोकाकाश
सिद्धशिला
1 राजू
7 राजू
पंच अनुत्तर
नव अनुदिश
नव ग्रैवेयक
आरण
आनत
सतार
शुक्र
लातव
ब्रह्म
सनतकुमार
सौधर्म
ज्योतिष लोक
चित्रा पृथ्वी
अच्युत
प्राणत
सहस्रार
महाशुक्र
कापिष्ठ
ब्रह्मोत्तर
माहेन्द्र
ईशान
त्रसनाली
14 राजू
ऊर्ध्व लोक
मध्यलोक
अधोलोक
रत्नप्रभा
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
पंक प्रभा
धूम प्रभा
तम प्रभा
महातम प्रभा
वात वलय
7 राजू
7 राजू
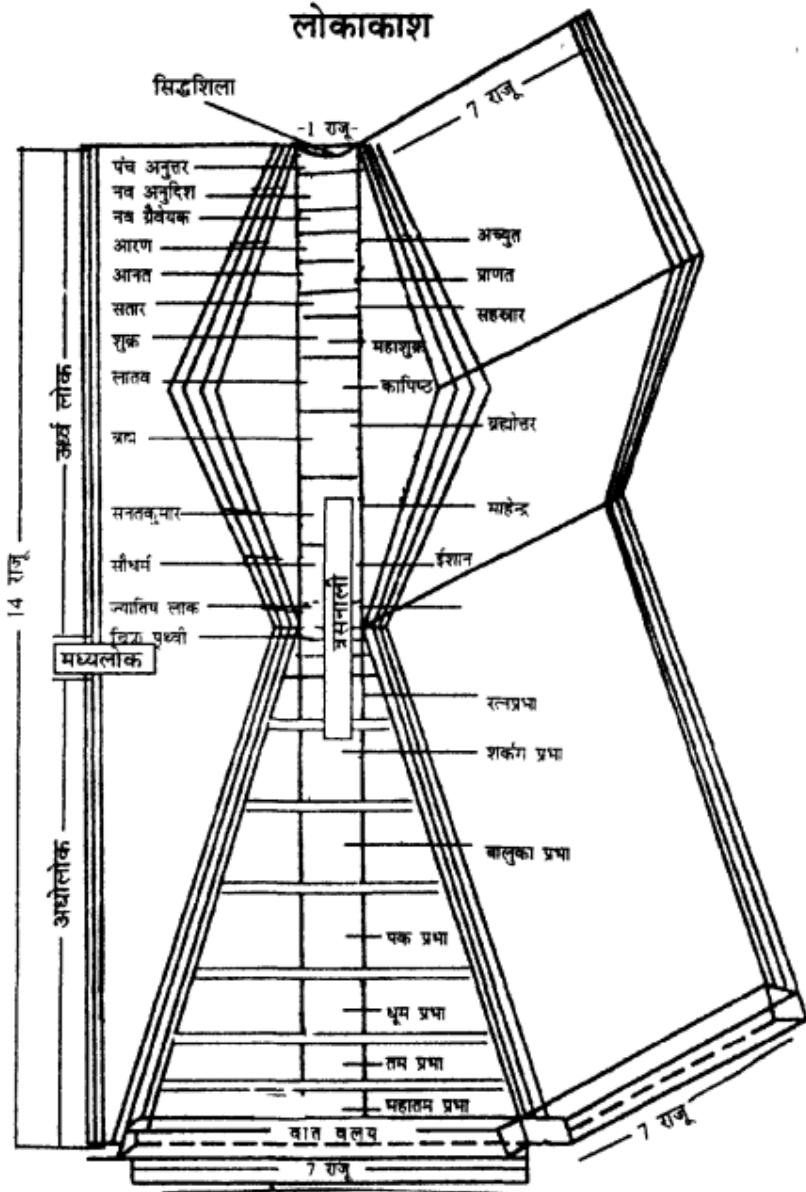
ताके भेद दोय कहे है अलोकाकाश,
दूजो लोकाकाश जिन ग्रंथनि में गायो है।
जैसे कहूं घर होय तामे सब बसै लोय,
तातैं पंच द्रव्यहू को सदन बतायो है।।
याही मे सवै रहै पै निज निज सत्ता गहै,
यातैं परें और सो अलोक ही कहायो है।।
जितने आकाशमाहिं रहै ये दरब पच,
तितने आकाशको जु लोकाकाश कहिये।
धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य कालद्रव्य पुद्‌गल द्रव्य,
जीव द्रव्य एई पाचो जहाँ लहिये।।
इनतै अधिक कछु और जो विराज रह्यो,
नाम सो अलोकाकाश ऐसो सरदहिये।
देख्यो ज्ञानवंतन अनत ज्ञान-चक्षु करि,
गुणपरजाय सो सुभाव शुद्ध गहिये।।''

इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश दोनो ही अकृत्रिम, अनादि और अनन्त है। अलोकाकाश असीम है और लोकाकाश सीमित। अनन्त अलोकाकाश की तुलना मे लोक ना के बराबर है। जैन दर्शन के अनुसार लोक सम्बधी ये मान्यताए ज्ञानी योगियो की सूक्ष्म दृष्टि का परिणाम है।

लोक का आकार-

लाक नाम से प्रसिद्ध आकाश का यह खड मनुष्याकार ह। पडित कैलाश चन्द्र शास्त्री के अनुसार, ''कटि के दोनो भागो पर दोनो हाथ रखकर ओर दोनो पैरो को फैलाकर खडे हुए पुरूष के समान लोक का आकार है। नीचे के भाग मे सात नरक हैं। नाभि देश में मनुष्य लोक है और ऊपर के भाग मे स्वर्ग लोक है तथा मस्तक प्रदेश में मोक्षस्थान है।''

भैया भगवतीदास ने इस विषय पर एक पृथक और विशिष्ट कृति की रचना की है- ''लोकाकाश क्षेत्र परिमाण कथन'। उसी कृति मे उन्होने भी लोक को पुरुषाकार बताया है-

''पुरुषाकार कह्यो सब लोक। ताके परे सु और अलोक।।''

इस प्रकार लोक के तीन भाग है- ऊर्ध्व लाक, मध्य लोक, अधोलोक। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश क अनुसार ''अधोलोक का आकार स्वभाव मे वेत्रासन के

सदृश है, और मध्यलोक का आकार खड़े किये हुए आधे मृदंग के ऊर्ध्व भाग के समान है। ऊर्ध्व लोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के सदृश।

सम्पूर्ण लोक की ऊंचाई 14 राजू (देखिये परिशिष्ट) है। अर्धमृदंग की ऊंचाई सम्पूर्ण मृदंग की ऊंचाई के सदृश हैं। अर्थात् अर्धमृदंग सदृश अधोलोक जैसे सात राजू ऊंचा है, उसी प्रकार पूर्ण मृदंग के सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात राजू ऊंचा है। क्रम से अधोलोक की ऊंचाई सात राजू, मध्यलोक की ऊंचाई एक लाख (1,00,000) योजन और ऊर्ध्वालेक की ऊंचाई एक लाख योजन कम सात राजू है। चारों ओर से देखने पर लोक की ऊंचाई चौदह राजू, मोटाई (उत्तर और दक्षिण दिशा में) सर्वत्र सात राजू, और चौड़ाई (पूर्व और पश्चिम दिशा में) मूल में सात राजू, सात राजू की ऊंचाई पर एक राजू साढ़े दश राजू की ऊंचाई पर पांच राजू और अन्त में (चौदह राजू की ऊंचाई पर) एक राजू है। गणित करने से लोक का क्षेत्रफल 343 घन राजू होता है।[15] भैया भगवतीदास ने भी लोक का क्षेत्रफल इसी प्रकार बताया है-

''घनाकार सब कहिये बखान। त्रयशत अरू तेतालिस मान।।''[16]

यह समस्त लोक तीन प्रकार के वातवलय (पवन) से वेष्टित है। इस लोक के बिल्कुल मध्य में ऊपर से नीचे तक एक राजू प्रमाण विस्तारयुक्त (एक राजू चौड़ी, एक राजू लम्बी) चौदह राजू ऊंची त्रसनाली (त्रसनाडी) है। केवल इस त्रसनाली में ही त्रस जीव (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक) होते हैं इससे बाहर नहीं। स्थावर जीव इसके भीतर बाहर सर्वत्र रहते हैं। भैया भगवतीदास ने भी लोकाकाश के मध्य त्रसनाली की इसी प्रकार स्थिति बताई है-

''इहि मधि त्रसनाडी इक जान। ताके भेद कहूं उर आन।।
चवदह राजू कही उतंग। राजू इक पोली सरवंग।।
तामहिं त्रस थावर को थान। याकै परैं सु थावर मान।।''

यह भी तीन भागों में विभक्त है अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक। मूल से सात राजू की ऊंचाई तक अधोलोक है, इसके पश्चात एक लाख योजन की ऊंचाई तक (सुमेरू पर्वत की ऊंचाई के बराबर) मध्यलोक तथा तत्पश्चात् चौदह राजू तक ऊर्ध्वलोक है।

अधोलोक

मेरूतल के नीचे (मध्यलोक के नीचे) का लोक का शेष क्षेत्र अधोलोक है, जो अर्ध मृदंग अथवा वेत्रासन के आकार वाला है। वह सात

राजू ऊंचा, सात राजू मोटा है। नीचे सात राजू चौड़ा व ऊपर एक राजू प्रमाण चौड़ा है। उसमें ऊपर से लेकर नीचे तक क्रमवार रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नाम की सात पृथ्वियां हैं जो लगभग एक एक राजू के अन्तराल से स्थित हैं। इस एक एक राजू में कुछ पृथ्वी की मोटाई और कुछ वातवलय तथा आकाश सम्मिलित हैं। सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र खाली है, जो केवल निगोद जीवों से भरा हुआ है। रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं, खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग। प्रथम दो भागो मे भवनवासी और व्यंतर देव, तीसरे भाग अब्बहुल तथा शेष छ: पृथ्वियों में नारकी जीव निवास करते हैं। पाप के उदय से जीव नरक गति मे उत्पन्न होता है तथा ताड़न मारण, छेदन भेदन आदि नाना प्रकार के भयानक दुखों को भोगता है। भैया भगवतीदास ने इन पृथ्वियों के क्षेत्रफल का पृथक-पृथक संकेत किया है-

"पहिली रतन प्रभा ते जान। दशराजू तिह कही बखान।।
दूजी शोलह राजू कही। तीजी नरक बीस है लही।।
चौथी नरक अठाइस राजू। तिह निकरयो जिय सारे काजु।।
पंचमि नरक राजू चौतीश। छटटी चालिस कही जगदीश।।
नरक सातवीं की मरजाद। कही छियालिस कथन अनाद।।"

अर्थात् प्रथम पृथ्वी रत्नप्रभा का क्षेत्रफल दश घन राजू, दूसरी का सोलह घन राजू, तीसरी का बाईस घन राजू, चौथी पृथ्वी का अट्ठाईस घन राजू, पांचवी का चौतीस घन राजू, षष्ठ पृथ्वी का चालीस घन राजू तथा सप्तम पृथ्वी का छियालिस घन राजू है। इस सब का योग एक सौ छियानवें आता है। कविवर भैया भगवतीदास ने भी पूरे अधोलोक, जिसमे सातों नरक है का क्षेत्रफल एक सौ छियानवें ही बताया है-

"सात नरक की गिनती जान। शतइक और छयानवे मान।।"

तिलोयपणत्ति में इस तथ्य को गणित के द्वारा सिद्ध किया गया है। लोक (343) से चार गुने को सात का भाग देने पर अधोलोक का घनफल निकल आता है-

343 x 4 − 7 = 196

इन पृथ्वियों में 49 पटल हैं जिनमें अत्यंत विशाल कूपवत बिल होते हैं जिनमे नारकी जीव निवास करते हैं।

मध्य लोक

अधोलोक के ऊपर एक राजू लम्बा एक राजू चौड़ा और एक लाख योजन ऊंचा मध्यलोक है। इसमें सबसे नीचे चित्रा पृथ्वी है इसकी मोटाई एक हजार योजन है, इसी लोक में मेरू पर्वत है जिसकी जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वी के भीतर है। समस्त मध्यलोक तिर्यक् लोक है। इसमें असंख्यात द्वीप एवं सागर हैं जो वलयाकार एक दूसरे को वेष्टित किये हुए हैं। सब द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर हैं और सब समुद्र चित्रा पृथ्वी को खंडित कर वज्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित है। सबके मध्य में गोलाकार जम्बू द्वीप है जिसका व्यास एक लाख योजन है और इस जम्बूद्वीप को खाई की भाँति घेरे हुए लवण सागर है जिसकी चौड़ाई 2 लाख योजन है। इसको चारों ओर से घेरे हुए धातकी खंड है जिसकी चौड़ाई सर्वत्र चार लाख योजन है फिर इसी प्रकार कालोदधि सागर है जो आठ लाख योजन चौड़ा है कालोदधि सागर को चारों ओर से घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्कर द्वीप है। तत्पश्चात पुष्कर सागर 32 लाख योजन चौड़ा है और इसी प्रकार असंख्य द्वीप और सागर एक दूसरे से द्विगुणित विस्तार को लिये परस्पर एक दूसरे को घेरे हुए हैं। तत्वार्थ सूत्र में यही कहा गया है-

''जम्बू द्वीप लवणो दादय: शुभनामानो द्वीप समुद्रा।।

द्विद्विविष्कंभा: पूर्वपूर्व परिक्षेपिणा वलयाकृतम:।।''[17]

द्वीप और सागर के इस क्रम में अन्तिम सागर है स्वयंभूरमण सागर, जो एक राजू चौड़ा है। कविवर भैया भगवतीदास ने भी ऐसा ही कहा है-

''सागर स्वयंभुरमणहिं जाये। तिंह बानहि राजू इक होय।।''

इस मध्य लोक में पुष्कर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है। जम्बू द्वीप, धातकी द्वीप तथा मानुषोत्तर पर्वत तक आधा पुष्कर द्वीप, अढ़ाई द्वीप कहलाते हैं इनमें ही मनुष्य रहते हैं इसके पश्चात् नहीं। इस प्रकार से अढ़ाई द्वीप व इनके मध्य दो सागर का क्षेत्र 45,00,000 योजन है। चित्रा पृथ्वी की 1000 योजन की मोटाई छोडकर उसके ऊपर 99 हजार योजन की ऊंचाई तथा अढ़ाई द्वीप प्रमाण 45,00,000 (पैंतालीस लाख) योजन युक्त मनुष्य लोक है।

जम्बू द्वीप के मध्य में दस सहस योजन चौड़ा गोलाकार सुमेरू पर्वत है, इसकी एक सहस्र योजन भूमि में जड़ है और निन्यानवें सहस्र भूमि के ऊपर ऊंचाई है। ऊपर से एक सहस्र योजन चौड़ा है।

जैन दर्शन के अनुसार सूर्य, चन्द्र तथा तारे सब ज्योतिष्क देव हैं जो मध्यलोक में ही विद्यमान हैं। चित्रा पृथ्वी से 790 योजन ऊपर तारे विद्यमान हैं, उनसे दस योजन ऊपर सूर्य तथा सूर्य से 80 योजन ऊपर चन्द्रमा तत्पश्चात् अन्य नक्षत्र एवं ग्रह अवस्थित हैं जो निश्चित दूरी पर सुमेरू पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं।

ऊर्ध्वलोक

मेरू पर्वत शिखर से एक बाल मात्र के अन्तर से ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ होकर लोकशिखर पर्यन्त एक लाख योजन कम सात राजू ऊंचा है। इसके दो भाग हैं एक कल्प दूसरा कल्पातीत। इन्द्र आदि दस कल्पनाओं से युक्त देव कल्पवासी कहलाते हैं और इन कल्पनाओं से रहित देव कल्पातीत वासी अहमिन्द्र कहलाते हैं। कल्प में 16 स्वर्ग हैं। 1 सौधर्म, 2 ईशान, 3 सनत्कुमार, 4 माहेन्द्र, 5 ब्रह्म, 6 ब्रह्मोत्तर, 7 लातव, 8 कापिष्ठ, 9 शुक्र, 10 महाशुक्र, 11 सतार, 12 सहस्रार, 13 आनत, 14 प्राणत, 15 आरण, 16 अच्युत। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर कल्पातीत में तीन अधोग्रैवेयक, तीन मध्यम ग्रैवेयक तथा तीन उपरिम ग्रैवेयक, इस प्रकार नव ग्रैवेयक हैं। इन नव ग्रैवेयक के ऊपर नव अनुदिश विमान और पंच अनुत्तर विमान हैं। सोलह स्वर्गों में से दो दो स्वर्गो मे सयुक्त राज्य है। मेरू तल से लगाकर डेढ़ राजू की ऊंचाई पर सौधर्म युगल की समाप्ति है, इसका क्षेत्रफल भैया भगवतीदास के अनुसार साढे उन्नीस राजू है।

''अब सुधर्म ईशान विमान। तिर्यक् लोक याहि महिजान।।

मेरू चूलिका लें गन लही। राजू साढ़े उनइस कही।।''

उसके ऊपर डेढ राजू मे सनत्कुमार-माहेन्द्र युगल है इसका क्षेत्रफल भैया भगवतीदास के अनुसार साढे सैंतीस घन राजू हैं-

''सनत्कुमार महेन्द्र सुदीस। इन दुहु के साढ़े सैंतीस।।''

इसके ऊपर आधे-आधे राजू में अर्थात् केवल तीन राजू मे छ: युगल हैं। भैया भगवतीदास के अनुसार सबसे ऊपर वाले स्वर्ग-युगल का क्षेत्रफल साढ़े आठ घन राजू, दूसरे युगल का साढ़े दस घन राजू, तीसरे युगल का साढ़े बारह घन राजू, चौथे युगल का साढे सोलह घन राजू, पचम तथा षष्ठ में साढे सोलह, साढे सोलह घन राजू हैं इस प्रकार छ: राजू में सोलह स्वर्गों में आठ युगल हैं। तत्पश्चात् कल्पातीत में नव-ग्रैवेयक है जिनमें अहमिन्द्र रहते हैं। कविवर भैया भगवतीदास के अनुसार यहाँ का क्षेत्रफल ग्यारह घन राजू है। इन सबका

योग करने का ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल एक सौ सैंतालिस घन राजू आता है। भैया भगवतीदास ने भी ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल एक सौ सैंतालिस घन राजू ही माना है-

"सब गिनती ऊपर की दीस। राजू इक सौ सैंतालिस।।"

तिलोयपण्णत्ति में यही तथ्य गणित द्वारा सिद्ध किया गया है। लोक को 3 से गुणा करके तत्पश्चात 7 का भाग देकर जो लब्ध आवे वे ऊर्ध्व लोक का घनफल है-

343 x 3 − 7 = 147[18]

ऊर्ध्वलोक के 16 स्वर्ग नवग्रैवेयक में 63 पटल हैं मध्य में यह सब स्वर्गलोक है तथा इसमें वैमानिक अथवा विमानवासी देव रहते हैं। ऊर्ध्वलोक के एक सौ सैंतालिस घन राजू तथा अधोलोक के एक सौ छियानवें घन राजू के योग से कुल लोकाकाश का क्षेत्रफल आ जाता है तीन सौ तैंतालिस घन राजू।

मोक्ष क्षेत्र अथवा सिद्ध लोक

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान से बारह योजन मात्र ऊपर आठवी पृथ्वी स्थित हैं ईषत्प्राग्भार, इसकी मोटाई मध्य मे आठ योजन, दोनों ओर क्रमशः घटते-घटते अंत में एक अगुल मात्र है। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के सदृश है। इसकी परिधि मनुष्य क्षेत्र के समान पैंतालिस लाख योजन है। यही सिद्ध शिला है, यही सिद्ध क्षेत्र है। संसार से मुक्त होकर जीव यहीं अनन्तानंत काल के लिये निवास करता है। इसलिये यही मोक्षस्थान है। सिद्ध का अर्थ 'प्राप्ति' होता है अत: 'मोक्ष' और 'सिद्धि' विपरीत भाव के बोधक प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसा है नहीं। "आत्मा के गुणों को कलुषित करने वाले दोषों को दूर करके शुद्ध आत्मा की प्राप्ति को 'सिद्धि' कहते है।"[19]आत्मस्वरूप की सिद्धि से ही जीव जन्म जरा मृत्यु के बंधनों से मुक्ति पाता है अत: सिद्धि और मुक्ति एक ही भाव के द्योतक हैं।

जैन दर्शन में मोक्ष स्थान की मान्यता भी अन्य दर्शनों से निराली है। पुरुषाकार लोक के नाभिदेश मे मनुष्य लोक हैं, अधोभाग में सात नरक हैं, ऊर्ध्वलोक में स्वर्ग है तथा मस्तक प्रदेश में मोक्ष स्थान है। कर्म बंधन से मुक्त होते ही जीव शरीर से निकलकर ऊपर की ओर जाता है क्योंकि ऊर्ध्वगति गमन ही उसका स्वभाव है। लोकाकाश के अग्रभाग में ही स्थित इसलिये हो

जाता हैं क्योंकि वहीं तक धर्म द्रव्य गमन में सहायक होता है। लोक के बाहर धर्म द्रव्य नहीं है इसलिये जीव भी वहाँ नहीं जा सकता। डॉ0 वासुदेव सिंह का यह कथन ''लोकाकाश षडद्रव्यों से युक्त है, किन्तु अलोकाकाश में केवल निर्मल निर्विकार आत्मा ही पहुँच पाते हैं,[20]भ्रांतियुक्त है। मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् आत्मा का क्षय नहीं होता जैसा कि बौद्धमत मानता है और न ही मुक्त जीव सर्वलोक में व्याप्त होता है वरन् लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित हो जाता है। जैन धर्म में मंगलसूचक चिह्न 'स्वास्तिक' के ऊपर अर्द्धचन्द्र इसी सिद्ध शिला का प्रतीक है।[21]

भैया भगवतीदास ने भी जीव के कर्म विमुक्त हो जाने के पश्चात् लोक के अग्रभाग में सिद्धावस्था में अनन्तकाल तक निवास करने की ओर सकेत किया है-

''लोकको जु अग्र तहां स्थित है अनन्त सिद्ध,
उत्पाद व्यय सयुक्त सदा जाको वास है।
अनन्तकाल पर्यन्त थिति है अडोल जाकी,
लोकालोक प्रतिभासी ज्ञान को प्रकाश है।
निश्चै सुख राज करै बहुरि न जन्म धरै,
ऐसो सिद्ध राशनि को आतम विलास हैं।''[22]

इस विषय के सम्बध मे गहनता से अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि लोक और अलोक की स्थिति बताने के पश्चात् कवि की दृष्टि उसके विभिन्न क्षेत्रो के परिमाण कथन पर ही केन्द्रित रही है, उनकी विशेषताओ का विस्तार से वर्णन नहीं किया है।

ईश्वरत्व मीमांसा

लगभग सभी धर्मों में ईश्वर को किसी न किसी रूप में मान्यता प्राप्त है ईश्वर, अल्लाह, गॉड, परम ब्रह्म, ब्रह्मा, विष्णु आदि ईश्वर वाचक शब्द इस बात के प्रमाण हैं। प्राय: ईश्वर को अनादि काल से विद्यमान, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता, संसार के जीवों के भाग्यविधाता, उन्हें सांसारिक सुख एवं कष्टों के प्रदाता के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु जैन धर्म में ईश्वर का स्वरूप इससे भिन्न है। प्राय: अन्य धर्म किसी एक अनादि शक्ति के रूप में ईश्वर को मानते हैं, जिनमें से अवतार वाद के समर्थक उसी परमशक्ति का समय समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में अवतार लेना स्वीकृत करते हैं किन्तु जैन

दर्शन किसी ऐसी अनादि सिद्ध परमात्मा की सत्ता को अस्वीकार करता है और उसके यहाँ ईश्वर एक नहीं अनेक हैं। वस्तुतः 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति से ही ईश्वर का स्वरूप उद्घाटित हो जाता है। 'जिन' के द्वारा प्रवर्तित धर्म है, जैन धर्म, और 'जिन' वे कहलाते हैं जिन्होंने अपने काम, क्रोध आदि विकारों पर विजय प्राप्त करली है-जिन्होंने अपने कर्मरूपी शत्रुओं को पराजित कर दियाहै। जैन धर्म में जिनेन्द्र भगवान का जयजयकार किया जाता है। ये जिनेन्द्र (भगवान) भी कोई ईश्वरीय अवतार नहीं हैं, न तो यह शब्द किसी व्यक्ति विशेष का वाचक है, वरन् जिनेन्द्र वही है जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। इस प्रकार यहाँ अपने विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए, कर्म मल को नष्ट करके, कोई भी आत्मा परम शुद्ध होकर जीवन और संसार के बंधन से मुक्त हो सकता है ये मुक्त जीव ही जैन धर्म में ईश्वर कहलाते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन किसी अवतार की कल्पना न करके जीव के पुरुषार्थ को महत्व देता है। पुरुषार्थ के द्वारा ही जीव, मुक्ति की यह कठिन साधना कर पाता है। राग द्वेष आदि मानसिक विकारों को क्षय करते-करते जब यह जीव चार कर्मों- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का नाश कर देता है तो उसका अनन्त ज्ञान गुण प्रकट हो जाता है वे सर्वज्ञ हो जाते हैं, ये ही केवल ज्ञानी कहलाते हैं, अतः सर्वज्ञ का ही दूसरा नाम केवली भी है। ये अपने कर्मरूपी शत्रुओं को जीत कर ही इस अवस्था तक पहुँचते हैं अतः ये ही अरिहंत (अरि + हंत) कहलाते हैं इस अवस्था तक पहुँच कर वे पूजनीय हो जाते हैं अतः अर्हत् कहलाते हैं। इस अवस्था में पहुँचकर इनमें से जो केवली अपनी ही मुक्ति का उपाय करते रहते हैं वे सामान्य केवली कहलाते हैं और जो संसारी जीवों को मुक्ति का मार्ग बताते हुए भवसागर से पार उतरने में उनके सहायक बनते हैं वे तीर्थंकर केवली कहलाते हैं और जब ये शेष चार अघाति कर्मों- नाम, आयु, गोत्र, वेदनीय का क्षय कर, जीवन मुक्त हो, शुद्ध आत्मा रूप में लोकाकाश के अग्रभाग में जा विराजते हैं तब सिद्ध कहलाते हैं। यहाँ अरहंत पद को सिद्ध की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि इसी अवस्था में वे संसार के लोकहित का कार्य सम्पन्न करते हैं। इसीलिये जैन-धर्मावलम्बियों में सर्वाधिक लोकप्रिय पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र में सिद्ध से पहले अरहंत की वंदना की गयी है। और इसीलिये चौबीस तीर्थंकरों को अधिक मान्यता दी गई है। इस प्रकार जैन धर्म में ईश्वर एक नहीं अनेक और असंख्य हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे तथा उनको विभिन्न नामों से

अभिहित किया गया है। आचार्य मानतुंग ने "भक्तामर स्तोत्र" में जिनेन्द्र भगवान को बुद्ध, शंकर, धाता और पुरुषोत्तम कहा है किन्तु बुद्ध से तात्पर्य राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम बुद्ध से नहीं है, अपितु वे ज्ञान की गरिमा से युक्त हैं इसलिये बुद्ध हैं, तीनों लोक के जीवों को सुख शान्ति प्रदान करते हैं इसलिये शंकर हैं, मुक्तिमार्ग के आदि प्रवर्तक हैं इसलिये विधाता और ब्रह्मा हैं, सम्पूर्ण पुरुषों में उत्तम हैं अतः पुरुषोत्तम हैं।[23] वहाँ ईश्वरत्व अनादि नहीं, अथवा किसी का प्रसन्न होकर दिया हुआ वरदान नहीं, वरन् जीव के अथक परिश्रम और कठिन पुरुषार्थ का परिणाम है।

जैन दर्शन जीव को अनन्त शक्ति और अनन्त गुणों का स्वामी मानता है। इनमें से चार को मुख्य माना गया है- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य- इन्हें अनन्त चतुष्टय कहते हैं। किन्तु जीव अपने इन गुणों से तथा शक्ति से अनभिज्ञ रहता है। रागद्वेष की परिणति के परिणामस्वरूप अनादिकाल से कर्म परमाणु उससे संयुक्त हैं, उन्होंने उसके गुणों को आवृत कर रखा है जिससे जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता, वह यह नही जान पाता कि सिद्ध होने की समस्त शक्ति और गुण मेरे भीतर ही विद्यमान है। कविवर भैया भगवतीदास ने इस तथ्य का बार बार उल्लेख किया है, वे जीव को सचेत करते हुए सिद्ध चतुर्दशी में कहते है-

"खोल दृग देखि रूप, अहों अविनाशी भूप।
सिद्ध की समान सब, तोपैं रिद्ध कहियें।।"

एक अन्य स्थान पर वे जीव को उसका वास्तविक परिचय कराते हुए कहते है-

"तू ही वीतराग देव राग द्वेष टारि देख,
तू ही तो कहावै सिद्ध अष्ट कर्म नाम तैं।।"

जीव के ऊपर अज्ञान और भ्रम का आवरण इतना घनिष्ठ पड़ जाता है कि वह यह भी नहीं जान पाता कि वह पुद्गल रूप शरीर से भिन्न है। वह अपने को शरीर रूप ही समझता है। प्राणी की इसी अज्ञानावस्था से युक्त आत्मा को बहिरात्मा माना है, जब जीव इस भेद को जान लेता है और अपने को शरीर व कर्म-पुद्गलों से मुक्त करने का प्रयास करने लगता है तब वह अन्तरात्मा कहलाता है और जब वह आत्मा से संयुक्त कर्म मल को नष्ट कर शुद्ध आत्मस्वरूप रह जाता है तब वह परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार परमात्मा अथवा ईश्वर बनने की समस्त शक्ति जीव में अन्तर्निहित है। केवल आवश्यकता

है जीव की इस भ्रमपूर्ण अवस्था को त्यागने की। कवियों ने इसे प्राय: निद्रा कहा है और जीव को जगाने का संदेश दिया है, भैया भगवतीदास भी कहते हैं-

"चेतन नींद बड़ी तुम लीनी, ऐसी नींद लेय नहीं कोय।
काल अनादि भये तोहि सेवत बिन जागे समकित क्यों होय।।"

कभी कवि उसे मोह और अज्ञान की मदिरा पीकर मदोन्मत्त अवस्था में बताता है-

"पियो है अनादि को महा अज्ञान मोह मद,
ताही तैं सुधि याही और पंथ लियो है।।"

यही कारण है कि जीव तीन लोक का स्वामी होने की शक्ति रखते हुये भी दीन-हीन सा अनाथ दशा में भटकता फिरता है-

"वे दिन चितारो जहाँ बीते हैं अनादि काल,
कैसे कैसे संकट सहेहु विसरत हो।
तुम तो सयान पै सयान यह कौन कीनो,
तीन लोक नाथ ह्वै के दीन सो फिरत हो।।

जिस क्षण जीव को इस बात की प्रतीति हो जाती है कि-

"मैं हि सिद्ध परमात्मा, मैं ही आतमराम।।
मैं ही ज्ञाता ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम।।
मैं अनन्त सुख को धनी, सुखमय मोर स्वभाय।।
अविनाशी आनन्दमय, सो हों त्रिभुवन राय।।"[24]

उसी क्षण से मोह और अज्ञान की निशा ढलने लगती है, शरीर को अपने से भिन्न पुद्गल द्रव्य जान कर, उससे मोहममता छूटने लगती है, कर्म बंधन शिथिल पड़ने लगते हैं और जीव कठिन साधना करते हुए शनैः शनैः सिद्ध पद प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होने लगता है। कवि ने इस प्रतीति मात्र को चिन्तामणि सदृश बताया है-

"जब तैं अपनो जिउ आपु लख्यों, तब तैं जु मिटी दुविधा मन की।
यों सीतल भयो तब ही सब, छांड दई ममता तन की।।
चिंतामणि जब प्रगट्यो घर मैं, तब कौन जु चाहि करै धन की।।
जो सिद्ध में आपु में फेर न जानै सो, क्यों परवाह करै जन की।।"[25]

इस प्रकार प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की शक्ति से युक्त है। अपने कर्मों

के आवरण को हटा कर वह अपने गुणों और शक्ति को विकसित करके सिद्ध बन जाता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से सिद्ध और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य योगीन्दु ने शुद्ध आत्मा को ब्रह्म कहा है। सिद्ध का भी यही स्वरूप है। भैया भगवतीदास ने भी सिद्ध और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है-

"जेई गुण सिद्ध माहिं तेई गुण ब्रह्म माहि,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निश्चय निरधार के।
सिद्ध के समान है विराजमान चिदानन्द,
ताही को निहार निज रूप मान लीजिये।।"

जहाँ तक अमूर्तता, सर्वशक्तिमत्ता, निराकारता, निर्विकारता का प्रश्न है जैन समर्थित सिद्ध और कबीर समर्थित ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है किन्तु जैन दर्शन सिद्ध को सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करता, और न ही संसार को उसकी माया अथवा प्रतिबिम्ब मानता है। कबीर द्वारा निरूपित आत्मा, विश्व भर मे व्याप्त ब्रह्म का एक अंश मात्र है, किन्तु जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा का नितान्त स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह किसी का अंश नहीं है और सिद्ध पद की प्राप्ति के पश्चात् भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है जबकि वहाँ आत्मा ब्रह्म का अंश मात्र होने के कारण ईश्वरत्व प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्म में समा जाती है।

भक्तिकाल मे सगुण और निर्गुण भक्ति धारा मे जैसा पारस्परिक विरोध दिखाई देता है वैसा जैन साहित्य मे नहीं है। जैनों के अरहंत सगुण और सिद्ध निर्गुण है। आचार्य योगीन्दु ने उन्हें क्रमशः सकल और निष्कल संज्ञा से अभिहित किया है और परमात्म प्रकाश की संस्कृत में टीका करते हुए श्री ब्रह्मदेव ने 'निष्कल' को 'पंच विधशरीर रहितः' लिखा है। अरहंत ही अवशिष्ट चार अघाति कर्मों का क्षय करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते है। अतः वहाँ विरोध और सघर्ष का अवकाश ही नहीं था, अतः "हिन्दी के जैन कवियो ने यदि एक ओर सिद्ध अथवा निष्कल के गीत गाये तो दूसरी ओर अरहंत अथवा सकल के चरणों मे भी श्रद्धा पुष्प चढ़ाये।"[26] भैया भगवतीदास ने भी सकल और निष्कल दोनो की समान रूप से उपासना की है। उनकी चतुर्विंशति जिन स्तुति, तीर्थंकर जयमाला, अहक्षितिपार्श्वनाथ-स्तुति, चतुर्विंशति जयमाला आदि कुछ रचनाएं सकल भक्ति का उदाहरण हैं और अनादिबत्तीसिका, वैराग्यपचीसिका, उपादान निमित्त संवाद, ईश्वर निर्णय

पचीसी, कर्ता अकर्ता पचीसी आदि अनेकानेक रचनाएं निष्कल भक्ति का प्रमाण हैं।

जैन धर्म ईश्वर को जगत के कर्ताधर्ता, और संहारक रूप में स्वीकार नहीं करता, वहाँ सारी सृष्टि जीव और अजीव के अनादि तथा अकृत्रिम संयोग से स्वयंसिद्ध है। अनादि बत्तीसिका में कवि ने इस तथ्य पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किए है-

''अपने अपने सहज सब, उपजत विनशत वस्त।।
है अनादि को जगत यह, इहि परकार समस्त।।''

सृष्टि कर्तृत्व के अध्याय में इस विषय का सविस्तार विवेचन किया जा चुका है।

प्राय: मानव सुख-दुख आदि को ईश्वर की देन कहा करते हैं। कर्मफल में विश्वास करने वाले भी इस प्रकार की धारणा रखते हैं कि मनुष्य कृत कर्मों का लेखा-जोखा ईश्वर रखता है और तत्पश्चात् उसके अनुसार ही उन्हें दंड अथवा पुरस्कार स्वरूप दुख-सुख प्रदान करता है किन्तु जैन दर्शन ईश्वर में कर्तृत्व नहीं मानता, उनका ईश्वर तो शुद्ध निर्विकार है, वह किसी को न सुख देता है न दुख। यदि यह माना जाय कि जीव ईश्वर की आज्ञा अथवा प्रेरणा से ही कार्य करता है तब वास्तविक कर्ता तो ईश्वर ही हुआ, फिर तो भोक्ता भी उसे ही होना चाहिये। कविवर भैया भगवतीदास कर्ता अकर्ता पचीसी में इसी तथ्य को प्रकाशित करते हुए कहते हैं-

''जो ईश्वर करता कहैं, भुक्ता कहिये कौन।
जो करता सो भोगता, याहै न्याय को मौन।।''

यदि ईश्वर स्वयं ही जीवों से अच्छे बुरे कार्य कराता है और फिर उनका दंड या पुरस्कार जीव को देता है तब तो उससे अधिक रागी और द्वेषी जीव कौन होगा। भैया भगवतीदास कर्ता अकर्ता पचीसी में कहते हैं-

''जो करता जगदीश है, पुण्य पाप किंह होय।
सुख दुख काको दीजिये, न्याय करहु बुध लोय।।
नरकन में जिय डारिये, पकर पकर के बाँह।
जो ईश्वर करता कहो, तिनको कहा गुनाहै।।''

विभिन्न तर्कों की कसौटी पर कसकर कवि निष्कर्ष यही देता है कि ईश्वर तो नितान्त निर्दोष, सत्‌चित् आनन्दमय है, वह न कर्ता है न भोक्ता है,

जीव अपने अपने स्वभावानुसार कार्य करता है तथा उसका फल भोगता है-

"ईश्वर तो निर्दोष है, कर्ता भुक्ता नाहिं।
ईश्वर को कर्ता कहैं, ते मूर्ख जग माहिं।।
ईश्वर निर्मल मुकुरवत, तीन लोक आभास।
सुख सत्ता चैतन्यमय, निश्चय ज्ञान विलास।।
x x x x
अपने अपने सहज के, कर्ता है सब दर्व।
यहै धर्म को मूल है, समझ लेहु जिन सर्व।।"

जैन धर्म अवतारवाद को स्वीकार नहीं करता। जो जीवन मुक्त हो चुका वह पुन: जन्म क्यों धारण करेगा और यदि देह धारण करता है तो ईश्वर क्योंकर होगा। भैया भगवतीदास निर्णय पचीसी में यही भाव प्रकट करते हैं-

"ईश्वर के तो देह नहिं, अविनाशी अविकार।
ताहि कहै शठ देह धर, लीन्हों जग अवतार।
जो ईश्वर अवतार ले, मरै बहुर पुन सोय।
जन्म मरन जो धरतु है, सो ईश्वर किम होय।।"

कवि ने वैष्णव धर्म के बहुदेववाद पर भी आक्षेप किया है-

"ईश्वर सौं ईश्वर लरैं, ईश्वर एक कि दोय।।
परशुराम अरु राम को, देखहु किन जग लोय।।
रौद्र ध्यान वर्ते जहाँ, तहाँ धर्म किम होय।।
परम बध निर्दय दशा, ईश्वर कहिये सोय।।"

एक प्रश्न उठता है- जैन धर्म जब ईश्वर में कर्तृत्व नहीं मानता, उसे वीतराग और निर्विकार मानता है, वह न कुछ ग्रहण करता है न प्रदान करता है तब वहाँ ईश्वर की भक्ति के लिये अवकाश कहाँ है? यह शंका स्वाभाविक है। यह ठीक है जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर न सुख प्रदाता है न दुख हर्ता है किन्तु फिर भी वहाँ ईश्वर भक्ति की जाती है क्योंकि आत्मा ही कर्ममल आदि से रहित होकर परमात्मा बन जाती है अत: जैन भक्त ईश्वर की उपासना इसलिये करता है कि उनके परम विशुद्ध, वीतरागी रूप का ध्यान करते करते उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाये और उनकी ही भाँति कठिन साधना कर उसी पद की प्राप्ति की प्रेरणा मिले। पँडित जुगल किशोर जी ने सिद्धिसोपान मे यही भाव प्रकट किया है-

"कारण, उनका जो स्वरूप है, वही रूप सब अपना है,
उस ही तरह सुविकसित होगा, इसमें लेश न कहना है।
उनके चिंतन-वंदन से जिन रूप सामने आता है,
भूली निज निधि का दर्शन यों प्राप्ति प्रेम उपजाता है।।"[27]

भैया भगवतीदास ने भी वीतरागी भगवान की भक्ति का यही मन्तव्य बताया है-

"ज्यों दीपक सयोग तैं बत्ती करें उदोत।
त्यों ध्यावत परमात्मा, जिय परमातम होत।।"[28]

जिस प्रकार जलते हुए दीपक का सम्पर्क पाकर ही वर्तिका जल सकती है उसी प्रकार परमात्म पद को प्राप्त आत्मा का ध्यान करने से ही आत्मा उसके अनुरूप बन सकती है।

इस प्रकार जैन दर्शन में ईश्वर का जो स्वरूप है और उसके सम्बंध में मान्यताएं हैं उन्हीं को कविवर भैया भगवतीदास ने अपनाया है। ईश्वरत्व मीमामा जैसे गूढ विषय को भैया जी ने अत्यंत मग्ल एवं मरम रूप में प्रस्तुत किया है।

गुणस्थान

आत्मा के स्वभाव अथवा परिणाम को गुण कहते हैं। जैन दर्शन में आत्मा के विभिन्न परिणामों के अनुसार ही चौदह गुण स्थान माने गये हैं। सामान्य अवस्था से विकास करते करते आत्मा मोक्ष तक पहुँच जाती है इस उत्तरोत्तर विकास के चौदह स्तर ही चौदह गुणस्थान हैं।[29] मनुष्य के अष्टकर्म ही भवबंधन के कारण होते हैं। इन अष्टकर्मों में से मोहनीय कर्म सर्वाधिक प्रबल और निकृष्ट होता है। यह जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देता। इसी मोहनीय कर्म के अन्तर्गत चारों कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) आते हैं जिससे राग-द्वेष का बंध होता है। इस मोहनीय कर्म का आवरण ज्यों-ज्यों हटता जाता है त्यों-त्यों आत्मस्वरूप प्रकट होता जाता है। कविवर भैया भगवतीदास ने गुण स्थान सम्बंधी दो कृतियों की रचना की है-

1. एकादश गुणस्थान पर्यन्त पंथ वर्णन।
2. चौदह गुण स्थान वर्ति जीव संख्या वर्णन।

प्रथम रचना में गुणस्थानों के नाम परिगणन शैली को ही मुख्य रूप से अपनाया गया है। दूसरी रचना में कवि की दृष्टि भिन्न-भिन्न गुणस्थानों के

नाम बताकर उनमे रहने वाले जीवों की संख्या सकेत पर ही केन्द्रित रही है। दोनो ही रचनाओ में कवि ने मानसिक भावो के उतार-चढाव और परिवर्तन का सूक्ष्मता से चित्रण नही किया है जबकि जैन दर्शन ग्रन्थो में इसका विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध है। जैन दर्शन ग्रंथ गोम्मटसार में इसका विशद विवेचन किया गया है और कवि ने स्वय भी रचना (प्रथम) के अन्त में उसका उल्लेख किया है। कवि ने प्रथम रचना मे सर्वप्रथम उन सिद्ध भगवान की वंदना की है जो कर्म रूपी कलंक को शनैः शनैः धोकर सिद्ध पद को प्राप्त किए हुए हैं। कवि को यहाँ उसी पंथ का दिशा-निर्देश करना है।

प्रथम गुण स्थान है मिथ्यात्व। संसार के अधिकतर जीव इसी गुणस्थान मे रहते है। ये लोग आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ मिथ्यामति जीव होते हैं देव और कुदेव मे उनके लिए कोई अन्तर नहीं होता, दोनो की समान रूप से सेवा करते है। कवि ने अपनी दूसरी रचना चौदह गुणस्थान जीव सख्या वर्णन में प्रथम गुणस्थान का कुछ विस्तृत वर्णन किया है, वे कहते हैं-

"देव कुदेव न जाने भेव। मगुरू कगुरू को एक ही सेव।।
नमै भगति सो बिना विवेक। विनय मिथ्याती जीव अनेक।।"

जैसा कि आरम्भ में ही बताया है इस रचना में कवि की दृष्टि विभिन्न गुणस्थानों मे निवास करने वाले जीवो की सख्या बताने पर ही केन्द्रित रही है। कवि के अनुसार इस गुणस्थान में अनन्तानत जीव भरे हुए हैं-

"प्रथम मिथ्यात्व नाम गुणस्थान। जीव अनतानत प्रमान।।"

दूसरा गुणस्थान है 'सासादन सम्यग्दृष्टि'। जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है किन्तु किसी कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के तीव्र हो जाने से सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर गिरने लगता है तो दोनों के बीच का स्थान सासादन सम्यग्दृष्टि है। कवि ने इस गुणस्थान के विषय में केवल इतना ही कहा है कि यहाँ (सासादन) से गिरकर जीव मिथ्यात्व में ही पहुँच जाता है-

"अब दूजो सासादन नाम। ताके एक गिरन को धाम।।
मिथ्यापुर लो आवै सही। दूजी वाट न याको कहीं।।"

कवि के अनुसार इस गुणस्थान में बावन करोड़ जीव रहते हैं-

"सासादन गुणस्थान नाम। बावन कोटि जीव तिंह ठाम।।"

तीसरा गुणस्थान है सम्यक् मिथ्यात्व (मिश्र) इसमें सम्यक्त्व और

मिथ्यात्व दोनों के मिश्रित भाव रहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थान है असंयत सम्यग्दृष्टि। जिस जीव की श्रद्धा समीचीन होती है वह सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु वह संयम का पालन नहीं करता। अतः वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। भैया भगवतीदास ने इस गुणस्थान का नाम अव्रतपुर दिया है(इसे अविरत सम्यक्त्व भी कहते हैं) और इसके सम्बंध में इतना ही कहा है कि अव्रतपुर से गिरने पर तो प्राणी तीसरे दूसरे से होता हुआ प्रथम मिथ्यात्व तक पहुँच जाता है और ऊपर चढ़ता है तो पंचम और सप्तम तक पहुँच जाता है।

''चौथो है अव्रतपुर थान। पंथ पंच भाखे भगवान।
गिरै तो तीजै दूजै जाय। मिथ्यापुर लों पहुँचे जाय।।
चढ़े तो पंचम सप्तम सही। ऐसी महिमा याकी कही।।''

कवि के अनुसार इस गुणस्थान में सात अरब जीव बसते हैं-

''अव्रत है चौथो गुणवंत। सात अरब जिय तहां वसंत।''

पाँचवां गुणस्थान है संयतासंयत, जो श्रावक के पंच अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, अपरिग्रह) का पालन करते हैं तथा इन्द्रियों पर भी नियत्रण रखते हैं। जैन धर्म में बताया गया गृहस्थ का चरित्र पालन करने वाले सभी मनुष्य इस गुणस्थान के अन्तर्गत आते हैं। हमारे कवि भैया जी ने इस गुणस्थान का नाम 'देशविरतपुर' दिया है (इसे देशविरत भी कहते हैं) और इसके सम्बंध में केवल इतना बताया है-

''पचम देशविरतपुर जान। पथ पंच ताके उर आन।।
गिरे तो चौथे तीजे जाय। अथवा दूजै पहिले भाय।।
चढ़े तो सप्तमपुर के माहिं। इहि थानक अधिक कुछ नाहिं।।''

तथा इस गुणस्थान वर्ती जीवों की संख्या तेरह करोड़ है-

''पंचम देशविरतपुर कहे। तेरह कोटि जीव जहं लहे।।''

षष्ठ गुणस्थान है प्रमत्त संयत, जिसमें पूर्ण संयम का पालन करते हुए भी प्रमाद के कारण कभी कभी कुछ असावधानी हो जाती है, ऐसे मुनि प्रमत्त संयत कहलाते हैं। इनके विषय में भी कविवर 'भैया' इतना ही बताकर मौन हो गये हैं कि यहाँ से स्खलित होने पर भी जीव पंचम चतुर्थ आदि से होता हुआ प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व तक पहुँच सकता है तथा उन्नति करने पर सप्तम गुणस्थान में पहुँच जाता है। कवि के अनुसार यहाँ के जीवों की संख्या

पाँच करोड़ तिरानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छः है।

"पंच कोटि अरू त्राणव लाख। सहस अट्याणवें उपरि भाख।।

द्वय सो छह जिय छट्ठेथान। परमादी मुनि कहे बखान।।"

सप्तम गुणस्थान है अप्रमत्त संयत, जो मुनि प्रमाद और असावधानी से विरत रहकर दृढ़तापूर्वक संयम का पालन करते हैं, वे अप्रमत्त संयत कहलाते हैं। यहाँ कवि ने केवल इतना ही बताया है, कि इस गुणस्थान से यदि मुनि स्खलित हो जाये तो छठे गुणस्थान में पहुँचता है। यहाँ के निवासी जीवों की संख्या 2 करोड़ छियानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन है।

"अप्रमत्त सप्तम परतक्ष। कोटि दोय अरू छयानव लक्ष।।

सहस निन्याणव इक सो तीन। एते मुनि संयम परवीन।।"

सप्तम गुणस्थान के पश्चात् दो श्रेणियां आरम्भ होती हैं उपशम और क्षयक श्रेणी। जब जीव अपनी प्रकृतियों और कर्मों को उपशम करता हुआ चलता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं और जब वह उन्हें क्षय करता हुआ चलता है उसे क्षयक श्रेणी कहते हैं तथा क्षयक श्रेणी में अष्टम, नवम, दशम और द्वादशम गुणस्थान है। इस प्रकार का सकेत कवि ने भी किया है-

"उपसम श्रेणि चढै गुणवान। अष्टम नवम दशम गुणथान।"

अष्टम गुणस्थान अपूर्वकरण है। करण से तात्पर्य परिणाम होता है। जब मुनि के चित्त मे अपूर्व शुद्ध भाव आने लगते हैं तब वह अष्टम गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। नवम गुणस्थान अनिवृत्तिकरण है, यहाँ आकर पूर्व संचित कर्म क्षीण होने लगते हैं और दशम गुणस्थान सूक्ष्म साम्पराय मे मुनि अपनी कषायो (साम्पराय) को अत्यत सूक्ष्म कर डालते है। कविवर भैया भगवतीदास ने इन गुणस्थानो के विषय मे भी कुछ विशेष नही कहा है केवल उनके नाम बताकर उनसे स्खलित होने पर नीचे के गुणस्थान मे जाने अन्यथा ऊपर के गुणस्थान मे जाने मात्र का संकेत किया है। इनमें निवास करने वाले जीवों की संख्या का पृथक-पृथक श्रेणीवार उल्लेख किया है। उपशम श्रेणी में अष्टम नवम तथा दशम गुणस्थान मे दो-दो सौ निन्यानवे है। तीनो का योग आठ सौ सत्तानवे है। क्षयक श्रेणी के अष्टम गुणस्थान में पाँच सौ अट्ठानवे हैं नवम तथा दशम मे भी यही सख्या है। ग्यारहवां गुणस्थान उपशांत कषाय है। इसमें उपशम श्रेणी वाला मुनि ही आता है। कर्म प्रकृतियों को शांत कर देने से परिणाम अत्यत शुद्ध हो जाते हैं किन्तु मोह कषाय आदि जल से भरे हुए पात्र

में बैठे हुए मल के समान रहते हैं। अतः मुनि इनको उदय में लाकर इन्हें नष्ट करता है। कवि ने यहाँ भी नाम निर्देश से ही सन्तोष कर लिया है। यहाँ के जीवों की संख्या दो सौ निन्याणवे बताई है।

बारहवां गुणस्थान है क्षीण कषाय-इसमें क्षयक श्रेणी वाले मुनि ही आते हैं। मोह आदि को शनैः शनैः क्षीण करते हुए सर्वथा निर्मूल कर देते हैं वे क्षीण कषाय वीतरागी कहलाते हैं। कवि के अनुसार इसमें पाँच सौ अठानवे जीव हैं।

''द्वादशमों गुण क्षीण कषाय। पंच अठाणव सब मुनिराय।।''

तेरहवां गुणस्थान संयोग केवली है। अष्टकर्मों में सर्वाधिक प्रबल मोहनीय कर्म होता है। बारहवें गुणस्थान तक वह नष्ट हो जाता है। उसके नष्ट होते ही अन्य कर्मों की शक्ति स्वतः ही क्षीण हो जाती है। और उसका केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। अतः वह सयोग केवली हो जाते हैं। आत्मा के शत्रु, कर्मों को जीत लेने के कारण ये ही जिन[30] तथा अरिहंत (अरि+हंत) कहलाते हैं। ये भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर उपदेश देते हैं प्राणीमात्र को संसार सागर से पार उतरने का मार्ग बताते हैं इसीलिए ये ही तीर्थंकर कहलाते हैं।

कवि के अनुसार इन केवल ज्ञानियों की संख्या आठ लाख अठानवें हजार पाँच सो दो है।

''अब तेरह में केवल ज्ञान। तिनकी संख्या कहूं बखान।।
लाख आठ केवलि जिन सुनो। सहस अठाणव ऊपर गुनो।।
शतक पंच अरू ऊपर दोय। एते श्री केवलि जिन सोय।।''

चौदहवां और अन्तिम गुणस्थान है अयोग केवली। अब केवल-ज्ञानी ध्यानमग्न होकर मन, वचन व शरीर के सब व्यापार बन्द कर देते हैं, तब वे अयोग केवली कहलाते हैं। इसका काल बहुत थोड़ा होता है। तत्पश्चात् ये ध्यान रूपी अग्नि से शेष चार अघाति कर्मों, आयु, नाम, वेदनी, गोत्र को भी नष्ट करके शरीर और जीवन से मुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं। कवि ने इन अयोग केवली गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या पाँच सौ अठानवें बताई है।

''अब चौदम अयोग गुण थान। पंच अठवाण सब निर्वान।।''

अन्त में कवि ने तेरहवें गुणस्थान तक के जीवों की संख्या का योग भी दिया है (प्रथम गुणस्थान 'मिथ्यात्व' में तो अनन्तानंत जीव है) आठ अरब सतत्तर करोड़ निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार दौ सौ सत्तानवे।

"तेरह गुणथानक जिय लहूं। सबकी संख्या एकहि कहूं।।
आठ अरब सतहत्तर कोड़। लाख निन्याणव ऊपर जोड़।।
सहस निन्याणव नव सौ जान। अरू सत्याणव सब परमान।।"

इन सब संख्याओ का वर्णन कवि ने गोम्मटसार ग्रंथ के अनुसार किया है। तेरहवें गुणस्थान तक ही जीव जगवासी कहलाता है।

"जब लौं जिय इह थानक माहिं। तब लौं जिय जगवासी कहाँहि।।
इनहिं उलंघि मुक्ति मे जाँहि। काल अनंतहि तहां रहाहिं।।"

इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान को पार करके जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और फिर अनन्तकाल तक अनन्त सुख का भोग करते हैं। कविवर 'भैया' जी ने जैन दर्शन-ग्रंथों के अनुसार ही गुणस्थानों का वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने प्रत्येक गुणस्थान वर्ती जीवों का स्वभावगत वर्णन नही किया तथापि यह साधना कितनी कठिन है। जीव बार बार ऊपर चढने का प्रयास करता है। और नीचे गिर जाता है, यदि अपने को संभाल नहीं पाता तो गिरता ही चला जाता है। इसका कवि ने बार-बार संकेत किया है। जैन दर्शन के अनुसार इस संसार के सब जीव अपने-अपने आध्यात्मिक विकास के अनुसार गुणस्थानो मे विभाजित है। कवि ने परम्परागत उल्लेख किया है। पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री ने गुणस्थानों को 'आध्यात्मिक उत्थान और पतन के चार्ट' के समान बताया है। तथा डॉ0 हीरालाल जैन ने इनको चौदह 'आध्यात्मिक भूमिकाए' कहा है।

कर्म-सिद्धान्त

ससार मे लगभग सभी धर्म इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जीव जैसा कर्म करेगा उसे वैसा ही फल भोगना होगा। साधारणतया यही कर्म-सिद्धान्त है। किन्तु कर्म सिद्धान्त के स्वरूप के सम्बंध में विभिन्न दर्शन अपना पृथक-पृथक मत रखते हैं। "ईश्वर को जगत का नियन्ता मानने वाले वैदिक दर्शन जीव को कर्म करने मे स्वतत्र किन्तु उसका फल भोगने में परतन्त्र मानते है। उनके मत से कर्म का फल ईश्वर देता है और वह प्राणियों के अच्छे या बुरे कर्म के अनुरूप ही अच्छा या बुरा फल देता है। किन्तु जैन-दर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता। गहनता से विचार करने पर यह तथ्य तर्कसंगत भी प्रतीत नहीं होता। ईश्वर संसार के प्रत्येक प्राणी के कार्यों का लेखा जोखा रखे यह सम्भव ही नही दिखाई देता। वह स्वयं ही प्राणियों को विभिन्न प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा दे और फिर उन्हीं कार्यों के लिए उन्हें दंड अथवा

पुरस्कार दे यह उचित नहीं लगता। प्रो0 महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य के शब्दों में "यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करने वालों को भी प्रेरणा देता है, और जिसकी हत्या होती है, उसे भी, और जब हत्या हो जाती है, तो वही एक को हत्यारा ठहराकर दंड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्य में स्वतंत्र ही नहीं है, तब वह हत्या का कर्ता कैसे ? अत: प्रत्येक जीव अपने कार्यों का स्वयं प्रभु है, स्वयं कर्ता है, और स्वयं भोक्ता है।"[31] इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईश्वर कर्मफलदाता नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म अपने कर्ता को स्वयं ही फल देते हैं। कर्म का क्या स्वरूप है वे कैसे जीव से संयुक्त होते हैं तथा कैसे फल देते हैं, यही कर्म सिद्धान्त है। "जैन शास्त्रों मे कर्मवाद का बड़ा गहन विवेचन है ..... कर्मों का ऐसा सर्वांगीण वर्णन शायद ही संसार के किसी वाङ्मय में मिले।"[32]

संसार में धर्म की सत्ता जीव को मोक्ष प्राप्ति करने के लिए ही है। जीव की मुक्ति के लिए जिन तत्वों के ज्ञान की आवश्यकता है वे जैन दर्शन के अनुसार सात माने गए हैं- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष। जीव अजीव षट द्रव्यों के अन्तर्गत भी आते हैं और सात तत्वों के अन्तर्गत भी, क्योंकि कर्म-परमाणु (अजीव) जीव से संयुक्त होकर ही संसार का कारण बनते हैं। इन कर्म पुद्‌गलों से जीव और अजीव का षटद्रव्यों के अतर्गत सृष्टिकर्तृत्व के अध्याय में विस्तार से विवेचन किया गया है।

जीव-

जीव चेतना युक्त, अमूर्त, रूप, रस, गंध, शब्द रहित है, अनन्तगुण एवं अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है, जिनसे वह स्वयं ही अपरिचित रहता है जीव स्वयं ही कर्मों का जाल फैलाता है और स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से उसे छिन्न-भिन्न कर मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है, इस दृष्टि से जीव दो प्रकार के हैं- कर्मबद्ध जीव और कर्म मुक्त जीव। इन्हें ही क्रमश: संसारी और मुक्त जीव भी कहते हैं।

अजीव-

संसार के समस्त अचेतन एवं मूर्तिक पदार्थ अजीव हैं और अजीव के पाँच भेदों में से एक है पुद्‌गल, जो रूप, रस गंध आदि से युक्त है। व्युत्पत्ति से पुद्‌गल का अर्थ होता है जो परस्पर संयुक्त और विभक्त होता रहे ऐसा पूर्ण और गलन स्वभाव वाला पदार्थ।[33] इसके दो भेद होते हैं अणु और स्कंध।

पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी अंश को अणु अथवा परमाणु कहते हैं और अणु के समूह को स्कध। कर्म का निर्माण उन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं से होता है जो ज्ञानेन्द्रियों के लिए अगम्य है। इस प्रकार कर्म एक पुद्गल पदार्थ है जो जीव के साथ बंध जाता है। जीव और कर्म का सम्बंध अनादि है, जैन दर्शन इस बात को मानता है, यदि ऐसा न मानें तो यह शंका उठती है कि यदि जीव प्रारम्भ में सर्वथा शुद्ध था तो वह संसार में आया ही क्यों, और यदि जीव शुद्ध अवस्था में संसार में आता है तो संसार से मुक्त होने के पश्चात् भी जीव इस संसार में आ सकता है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अत: जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। भैया भगवतीदास ने भी शत अष्टोत्तरी में इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे कहते है-

"जीवहु अनादि को है कर्महु अनादिको है,
भेदहु अनादि को है, सर्व दोऊ दल मे।
रीझवे को है स्वभाव, रीझनाही है स्वभाव,
रीझते को भाव सो स्वभाव है अनल मे।"

कर्मो से जीव का सम्बन्ध अनादि तो है किन्तु अनन्त नहीं है। कर्म सयुक्त रहना जीव का मूल स्वभाव नहीं है। यदि ऐसा होता तो जीव पूर्ण प्रयास करने पर भी कर्म विमुक्त हो ही नहीं सकता था। किन्तु अरहत और सिद्ध अवस्था जीव के कर्म विमुक्त होने का प्रमाण है। कविवर भैया भगवतीदास भी रागादि निर्णयाष्टक में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं-

"राग द्वेष की परणति है अनादि नहीं मूल स्वभाव।
चेतन शुभ फटिक मणि जैसे, रागादिक ज्यों रंग लगाव।।"

इस प्रकार जीव भ्रमवश कर्म रूपी जाल स्वयं ही फैलाता है और तत्पश्चात् अज्ञानवश स्वय ही उसमे फंस जाता है। वह उसमें बंदी अवस्था में छटपटाता रहता है, कवि के शब्दो में-

"हंसा, हँस हँस आप तु, पूर्व संवारे फद।
तिहिं कुदाव में बँधि रहे, कैसे होहु सुछद।।"

इस कर्मजाल के फंद मे पड़कर जीव अपने वास्तविक स्वभाव को ही भूल जाता है वह यह भूल जाता है कि उसमें सिद्ध परमात्मा होने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है केवल कर्मों का आवरण ही उसे ईश्वरत्व से पृथक किए हुए है-

"ईश्वर सो ही आत्मा, जाति एक है तंत।
कर्म रहित ईश्वर भये, कर्म सहित जगजंत।।"[34]

कर्मों के संयोग से जीव की तीन अवस्थाएं होती है, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो अपने स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञ होते हैं तथा शरीर को ही आत्मा समझते हैं वे बहिरात्मा कहलाते हैं। जिन्हें अपने स्वरूप का सच्चा ज्ञान है और उसे प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं उन्हें अन्तरात्मा कहते हैं, और जो कर्मबंधन काटकर संसार और जीवन से मुक्त हो चुके, वे परमात्मा कहलाते हैं। ये कर्म ही जीव को इस संसार में अपने संकेतों पर नृत्य कराते हैं। भैया भगवतीदास परमात्म छत्तीसी में जीव की इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं-

"कर्मन के संयोग तें भये तीन प्रकार।
एक आतमा द्रव्य को कर्म नचावन हार।।"

आस्रव तत्व-

पुद्‌गल द्रव्य 23 प्रकार की वर्गणाओं (सूक्ष्मतम परमाणुओं) में विभाजित है। इनमें से एक प्रकार की वर्गणाएं कार्माणवर्गणा (इन्हें ही कर्म परमाणु कहते हैं) कहलाती हैं। इस संसार में जीव किसी न किसी शरीरधारी के रूप में ही दिखाई देता है, और मन, वचन अथवा काय के द्वारा किसी न किसी क्रिया मे रत रहता है। मन, वचन और काय के द्वारा की गई क्रियायें योग कहलाती हैं। इन क्रियाओं से प्राणी के चारों ओर वातावरण में भरे हुए परमाणुओं मे स्पदन उत्पन्न हो जाता है और उनमें से कार्माण-वर्गणाएं आत्मा के प्रदेशों की ओर आकर्षित होती हैं। मन, वचन, काय योग का सहारा पाकर कर्म परमाणुओ का जीव की ओर आकर्षित होना ही आस्रव है, तत्वार्थ सूत्र में कहा गया है-

"काय वाङ्मन: कर्म योग:। स आस्रव:।।"[35]

बंध तत्व-

कर्म-परमाणुओं के आगमन मात्र से कुछ नहीं होता यदि वे आत्मा के साथ संयुक्त न हों। आत्मा के राग द्वेष आदि परिणामों के कारण परमाणुओं में कर्मशक्ति उत्पन्न हो जाती है इन कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह[36] सम्बंध हो जाता है। इसे ही कर्म बंध कहते हैं। राग द्वेषादि परिणाम ही कषाय कहलाते हैं, जो मुख्यत: चार मानी गयी हैं- क्रोध, मान,

माया, लोभ। आचार्य उमास्वाति का कथन है-

"सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंध:।"

अर्थात् जीव कषाय युक्त होने के कारण कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है इसे ही बंध कहते हैं। आचार्य कुंद-कुंद ने प्रवचन सार में तथा अमृत चन्द आचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में यही विचार व्यक्त किए हैं- भैया भगवतीदास भी कहते हैं कि जब कर्म प्रदेश और आत्मा के प्रदेश मिलकर एक हो जाते हैं उसे ही बंध कहते हैं।

"चेतन परिणाम सो कर्म जिते बाँधियत,
ताको नाम भावबंध ऐसी भेद कहिये।।
कर्म के प्रदेशनि को आतम प्रदेशनि सो,
परस्पर मिलिबो एकत्व जहाँ लहिये।।
ताको नाम द्रव्य बंध कह्यो जिन ग्रंथनि में,
ऐसो उभै भेद बंध पद्धति को गहिये।।
अनादि ही को जीव यह बंध सेती बंधयो है,
इनही के मिटत अनत सुख पहिये।।"

इस प्रकार जीव के मन वचन काय तीनों योग कर्म-परमाणुओं को जीव तक लाने का कार्य करते है तथा उसके राग द्वेषी परिणाम बंध का कारण बनते है। यदि मन कषाययुक्त न हो तो कर्म-परमाणुओ का आत्मा के साथ बंधन नहीं हो सकता। पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इस प्रक्रिया को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है। उन्होंने योग को वायु की, कषायको गोंद की, जीव को एक दीवार की, तथा कर्म-परमाणुओ को धूल की उपमा दी है। यदि दीवार पर गोंद लगी हो तो वायु के साथ उड़कर आने वाली धूल दीवार से चिपक जाती है, यदि दीवार साफ सुथरी है तो कितनी ही धूल उड़ती रहे वह चिपक ही नहीं सकती और दीवार पर धूल का कम या अधिक दिनों तक चिपके रहना भी उस पर लगी गोंद आदि की चिपकाहट की कमीबेशी पर निर्भर करती है। यदि दीवार पर गोंद न होकर पानी हो तो धूल शीघ्र ही सूखकर झड़ जायेगी। इस उदाहरण से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि रागद्वेष आदि ही बंध के कारण हैं। भैया भगवतीदास ने इस तथ्य को बार बार कहा है। रागद्वेष को ही कर्म बंधन का मूल बताते हुए परमात्म छत्तीसी मे वे कहते हैं-

"कर्मन की जर राग है, राग जरै जर जाय।

प्रगट होत परमात्मा, भैया सुगम उपाय।।''

जीव को शरीर आदि पुद्गल द्रव्य से जो राग होता है उसी राग के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता। कवि भैया इसे एक रूपक द्वारा सरलता से स्पष्ट कर देते हैं-

''जो परमात्मा सिद्ध में, सो ही या तन माहिं।
मोह मैल दृगि लगि रह्यो, तातैं सूझे नाहिं।।''

यदि मानव का हृदय लोभ, मान, माया, क्रोध कषायों से रहित, नितान्त स्वच्छ वीतरागी होता है तो कर्मपरमाणु मेघों के समान गरज-गरजकर बिना वर्षा किए ही चले जाते हैं, कवि के शब्दों में-

''संसारी जीवन के करमन को बंध होय,
मोह को निमित्त पाय राग द्वेष रंग सौं
वीतराग देव पै न रागद्वेष मोह कहूँ,
ताही तै अबंध कहे कर्म के प्रसंग सो।
पुग्गल की क्रिया रही पुग्गल के खेतबी,
आपही ते चले धुनि अपनी उमंग सों।
जैसे मेघ परै बिनु आप निज काज करै।
गर्जि वर्षि झूम आवै शकति सुछंग सो।''[37]

ये आस्रव और बंध ही संसार का कारण हैं। इनसे एक बार बंध जाने पर फिर मुक्ति पाना कठिन है। जिस प्रकार के कर्मों का बंध होता है उनके उदय होने पर जीव फिर उसी प्रकार के रागद्वेष आदि भावों को धारण कर लेता है और इस प्रकार फिर नवीन कर्मों का बंधन हो जाता है और यही संसार का चक्र है। इस तथ्य को कवि 'भैया' ने रागादि निर्णयाष्टक में अत्यंत स्पष्टता से बताया है-

''राग रू द्वेष मोह की परणति, लगो अनादि जीव कहं दोय।
तिनको निमित्त पाय परमाणु, बंध होय वसु भेदहिं सोय।।
तिनतैं होय देह अरू इन्द्रिय, तहां विष रस भुंजत लोय।
तिनमें रागद्वेष जो उपजत, तिहं संसारचक्र फिर होय।।''

आचार्य उमास्वाति ने बंध के पाँच हेतु बताये हैं-

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

आत्मतत्व या अपने स्वरूप के सम्बन्ध में मिथ्याधारणा ही मिथ्यादर्शन है।

संयम आदि के नियमों का पालन न करना ही अविरति है। अपने कर्तव्य निर्वाह में असावधान होना प्रमाद है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मन को मलिन करने वाली भावनाए कषाय हैं। मन, वचन और काय के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में जो क्रिया होती है, उसे योग कहते है।

आचार्य उमास्वाति ने कर्मबंध के चार प्रकारों का उल्लेख किया है- प्रकृतिबंध, स्थितिबध, प्रदेशबंध अनुभागबंध। कर्म-परमाणुओं का आठ कर्मों में परिणत हो जाना प्रकृतिबध है। जिस प्रकार भोजन करने के पश्चात् अन्न शरीर में जाकर रुधिर, मज्जा आदि सात धातुओं में विभक्त हो जाता है उसी प्रकार कर्म परमाणु अष्टकर्मों में विभाजित हो जाते हैं। ये अष्टकर्म इस प्रकार है-

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय।

बंधे हुए कर्मपरमाणुओं की ज्ञानावरणादि कर्मों के रूप में सख्या का नियत होना प्रदेश-बध है। कर्म परमाणु जीव के साथ कितने समय तक संयुक्त रहेंगे, काल मर्यादा का यह निर्णय ही स्थितिबंध कहलाता है। कर्म तीव्र फल देगा या मंद इस शक्ति का नियत होना अनुभाग बंध कहलाता है।

भैया भगवतीदास ने कर्मबंध के हेतु तथा भेदों का संक्षेप में इस प्रकार संकेत किया है-

"मिथ्या अव्रत योग कषाय। बंध होय चहुं परतें आय।।
थिति अनुभाय प्रकृति परदेश। ए बंधन विधि भेद विशेष।।"

जीव अनन्त गुणों से युक्त होता है। कर्म उसके गुणों को आवृत कर लेते हैं। उसके अनन्त गुणों में से आठ गुणों को विशेष महत्व दिया गया है- क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्यावाधत्व। ये ही आठ गुण सिद्धों के माने गए हैं। भैया भगवतीदास ने इसी विषय पर एक विशिष्ट कृति की रचना की है- "अष्टकर्म की चौपाई" जिसमें अष्टकर्मों के द्वारा अष्टगुणों को आवृत किए जाने का वर्णन किया गया है-

"एक जीवगुण धरै अनन्त। ताको कुछ कहिये विरतंत।
सबगुण कर्म अच्छादित रहैं। कैसे भिन्न-भिन्न तिंह कहैं।।
तामे आठ मुख्य गुण कहें। तापें आठ कर्म लगि रहे।।"

ज्ञानावरणीयकर्म जीव के ज्ञानगुण को आवृत कर लेता है। उसके क्षय

होते ही उसका ज्ञानरूप प्रकट हो जाता है। "भैया" जी के अनुसार-

"ज्ञानावरणकर्म जब जाय। तब निज ज्ञान प्रकट सब थाय।"

दर्शनावरणीय कर्म जीव के दर्शनगुण को आच्छादित कर लेता है। कविवर 'भैया' जी ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया है-

"दूजो दर्शआवरण और। गये जीव देखहिं सब ठौर।।"

मोहनीय कर्म जीव की सम्यक् बुद्धि को हर लेता है। इसका भेद दर्शनमोहनीय जीव को सत्य मार्ग का ज्ञान ही नहीं होने देता और दूसरा चरित्र मोहनीय सच्चे मार्ग का ज्ञान हो जाने पर भी जीव को उस पर चलने नहीं देता। यही कर्म सर्वाधिक प्रबल होता है। कविवर भैया भगवतीदास ने भी इस कर्म की प्रबलता की ओर संकेत किया है-

"चौथी महा मोह परधान। सब कर्मन में जो बलवान।।

समकित अरू चारित गुणसार। ताहि ढके नाना परकार।।

x x x x

मोह गए सब जानै मर्म। मोह गए प्रगटै निज धर्म।।

मोह गए केवलि पद होय। मोह गए चिर रहे न कोय।।"

अन्तराय कर्म जीव के अनन्त वीर्य गुण को आच्छादित कर लेता है। जिसके कारण मनुष्य में साहस पौरुष संकल्प शक्ति अल्प मात्रा में दिखलायी देती है। भैया भगवतीदास ने भी अन्तराय कर्म के विषय में यही संकेत किया है-

"अष्टम अन्तराय अरि नाम। बल अनन्त ढाके अभिराम।।

शकति अनन्ती जीव सुभाय। जाके उदय न परगट थाय।।"

इन चार कर्मों-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को घाति कर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीव के स्वाभाविक रूप को आच्छादित करके अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं। और शेष चार कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय अघाति कर्म कहलाते है क्योंकि ये जीव को किंचित् हानि पहुँचाते हैं। आयु कर्म जीव के अवगाहनत्व गुण में बाधा पहुँचाता है। क्योंकि उसे किसी एक शरीर में रोके रखता है। भैया भगवतीदास ने भी यही स्वीकार किया है-

"पंचम आयु कर्म जिन कहै। अवगाहन गुण रोक रहै।।

जब वे प्रकृति आवरण जाहिं। तब अवगाहन थिर ठहराहिं।।"

नाप कर्म जीव के सूक्ष्मत्व गुण को आवृत कर लेता है। इसी के संयोग से अमूर्त जीव शरीर धारण करता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण

को आवृत कर लेता है। कविवर 'भैया' जी ने भी इसी तथ्य को स्वीकृत किया है-

"नाम कर्म षष्ठम नितंत। करहि जीव को मूरतिवंत।।
अमूरतीक गुण जीव अनूप। तापै लगी प्रकृति जड रूप।।

x x x x

सप्तम गोत करम जिय जान। ऊँचनीच जिय यही बखान।।
गुण जु अगुरू लघु ढांके रहै। तातैं ऊँचनीच सब कहै।।"

वेदनीय कर्म जीव के अव्याबाधत्व गुण को आवृत कर लेता है तथा सुख-दुख का अनुभव कराता है। इसका एक भेद सातावेदनीय स्वस्थ शरीर तथा धन ऐश्वर्य आदि की ओर दूसरा भेद असातावेदनीय रोगी शरीर, निर्धनता आदि कष्टो की प्राप्ति कराते हैं। भैया भगवतीदास ने भी वेदनीय कर्म के ही लक्षण बताये हैं-

"निरावाध गुण तीजो अहै। ताहि वेदनी ढांके रहै।।
साता और असाता नाम। तामहि गर्भित चेतन राम।।"

इस प्रकार अष्ट कर्म जीव के वास्तविक रूप को ढककर उसे अज्ञान और मोह के अंधकार मे डाल देते हैं। इसीलिए कवियो ने प्रायः इन अष्टकर्मों को आठ ठग के रूप में बताया है, जो जीव के गुण रूपी धन का हरण कर लेते है-

"ठठ्ठा कहै आठ ठग पाये। ठगत-ठगत अब कै कर आये।
ठग को त्याग जलांजलि दीजै। ठाकुर ह्वै कें तब सुख लीजे।।"[38]

कर्मबंधन होने के पश्चात् कर्मों का उदय होता है अथवा वे उदित हुए बिना ही कर्मफल देने के अयोग्य हो जाते हैं। इसको ही दृष्टि में रखकर कर्मबंध की दस अवस्थायें मानी गयी हैं। कविवर भैया भगवतीदास ने इस विषय पर एक पृथक कृति की रचना की है- "कर्मबंध के दस भेद"। कर्मपरमाणुओं का जीव से संयुक्त होना बंध है। कर्म की स्थिति (फल देने की अवधि) में वृद्धि होना उत्कर्षण है। एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म के रूप मे परिणत हो जाने को संक्रमण कहते हैं। कर्म की स्थिति के घटने को अपकर्षण कहते हैं। समय से पूर्व कर्म के उदय हो जाने को उदीरणा कहते हैं। फल देने से पूर्व कर्म के जीव के साथ बंधे रहने की अवस्था सत्ता कहलाती है। कर्म का फल देना उदय तथा कर्म को उदय में आ सकने के

अयोग्य कर देना उपशम है। कर्म का उदय तथा संक्रमण न हो सकना निधत्ति है। कर्म में उत्कर्षण, अपकर्षण का न हो सकना निकाचना। भैया भगवतीदास ने 'कर्मबंध' के दस भेद नामक रचना में इन्हीं अवस्थाओं का परम्परागत वर्णन किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

''दूजो उत्कर्षणबंध एह। थितहिं बढाय करै बहु जेह।।
तीजो संकरमण जु कहाय। और की और प्रकृति हो जाय।।
x x x x
सत्ता अपनी लिए बसंत। षष्टम भेद यह विरतंत।।
सप्तम भेद उदय जे देय। थिति पूरी कर बंध खिरेय।।
x x x x
दशमो बंध निकाचित जहां। थिति नहीं बढ़े घटै नहिं तहां।।''

संवर-

कर्मों के आस्रव को रोकना ही संवर है। यदि नये कर्मों के आगमन को न रोका जाये तो जीव कभी भी कर्मबंधन से मुक्त नहीं हो सकता। कर्मपरमाणुओं में कर्मफल देने की शक्ति तब ही उत्पन्न होती है जब आत्मा राग-द्वेष युक्त होती है। अतः यह रागद्वेष भावना ही कर्मबंध का कारण है। मोक्ष पद के साधक को रागद्वेष कषाय आदि से अपने हृदय को मुक्त रखना चाहिए। कविवर भैया भगवतीदास ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है-

''रागादिक सों भिन्न जब जीव भयो जिंह काल।।
तब तिंह पायो मुक्ति पद, तोरि कर्म के जाल।।
येहि कर्म के मूल हैं रागद्वेष परिणाम।।
इन ही से सब होते हैं कर्मबंध के काम।।''[39]

निर्जरा-

कर्म-परमाणुओं का झड़ जाना अर्थात् उनकी कर्मफल शक्ति का नष्ट हो जाना ही निर्जरा कहलाता है। वैसे तो हर समय कर्मों की निर्जरा होती रहती है क्योंकि कर्म अपना फल दे चुकने के पश्चात् शक्तिहीन होकर झड़ते रहते हैं। किन्तु तब भी कर्मबंधन से छुटकारा नहीं मिलता, क्योंकि साथ ही साथ रागद्वेष भाव के कारण नए कर्म बंधते चले जाते हैं। अतः निर्जरा संवरपूर्वक ही हो तब ही कुछ लाभ है। भैया भगवतीदास भी इस सम्बन्ध में यही भाव प्रकट करते हैं-

"संवर पट को रोकने भाव। सुख होवे को यही उपाव।।
आवे नहीं नए जहाँ कर्म। पिछले रुकि प्रगटै निजधर्म।।
थिति पूरी है खिर खिर जाहिं। निर्जर भाव अधिक अधिकाहिं।।
निर्मल होय चिदानन्द आप। मिटै सहज परसंग मिलाप।।"[40]

इसके अतिरिक्त उपवास, तप, ध्यान आदि के द्वारा भी कर्मों का समय से पूर्व ही उदय में लाकर उदीरणा के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। तत्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने निर्जरा के कितने ही उपाय बताये हैं-

"स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परिषहजय चारित्रैः।
तपसा निर्जरा च।"[41]

अर्थात् गुप्ति (तीन) समिति (पाँच) धर्म (दस) अनुप्रेक्षा (बारह) परिषहजय (बाईस) चारित्रपालन व तपस्या (बारह) से निर्जरा होती है।

भैया भगवतीदास ने उक्त प्रकार से निर्जरा के उपाय तो नहीं बताये हैं, हाँ भिन्न रचनाओं के अंत में यह संकेत दे दिया है कि ऐसा आचरण करने से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है जैसे 'बारह-भावना' कृति के अन्त में कहा गया है-

"ये ही बारह भावन सार। तीर्थंकर भावहिं निरधार।
ह्वै वैराग महाव्रत लेहिं। तब भव भ्रमन जलांजुलि देहि।।"

इसी प्रकार 'बाईस परीसहन के कवित्त' के अंत में भी कहा है।

मोक्ष-

सप्तम और अन्तिम तत्व है मोक्ष। यही वह लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए जीव अनन्तानन्त जीवन धारण करता हुआ संसार मे भटकता रहता है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अर्थात् 'समस्त कर्मबधनों' से जीव के मुक्त हो जाने को मोक्ष कहते हैं।' कर्मों का आवरण ही संसार है। कर्म प्रेरित जीव ही संसार में भ्रमण करता रहता है और कर्मसिद्धान्त कर्मजाल में बंदी जीव को मुक्ति का मार्ग दिखाने की कथा मात्र है। कविवर 'भैया' कहते हैं-

"ये ही आठों कर्ममल, इनमें गर्भित हंस।
इनकी शक्ति विनाश के प्रगट करहि निज बंस।।"[42]

इस प्रकार जैन कर्मसिद्धांत के अनुसार कर्म का कर्ता और भोक्ता जीव स्वयं ही है, वहाँ ईश्वर का कोई महत्व नहीं है, वहाँ मोक्ष प्राप्ति ईश्वर की कृपा नही वरन् जीव के पुरुषार्थ का परिणाम है। कर्मरूपी शत्रुओं को जीत

कर ही जीव 'जिन' बन सकता है।

इस विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त का जितना सूक्ष्म और सांगोपांग वर्णन मिलता है, उतना अन्य दर्शनों में दुर्लभ है। यहाँ हर प्रश्न का उत्तर विद्यमान है, भैया भगवतीदास ने भी कर्मसिद्धान्त का परम्परागत वर्णन किया है। अष्टकर्म की चौपाई में अष्ट कर्म के भेद तथा कर्मबंध के दस भेद में दस अवस्थाएं वर्णित हैं शेष तत्वों का विवेचन एक स्थान पर न होकर कई रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है।

सप्तभंगी

जैन दर्शन में वस्तु को अनेक धर्मों से युक्त (अनेकान्तात्मक) माना गया है यही अनेकान्तवाद है और एक समय में वस्तु के एक धर्म का ही कथन किया जा सकता है, सब धर्मों का कथन एक साथ एक समय में नहीं किया जा सकता जबकि उस वस्तु में अनेक धर्म एक साथ ही रहते हैं इसलिए उसके स्वरूप प्रकाश की एक विशेष शैली का आविष्कार हुआ है जिसे 'स्याद्वाद' कहते है। स्यात् से तात्पर्य है कथंचित् अर्थात् 'किसी अपेक्षा से', वाद अर्थात् कथन। अत: किसी अपेक्षा से कहना ही स्याद्वाद है। इस प्रकार अनेकान्तवाद एक दृष्टिकोण है और स्याद्वाद उसको प्रकट करने की एक पद्धति है। वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।'' जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्यादवाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता के अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, उनका निषेध न होवे, इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित शब्द का प्रयोग करता है। इस प्रकार स्याद्वाद द्वारा अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए कथन किया जाता है। अनेकान्तवाच्य और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषा की निर्दोष प्रणाली है, जिसके माध्यम से वक्ता दूसरे के विचारों का समादर करता है। आधुनिक युग का सापेक्षवाद[43] लगभग इसी का रूपान्तर है। स्याद्वाद के अनुसार कथन के अधिक से अधिक सात ढंग हो सकते हैं इसे ही सप्तभंगी कहा गया है। भंग स्याद्वाद के अंग प्रत्यंग हैं। एक भंग से वस्तु के एक धर्म को ग्रहण

किया जाता है।

स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है। इसका जैन दर्शन के साहित्य में पर्याप्त विवेचन किया गया है। दर्शन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में ग्रंथकर्ता श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने अनेकान्त को नमस्कार किया है।[44] अनेकान्त और स्याद्वाद को स्पष्ट करने के लिये प्राय: हाथी और अंधे मनुष्यों का प्रसिद्ध दृष्टान्त दिया जाता है। डॉ0 दरबारी लाल जैन ने इस तथ्य को एक भवन के चार दिशाओं से लिये गये चार फोटो के दृष्टान्त से समझाया है। चारों फोटो सत्य के एक एक अंश हैं सबको मिलाने पर ही पूरे भवन का बोध होगा।

जैन दर्शन के अनुसार यह संसार 6 द्रव्यों से मिलकर बना है। ये छः द्रव्य इस प्रकार हैं- जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इन छ: द्रव्यो का सत् (Existence) ही लक्षण है। अत: सप्तभंगी का पहला भंग है सत् अर्थात् अस्ति। जो सत् है वह दृष्टिभेद से असत् भी है। यद्यपि यह बात सुनने में विरोधी सी प्रतीत होती है, जो 'है' वह 'नही' कैसे हो सकता है ? वस्तु अपने मूल स्वभाव की अपेक्षा से तो सत् है और पर स्वभाव की अपेक्षा से असत् है। उदाहरण के लिये भारत भारतीयो के लिये स्वदेश है किन्तु इंग्लैंड वासियों के लिये स्वदेश नहीं है अत: भारत स्वदेश है और भारत स्वदेश नहीं है। भारतीयों की अपेक्षा से स्वदेश है तो विदेशियों की अपेक्षा से वह स्वदेश नहीं है। इसी प्रकार राम पुत्र भी है, पिता भी है, पति भी है, किन्तु दशरथ का पुत्र है, लव-कुश का पुत्र नहीं है। इस प्रकार एक ही वस्तु अपने स्वभाव की अपेक्षा से सत् है, तो पर स्वभाव की अपेक्षा से असत् है। अत: सप्तभंगी का दूसरा भंग है असत् अर्थात् नास्ति। कविवर भैया भगवतीदास ने इसी विषय पर एक पृथक रचना की है 'सप्तभंगी वाणी', उसमें स्पष्ट कहा है-

"अस्ति दरब को मूल स्वभाव। नास्ति परणम निपट निनाव।।
अथवा और दरब सो नाहिं। ताहि उपेक्षा नाम कहाहिं।।"

एक ही वस्तु में अस्ति और नास्ति दोनों लक्षण एक साथ रहते हैं एक का कथन करने पर दूसरे की उपेक्षा होती है।

तीसरा भंग है अस्ति नास्ति अर्थात् वस्तु है भी और नहीं भी है।

भैया भगवतीदास भी कहते हैं-

"अस्ति नास्ति गुण एकहि माहिं। दुहुगुण द्रवलच्छन ठहिराहिं।

अस्ति नास्ति विन दर्व न होय। नय साधे तैं भ्रम नहिं कोय।।''
क्योंकि एक शब्द एक समय में वस्तु के एक धर्म का ही कथन कर सकता है, एक से अधिक का नहीं। अत: वस्तु अवक्तव्य है, इस पकार चतुर्थ भंग है अवक्तव्य। भैया भगवतीदास ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की हैं-

''द्रव्य गुण वचननि कह्यो न जाय। वचन अगोचर वस्तु स्वभाव।।
जो कहुं एक अस्तिता सही। तौ दूजो नय लागै नही।।
जो कहुं नास्तिक गुणदोउ माहिं। तौ अस्तिकता कैंसे नाहिं।।
अस्ति नास्ति दोउ एकहि बेर। कही न जाय वचन को फेर।।
दुहुको एक विचार न होय। एक आगें इक पीछें जोय।।
कोउ गुण आगे पीछे नाहि। दोउ गुण एक समय के माहिं।।
तातैं वचन अगोचर दर्व। सातों नय भाखी ए सर्व।।''

अर्थात् वस्तु अस्ति नास्ति दोनों ही है किन्तु उसके एक ही लक्षण को एक समय में कहा जा सकता है, यदि अस्ति को कहते हैं तो नास्ति उपेक्षित हो जाता है और नास्ति कहते हैं तो अस्ति गुण उपेक्षित हो जाता है जबकि दोनों गुण वस्तु में एक साथ ही विद्यमान रहते हैं अत: वह वचनातीत है। इस प्रकार ये चार प्रमुख भंग है। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य। शेष तीन भंग प्रथम, द्वितीय, तृतीय को चतुर्थ भंग के साथ जोड़ देने से क्रमश: पंचम, षष्ठ और सप्तम भंग बन जाते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं स्यात् अस्नि अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

प्रथम चार भंग ही सप्तभंगी के मूल भंग हैं और प्राय: दार्शनिकों ने इन्हीं चार की विस्तृत व्याख्या की है। शेष तीन को विस्तार नहीं दिया। भैया भगवतीदास ने भी इन्हीं चार भंगों का कुछ विस्तृत वर्णन किया है शेष तीन के केवल नाम ही बताये हैं। सप्तभंगी नितान्त दार्शनिक क्षेत्र का विषय है।

सात भंगों का निर्देश आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में और आचार्य समन्तभद्र ने आप्त मीमांसा में भी किया है किन्तु सप्तभंगी का परिष्कृत स्वरूप प्रथमत: अकलंक देव ने ही किया है।

यद्यपि अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी दर्शन क्षेत्र के विषय हैं किन्तु व्यावहारिक जीवन में भी इनका अत्यधिक उपयोग है। मेरा ही दृष्टिकोण उचित है दूसरे का अनुचित, इसी से समस्त संघर्ष उद्भूत होते हैं।

'ही' एकान्तवाद का आग्रह है, मिथ्यात्व का गहन अंधकार है, तो 'भी' में अनेकान्तवाद है, सम्यक्त्व का आलोक जगमगा रहा है।

प्रत्येक वस्तु के विविध स्वभाव और पर्याय होते हैं, यह विचार करके मानव का दृष्टिकोण उदार और विशाल बनता है। यदि सभी मनुष्य इस दृष्टि को अपनाये तो संसार के समस्त विरोध और संघर्ष ही समाप्त हो जायें। भैया भगवतीदास ने भी अपनी रचना 'सप्तभंगीवाणी' के अन्त में यही संकेत किया है कि मिथ्याबुद्धि जीव ही इस दृष्टिकोण को नहीं अपनाते हैं। जो भी प्राणी इस सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार लेते हैं उनके सभी मिथ्या भ्रम दूर हो जाते हैं, संघर्ष समाप्त हो जाते हैं-

"नय नहिं लखै मिथ्याती जीव। तातैं भ्रामक रहै सदीव।
'भैया' जे नय जानहिं भेद। तिनके मिटहिं सकल भ्रमखेद।।"

प्रसिद्ध कवि 'दिनकर' ने कहा है- "जैन दर्शन केवल शारीरिक- अहिंसा तक ही सीमित नहीं, प्रत्युत वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है, यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन दर्शन का अनेकान्तवाद है।"[45]

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

सभी धर्म और दर्शन जीव का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति को मानते हैं और उसके लिये विभिन्न उपाय एवं साधनों का निरूपण करते है। जैन दर्शन मोक्ष प्राप्ति का साधन सम्यक् दर्शन ज्ञान और चरित्र की उपलब्धि को मानता है। जैन-धर्म में इनको रत्नत्रय और त्रिरत्न की उपाधि से विभूषित किया गया है। तत्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में ही इस तथ्य को स्वीकार किया गया है-

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।'

अर्थात् सम्यक् दर्शन ज्ञान और चरित्र की प्राप्ति ही मोक्ष का मार्ग है। भैया भगवतीदास ने रत्नत्रय और सम्यक्त्व पर पृथक ग्रंथ तो नहीं रचा किन्तु उन्होंने श्री नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रह का पद्यानुवाद किया है। द्रव्यसग्रह के तीसरे अधिकार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विस्तृत वर्णन है। कवि ने उसके अनुवाद के साथ कुछ भाव विस्तार भी किया है। द्रव्य संग्रह मे भी रत्नत्रय को मोक्ष का कारण कहा गया है। भैया भगवतीदास भी इसको मोक्ष का मार्ग बताते हुए कहते हैं-

"दर्शन सुज्ञान चारित्रमय, यह है परम स्वरूप मम।
कारण सु मोक्ष को आपु तै, चिद्विलास चिद्रूप क्रम।।"

इन तीनों से तात्पर्य क्या है ? जीवादि सात तत्वों की सच्ची श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन, इन तत्वों का सच्चा ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, और आत्मतत्व को प्राप्त करने का सम्यक्आचरण ही सम्यक्चारित्र कहलाता है। इस मार्ग पर आरूढ़ होने से ही जन्म मरण का दुख दूर हो निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है-

'तत्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्।'

अर्थात् तत्वों (सात) पर श्रद्धा करना ही सम्यक् दर्शन है। तत्व सात हैं- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनका सम्यक् ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है तथा तदनुरूप आचरण ही सम्यक् चारित्र है। द्रव्य संग्रह (अनुवाद) में भैया भगवतीदास ने सम्यक् दर्शन इस प्रकार बताया है-

''जीवादि पदार्थनि की जोंन सरधानरूप,
रुचि परतीति होय निज पर भास है।
ताको नाम सम्यक कहा है शुद्ध दरशन,
जाके सरधाने विपरीत बुद्धि नाश है।।
आत्म स्वरूप को सुध्यान ऐसे कहियतु,
जाके होत होत बहुगुण को निवास है।।
सम्यक दरस भये ज्ञानहु सम्यक होय,
इन्है आदि और सब सम्यक विलास है।।''

वस्तुतः जो इन सात तत्वों को भली प्रकार से जान लेता है, उसका ससार के प्रति दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो जाता है। जीव और अजीव का ज्ञान होने पर ही उसे ज्ञात हो जाता है कि जीव चेतन, अमूर्त, शुद्ध एवं निर्विकार होता है, शरीर आदि जिन्हें वह अपना समझता है वे तो वास्तव में पर पदार्थ हैं। आस्रव बंध तत्वो का ज्ञान होने पर वह जान लेता है कि किस प्रकार कर्मपरमाणुओं ने जीव को बंदी बना रखा है, मोक्ष तत्व जान लेने पर उसे ज्ञात हो जाता है कि जीव को इन कर्म-बंधनों से मुक्ति प्राप्त करनी है और यही उसका लक्ष्य है, संवर और निर्जरा तत्व उसे इसी लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। यही सम्यक् ज्ञान है। तब शरीर से उसका ममत्व घटने लगता है, इसको वह अपने से भिन्न पर-पदार्थ समझने लगता है, सांसारिक पदार्थ उसके लिए तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं यही सम्यक् दर्शन है और ऐसे व्यक्ति को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसके अनुरूप आचरण करना ही सम्यक् चारित्र हैं।

आत्मा का अपने स्वरूप में लीन होना सम्यक् दर्शन, आत्म स्वरूप का ज्ञान सम्यक् ज्ञान तथा आत्मा में लीनता ही सम्यक् चारित्र है। पं0 दौलतराम जी ने यही बात सुन्दर शब्दों में व्यक्त की है-

"पर द्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है;
आप रूप को जान पनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है।
आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यग्चारित्र सोई;
अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये, हेतु नियत को होई।।"[46]

आत्मा के विकारी भावों को दूर करने की दृष्टि रखकर हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और संचय के भावों का त्याग करना तथा लोक-व्यवहार में न्याय, सदाचार आदि का पूर्ण ध्यान रखना सम्यक् चारित्र कहलाता है।

सम्यक्त्व का अभाव ही मिथ्यात्व है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरंड श्रावकाचार में ऐसा ही कहा है। सम्यक् ज्ञान के अभाव मे जीव मिथ्याज्ञानी रहता है, वह संसार के दृश्य पदार्थों को ही सत्य जानता है, अपने को शरीर रूप ही मानता है, शरीर से भिन्न नहीं, यही मिथ्यादर्शन है, ऐसे ही जीव मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं और इसके अनुरूप आचरण-सांसारिक पदार्थों में आसक्त रहना ही मिथ्या चरित्र है। वस्तुतः मिथ्यात्व संसार का मूल है तो सम्यकत्व धर्म का। "सम्यक्त्व रूपी दृढ़ नींव के बिना चरित्र रूपी महल नहीं बन सकता, इसी कारण आचार्यों ने कहा है कि "सम्मं धम्मो मूलो"। सम्यक्त्व धर्म की जड है। इसके प्राप्त होते ही कुज्ञान सुज्ञान और कुचारित्र सुचारित्र हो जाता है। सम्यक्त्व होने से ही कर्तव्यकर्तव्य का ज्ञान होकर आत्महित के मार्ग में यथार्थ प्रवृत्ति होती है।" आचार्य कुंदकुंद ने धर्म का मूल सम्यग्दर्शन को ही कहा है।[47]

भैया भगवतीदास ने भी सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार किया है। सम्यक्त्व की महिमा तथा मिथ्यात्वी जीव की अवस्थाओं के वर्णन से उनकी लगभग समस्त रचनाए ओत प्रोत हैं उन्होंने अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र सम्यक् दर्शन ज्ञान और चारित्र की महिमा का गान किया है, उदाहरण के लिए निम्न छंद प्रस्तुत है-

"राग दोष अरु मोहि, नाहिं निजमाहिं निरक्खत।
दर्शन ज्ञान चारित्र, शुद्ध आत्म रस चक्खत।।
परद्रव्यनसों भिन्न, चिन्ह चेतनपद मंडित।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखंडित।।"[48]

भैया भगवतीदास मिथ्यादृष्टि की विशेषताएं बताते हुए कहते हैं कि वह अपने शुद्ध स्वभाव में तो रुचि रखता नही, शरीरादि परद्रव्यों में अनुरक्त रहता है-

"अपने शुद्ध स्वभाव सो, करै न कबहु प्रीत।
लगे फिरहिं पर द्रव्यसो, यह मूढन की रीत।।"[49]

यह जीव अनादि काल से इसी अज्ञानावस्था में भटक रहा है-

"पियो है अनादि को महा अज्ञान मोह मद,
ताही तैं न शुधि माही और पंथ लियो है।।
ज्ञान बिना व्याकुल है जहां तहां गिरयो परै,
नीच ऊंच ठौर को विचार नाहिं कियो है।।
बकिबो बिराने वश तनहु की सुधि नाहिं,
बूडै सब कूप माहिं सुन्नसान हियो है।।
ऐसे मोहमद में अज्ञानी जीव भूलि रहयो,
ज्ञान दृष्टि देखो भैया कहा ताको जियो है।।"[50]

मिथ्यामति जीव संसार में किस प्रकार लिप्त रहता है, आगे इसका वर्णन करते हुए भैया भगवतीदास कहते हैं-

"कोउ तो करै किलोल भामिनी सों रीझि रीझि,
बाहीसों सनेह करै कामराग अगमे।।
कोउ तो लहै अनंद लक्ष कोटि जोरि जोरि,
लक्ष लक्ष मान करै लच्छि की तरंगमें।।
कोउ महाशूरबीर कोटिक गुमान करै,
मो समान दूसरो ने देखो कोऊ जंगमे।।
कहै कहा 'भैया' कछु कहिवेकी बात नाहिं,
सब जग देखियतु रागरस रंगमें।।"

भैया भगवतीदास ने विभिन्न रूपक कथाओं के माध्यम से भी जीव की इसी मिथ्यात्व दशा का वर्णन किया है। चेतन कर्मचरित्र में कवि ने बताया है कि चेतन रूपी राजा अनादि काल से कुमति रानी के प्रभाव मे है, एक दिन उसकी दूसरी रानी सुमति उसे सचेत करती है तो रानी कुमति राजा चेतन से रुष्ट होकर अपने पिता राजा मोह के पास चली जाती है, तदनन्तर राजा चेतन तथा राजा मोह के बीच घोर युद्ध होता है और चेतनराज की विजय होती है।

इसी प्रकार शत अष्टोत्तरी में भी जीव रूपी राजा कुमति रूपी दासी के साथ बहुत समय से क्रीड़ा करता आ रहा है, रानी सुमति उसे भाँति-भाँति से सचेत करती है-

"दासीन के संग खेल खेलत अनादि बीते,
अजहुं लों वहै बुद्धि कौन चतुराई हैं।।
x x x
इनही की संगत सौ संकट अनेक सहे,
जानि बूझ भूल ऐसी सुधि गई है।।
आवत परेखो हंस! मोहि इन बातन को,
चेतना के नाथ को अचेतना क्यो भई है।।"

मधु बिन्दुक चौपाई में भैया भगवतीदास ने जीव के संसार में अत्यधिक लिप्त होने का बहुत ही सुन्दर रूपक बांधा है। संसार रूपी वन में भटकते हुए जीव काल रूपी गज से भयभीत होकर भागता हुआ एक विशाल वटवृक्ष की शाखा पकड़कर लटक जाता है। नीचे एक कूप है जिसमें से सर्प और अजगर फन फैलाए हुए उसके गिरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, उधर काल रूपी गज वृक्ष के तने को हिला रहा है। शाखा पर एक मधु का छत्ता लगा है, वृक्ष के हिलने से उसमें से मधु बिन्दु एक एक कर गिरते हैं, जिनके स्वाद मे जीव इतना लिप्त हो जाता है कि अन्य विपत्तियों की उपेक्षा कर देता है। ऊपर से रात दिन रूपी दो चूहे उस शाखा को काट रहे है किन्तु जीव फिर भी मग्न है। एक विद्याधर उधर से जाते हुए, इस जीव का उद्धार करने के लिए ठहर जाता है, उसे उबार लेना चाहता है किन्तु जीव बार बार यह कहकर 'बस एक बूद मधु और पा लूं' उसी में मग्न रहता है, विद्याधर चला जाता है-

"एक बूद छत्ता सो खिरै। सो अबके मेरे मुँह गिरै।।
ताको अब्हीं चख सखग। तब मैं चलु तुमारे सग।।
जब वह बूंद परी मुख माहि। तब दूजी पर मन ललचाहिं।।
अब यह जो आवेगी सही। तो चलहुं कुछ धोको नही।।
दूजी बूंद परी मुख जान। तब तीजी पर करी पिछान।।
x x x
विद्याधर दै हाक पुकार। निकलै नही चल्यो तब हार।।"
अज्ञानी जीव की यही दशा है-

"मधु की बूंद विषै सुख जान। जिंह सुख काज रह्यो हितमान।।
ज्यों नर त्यों विषयाश्रित जीव। इह विधि संकट सहै सदीव।।"

इसी प्रकार भैया जी ने सुआ बत्तीसी में जीव का सुए के रूप में भी रूपक बांधा है-

"यह संसार कर्मवन रूप। तामहि चेतन सुआ अनूप।।
पढ़त रहै गुरुवचन विशाल। तोहु न अपनी करे संभाल।।
लोभ नलिन पै बैठे जाय। विषय स्वाद रस लटके आय।।
पकरहि दुर्जन दुर्गति परै। तामे दुख बहुत जिय भरै।।"

जब तक जीव इस भ्रमपूर्ण अवस्था मे पड़ा हुआ है तब तक उसका उद्धार किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, कविवर भैया भगवतीदास के शब्दों में देखिये-

"मिथ्या भाव जोलों तोलों भ्रमसों न नातों टूटै,
मिथ्या भाव जौलों तौलों कर्म सों न छूटिये।।
मिथ्या भाव जोलों तौलों सम्यक न ज्ञान होय,
मिथ्या भाव जौलों तोलों अरि नाहिं कूटिये।।
मिथ्या भाव जौलों तौलों मोक्ष को अभाव रहै,
मिथ्या भाव जौलो तौलों परसंग जूटिये।।
मिथ्या को विनाश होत प्रगटै प्रकाश जोत,
सुधौ मोक्ष पंथ सुधैं नेकु न अहूटिये।।"[51]

इस मिथ्या दशा से जीव की मुक्ति के प्रयास हेतु ही कवि ने उसे भाँति भाँति से उपदेश दिये हैं। कही उसने शरीर की निकृष्टता की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया है तो कही उसकी नश्वरता की ओर, और कहीं जीव से शरीर की भिन्नता को समझाया है। प्रत्येक का एक एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

शरीर की निकृष्टता-

"सात धातु मिलन है महा दुर्गन्ध भरी,
तासों तुम प्रीत करी लहत अनंद हौ।।
नरक निगोद के सहाई जै करन पंच,
तिनही की सीख संचि चलत सुछंद हौं।।"

शरीर की नश्वरता-

"काहे को देह सों नेह करै तुअ, अंत को राखी रहैगी न तेरी।।
मेरी है मेरी कहा करै लच्छिसौं, काहुकी हैके कहुं रही नेरी।।"[52]

भैया भगवतीदास ने जीव से शरीर की भिन्नता का ज्ञान कराने के लिए बहुत ही उपयुक्त उपमान खोजे है वस्त्र और शरीर की भिन्नता के समान ही शरीर और आत्मा में भिन्नता है-

''लाल वस्त्र पहिरे सो देह तो न लाल होय,
लाल देह भये हंस लाल तौ न मानिये।।
वस्त्र के पुराने भये देह न पुरानी होय,
देह के पुराने जीव जीरन न मानिये।।
वसन के नाश भये देह को न नाश होय,
देह के न नाश हंस नाश न बखानिये।।
देह दर्ब पुद्गल की चिदानंद ज्ञानमयी,
दोऊ भिन्न भिन्न रूप 'भैया' उर आनिये।।''[53]

मनुष्य जीवन भर जिन साथी सम्बंधियों के लिए पाप कर्म करता है, उनमे से अन्त मे कोई साथ नही देता, अत: उनके लिए पाप गठरी बांधने से क्या लाभ ? भैया भगवतीदास के शब्दों मे देखिए-

''सग तेरे कौन चलै देख तु विचार हिये,
पुत्र के कलत्र धन धान्य यह काय रे।।
जाके काज पाप कर भरत है पिड निज,
ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जाय रे।।
तहा तौ अकेलो तूही पाप पुण्य साथी दोय,
तामे भलो होय सोई कीजै हसराय रे।।''[54]

अपने स्वरूप से अनभिज्ञ मानव लक्ष्यहीन इधर-उधर भटकता फिरता है, वह बाह्याडम्बरो मे ही धर्म मानता है, भैया भगवततीदास ने ऐसे जीवो को बार-बार सचेत किया है, यथा-

''केऊ फिरै कान फटा, केऊ शीस धरै जटा
केऊ लिए भस्म वटा भूले भटकत है।।
केऊ तज जाहि अटा, केऊ धरैं चेरी चटा,
केऊ पढै पट केऊ धूम गटकत हैं।।
केऊतन किए लटा, केऊ महा दीसैं कटा,
केऊ तरतटा केऊ रसा लटकत है।।
भ्रम भवतैं न हटा हिये काम, नाहि घटा,
विषै सुख रटा साथ हाथ पटकत है।।''[55]

सम्यक्त्व के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीव सच्चे और झूठे देव शास्त्र गुरु में अन्तर नहीं कर पाता और सच्चे देवों के भ्रम में कुदेवों की उपासना करता है। कविवर भैया भगवतीदास के शब्दों में देखिए-

"अपने स्वरूप को ना जानै आप चिदानन्द,
वहै भ्रम भूलि वहै मिथ्या नाम पावै है।।
देव गुरु ग्रंथ पंथ सांच को न जाने भेद,
जहां तहां झूठे देख मान शीस नावै है।।
x x x
सोई तो कुपंथ जो कुशीली पशु देव कहै,
सोई तो कुपंथ जो कुलिंगी पूजे डर से।।"[56]

भैया भगवतीदास ने कोरे पुस्तकीय ज्ञान को भी अनुपयोगी बताया है। ऐसे ज्ञान से क्या लाभ जिसे व्यवहारिक जीवन में ही नहीं अपनाया गया और न ही हृदय उसके अनुरूप हुआ, ऐसे ज्ञानी व्यक्ति की दशा तो उस करछी के समान है जो रस व्यजन से भरे पात्र में घुमाई जाती है किन्तु स्वयं तनिक सा भी रस नहीं ग्रहण कर पाती। द्रष्टव्य है प्रस्तुत छन्द,

"जोपै चारों वेद पढे रचिपचि रीझ रीझ,
पंडित की कला में प्रवीन तू कहायो है।।
धर्म व्यवहार ग्रन्थ ताहूके अनेक भेद,
ताके पढे निपुण प्रसिद्ध तोहि गायो है।।
आतमके तत्व को निमित्त कहू रंच पायो,
तोसों तोहि ग्रन्थनिमे ऐसे के बतायो है।।
जैसे रस व्यन्जनि में करछी फिरै सदीव,
मूढता सुभावसों न स्वाद कछु पायो है।।"[7]

इस प्रकार कविवर भैया भगवतीदास जीव को मिथ्यात्व त्यागने का अनेक प्रकार से उपदेश देते हैं। वे प्राणी को जिन वाणी (जिन्होंने अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है, उनके द्वारा दिया हुआ उपदेश) पर श्रद्धा रखकर सम्यक्त्व को अपनाने का संदेश देते हैं-

"मिथ्यामत नासवेको ज्ञानके प्रकाशवेको,
आपापर भासवेको भानसी बखानी है।।
छहों द्रव्य जानवेको बंध विधि मानवे को,
आपापर ठानवे को परम प्रमानी है।।

अनुभो बतायवेको जीव के जतायवे को,

काहु न सतायवे को भव्य उर आनी है।।

जहां तहां तारवे को पारके उतारवे को,

सुख विस्तारवे को यहै जिनवानी है।।''[58]

भैया भगवतीदास मानव को सम्यक् आचरण करने का संदेश देते हुए कहते हैं-

''पापपरिणाम त्याग हिसातैं निकसि भाग,

धर्म के पंथ लाग दयादान करते।।

श्रावक के व्रत पाल ग्रंथन के भेद पाल,

लगै दोष ताहि टाल अधनिको हरते।।

पंच महाव्रतधरि पंच हू समिति करि,

तीनहु गुपति वरि तेरह भेद चरते।।

कहै सर्वज्ञ देव चारित्र व्योहार भेव,

लहि ऐसा शीघ्रमेव बेग क्यों न तरते।।''[59]

जब जीव षट द्रव्य तथा सात तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो 'स्व' और 'पर' का अन्तर स्वत: ही मान लेता है और ऐसा होते ही मिथ्यात्व का अंधकार छंटने लगता है और सम्यक्त्व का प्रकाश विकीर्ण होने लगता है।

ससार से रागद्वेष छूटने लगता है और हृदय में शीतलता का प्रसार होने लगता है, ये ही जीव सम्यक् दृष्टि कहलाते हैं।

कविवर भैया भगवतीदास ने सम्यग्दृष्टि की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है-

''स्वरूप रिझवारे से, सुगुण मतवारे से,

सुधा के सुधारे से, सुप्राण दयावंत है।।

सुबुद्धि के अथाह से, सुरिद्धपातशाह से,

सुमनके सनाह से, महाबठे महंत है।।

सुध्यान के धरैया से, सुज्ञान के करैया से,

सुप्राण परखैया से शकती अनंत हैं।।

सवै संघनायक से सर्व बोललायक से,

सवै सुखदायक से सम्यक् के संत है।।''[60]

इस प्रकार भैया भगवतीदास ने अपनी रचनाओं में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व की विस्तृत व्याख्या की है। उन्होंने इन पर सैद्धान्तिक दृष्टि की

अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टि से ही अधिक विचार किया है।

उपादान निमित्त विचार

उपादान निमित्त विचारधारा नितान्त जैन दर्शन के क्षेत्र का विषय है। बहुत समय से यह विवाद चला आता रहा है कि उपादान और निमित्त इन दोनों में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है। उपादान दो शब्दों से मिलकर बना है उप-समीप और आदान-ग्रहण होना। अर्थात् जिस पदार्थ के समीप में से कार्य का ग्रहण हो वह उपादान है और उस समय जो परपदार्थ अनुकूल उपस्थित हों सो निमित्त है। भैया भगवतीदास ने इस विषय पर एक पृथक और विशिष्ट कृति की रचना की है 'उपादान निमित्त संवाद' जिसमें उपादान और निमित्त दो पात्रों के रूप में परस्पर वाद विवाद करते हैं, एक दूसरे के तर्कों का खंडन करते हैं। आत्मा की निज की शक्ति उपादान है और पर संयोग निमित्त है। डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल के अनुसार जो स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जो स्वयं कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके उसे निमित्त कारण कहते हैं। घट रूप कार्य का मिट्‌टी उपादान कारण है और चक्र, दड एवं कुम्हार निमित्त कारण है।' इन दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है; कविवर 'भैया' जी के शब्दों में-

"उपादान निज शक्ति है जिय को मूल स्वभाव।
है निमित्त परयोग तें बन्यो अनादि बनाव।।"

निमित्त का तर्क है कि सारा संसार इसी बात को जानता है कि गुरु उपदेश के बिना जीव, मोक्ष के मार्ग पर नहीं चल सकता है। देव, गुरु, शास्त्र अथवा जिनेन्द्र भगवान का निमित्त पाकर ही जीव इस भव सागर को पार कर पाता है-

"निमित्त कहैं मोको सवै जानत हैं सब लोय।
तेरो नाव न जानहीं, उपादान को होय।।
x x x
देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।
इहि निमित्त तें जीव सब, पावत हैं भव पार।।"

निमित्त के प्रथम तर्क का खंडन उपादान इस प्रकार करता है 'मोको जाने जीव वे जो हैं सम्यक्‌वान।' निमित्त को संसार जानता है किन्तु उपादान को विद्वान और सम्यग्ज्ञानी जीव जानते है। जैसे हीरे के पारखी केवल जौहरी

ही होते हैं और कोयले को सारा संसार जानता है किन्तु केवल इसलिए कोयला हीरे की अपेक्षा मूल्यवान नहीं हो जाता और उपादान निमित्त के दूसरे तर्क का भी निपुणता से खंडन कर देता है-

"यह निमित्त इह जीव को, मिल्यो अनन्ती बार।
उपादान पलट्यो नहीं, तौ भटक्यो संसार।।"

अर्थात् सच्चे ज्ञानी गुरु देव और शास्त्रों का समागम जीव को अनन्त बार हुआ किन्तु उसने अपने स्वरूप को नहीं समझा न ही विकसित किया अत: संसार मे भटकता रहा। इसीलिए उपादान की अपनी शक्ति ही प्रमुख है, यदि उसमें अपनी शक्ति है तब तो बाहय सयोगों से सहायता मिल सकती है, यदि निज की शक्ति ही नहीं है तब कितने ही निमित्त संयोगो के द्वारा भी कार्य नहीं हो सकता। किन्तु निमित्त भी तर्क में पर्याप्त निपुण है, कहता है कि भव्य जीवों को जो क्षायिक सम्यक्त्व (स्थायी रूप से सम्यक् ज्ञान जिसे एक बार प्राप्त कर लेने पर कभी न कभी मोक्ष प्राप्त अवश्य होगा) होता है वह केवल ज्ञानी अथवा साधु मुनि के सम्पर्क में ही होता है, अत: मुक्ति के लिए निमित्त आवश्यक सिद्ध हुआ।

"कै केवलि कै साधु कै, निकट भव्य जो होय,
सो क्षायक सम्यक् लहै, यह निमित्त बल जोय।।"

इतना कहते ही उपादान की सूक्ष्म दृष्टि निमित्त के तर्क की दुर्बलता को तत्काल ही पकड लेती है, वह कहता है कि भव्य (जो कभी न कभी माक्ष पायेगा) जीव हो तो वह क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण कर लेता है अर्थात् प्रत्येक सामान्य जीव इसे ग्रहण नहीं करता अत: यहाँ उपादान की निज की शक्ति तो स्वत: ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो गई कि जिनमें निज की शक्ति विद्यमान है वे ही केवली अथवा साधु के सम्पर्क में क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण कर पाते हैं-

"केवलि अरू मुनिराज के पास रहे बहु लोय।
पै जाको सुलट्यो धनी क्षायिक ताकों होय।।"

भगवान के समवसरण में इतने प्राणी जाते हैं किन्तु जिनका धनी अर्थात् आत्मा सुलटा हुआ है वही क्षायिक सम्यक्त्व को ग्रहण करता है अर्थात् ग्रहण करने वाला तो उपादान ही है। अब निमित्त अन्य प्रकार से तर्क उपस्थित करता है- कि मनुष्य शरीर के बिना जीव की मुक्ति नहीं होती, तब निमित्त की महत्ता है। किन्तु इस तर्क का भी खंडन कर दिया जाता है। मुक्ति तो

आत्मा की निज शक्ति के द्वारा ही होती है, शरीर तो और पिंजरे का कार्य करता है। निमित्त की महत्ता की जितनी भी सम्भावनाएं हैं, कवि उन सबको एक एक करके निमित्त के मुख से प्रस्तुत करवाता है और उपादान के द्वारा उनका खंडन। एक ही निमित्त से विभिन्न उपादान अपने-अपने स्वभावानुसार विभिन्न भाव ग्रहण करते हैं। मार्ग में एक मृत वेश्या को एक साधु, एक चोर, एक विषयी पुरुष तथा एक कुत्ते ने देखा। साधु ने सोचा कि इसने नरजन्म व्यर्थ गवां दिया। चोर ने सोचा कि एकान्त मिले तो इसके आभूषण उतार लूं। विषयी ने सोचा यदि ये जीवित होती तो मैं भोग भोगता और कुत्ते ने सोचा यदि ये सब चले जायें तो मैं इसके शरीर का भोजन करूं।[61] इस प्रकार निमित्त एक ही है किन्तु प्रत्येक उपादान अपने-अपने स्वतंत्र स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचते हैं। यदि निमित्त ही महत्वपूर्ण होता तो सबको एक ही प्रकार से सोचना चाहिए था।

निमित्त की ओर से एक प्रयास और होता है। यदि बाह्य संयोग का कोई महत्व नही तो सूर्य, चन्द्रमणि, अग्नि के प्रकाश में ही नेत्र क्यों देखते हैं, अंधकार में क्यों नहीं देखते?

"सूर सोम मणि अग्नि के, निमित्त लखैं ये नैन।
अधकार में कित गयो, उपादान दृग देन।।"

उपादान निमित्त के इस तर्क को भी अत्यंत कुशलता से खंडित कर देता है कहता है-

"सूर सोम मणि अग्नि जो, करै अनेक प्रकाश।
नैन शक्ति बिन ना लखै, अंधकार सम भास।।"

अर्थात् नेत्रों मे यदि देखने की शक्ति ही नहीं तो सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश भी किस काम का? क्या स्वयं की शक्ति के बिना वे देख सकते हैं? निमित्त की तर्कबुद्धि शिथिल होने लगती है अन्ततः वह निरुत्तर होकर परास्त हो जाता है और उपादान की महत्ता सिद्ध हो जाती है-

"तब निमित्त हारयो तहां, अब नहिं जो बसाय।
उपादान शिवलोक में, पहुच्यो कर्म खपाय।।"

इस प्रकार भैया भगवतीदास ने उपादान को सम्पूर्ण महत्ता प्रदान की है और निमित्त को नितान्त महत्वहीन सिद्ध कर दिया है। किन्तु इस विषय पर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। प्रायः अधिकतर विद्वानों ने निमित्त की महत्ता को

न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकार किया है। यद्यपि जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर ही, सब प्रकार से वीतराग होकर मोक्ष पद की प्राप्ति करता है किन्तु उसमें बाह्य निमित्त कारण भी कुछ महत्व रखते हैं।

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[62] अर्थात् परस्पर निमित्त होना यह जीवों का उपकार है। धर्म और अधर्म द्रव्य क्रमश: गति और स्थिति में निमित्त बनते हैं अवकाश देना आकाश का उपकार है। शरीर, मन वचन और श्वासोच्छवास ये पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं। इस प्रकार द्रव्य परस्पर निमित्त का कार्य करते हैं। संसार के साधारण कार्यों से लेकर मोक्षमार्ग के प्रशस्त कार्यों तक निमित्त कारण कार्य करते है। जैन न्याय के प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रमेय कमल मार्तड' में अनेक स्थानों पर कार्योत्पत्ति में कारण की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है। कारणों के व्यंजक कारण, अवलम्ब कारण, उपादान कारण, सहकारी कारण आदि उसी महाग्रंथ में स्पष्ट किये गये है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अमृत चन्द्र आचार्य ने कहा है कि जिस समय जीव रागद्वेष मोह भाव रूप परिणमन करता है, उस समय उन भावों का निमित्त पाकर पुद्‌गल द्रव्य आप ही कर्म अवस्था को धारण कर लेते है और जीव के रागद्वेषादिक भाव भी आप से ही नहीं होते हैं, जैसे-जैसे द्रव्य कर्म उदय में आते हैं वैसे-वैसे ही आत्मा विभाव भावरूप परिणमन करता है। अत: जीव पहले से बंधे कर्मों के निमित्त रागद्वेषादि भाव धारण करता है और जीव के रागद्वेषादि भावों का निमित्त पाकर पुद्‌गल कर्म शक्ति धारण करते हैं इस प्रकार निमित्त की महत्ता सिद्ध होती है। प्रसिद्ध जैन कवि पं0 दौलत राम जी ने अपनी एक स्तुति मे जीव के आत्म कल्याण मे निमित्त कारण के रूप में भगवान की वंदना की है-

''यह लखि निज दुख गद हरण काज,
तुम ही निमित्त कारण ईलाज।।
जाने तातैं मैं शरण आय,
उचरौं निज दुख जो चिर लहाय।।''[63]

कविवर भैया भगवतीदास से पूर्ववर्ती प्रसिद्ध जैन कवि पं0 बनारसीदास ने भी उपादान निमित्त सम्बंधी कुछ दोहों की रचना की है उन्होंने निमित्त की महत्ता को नगण्य माना है। कहते हैं सभी वस्तुएं स्वतंत्र हैं, अपने-अपने स्वभावानुसार कार्य करती हैं जैसे जहाज पानी में बिना पवन के स्वत: ही संतरण करता रहता है-

"सबै वस्तु असहाय जहां तहां निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में तिरै सहज बिन पौन।।"[64]

प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री कानजी स्वामी (सोनगढ़ निवासी) इसी विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं। उनके विचार से "उपादान निमित्त की स्वतंत्रता का निर्णय किए बिना कदापि सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। .... निमित्त मे कोई विशेषता है, कभी कभी निमित्त का असर होता है, कभी कभी निमित्त की मुख्यता से कार्य होता है, इस प्रकार की तमाम मान्यताएं अज्ञानमूलक हैं।"[65]

इस प्रकार इस क्षेत्र में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। भैया भगवतीदास ने भी निमित्त की महत्ता को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। उनके विचार से जीव अपने, केवल अपने पुरुषार्थ से ही परम पद की प्राप्ति कर सकता है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 भैया भगवतीदास, **अनादि बत्तीसिका**, छं0 स0 28
2. भैया भगवतीदास, **अनादि बत्तीसिका**, छं0 सं0 9
3. पं0 जुगलकिशोर मुख्तार, **सिद्धिसोपान**, पद्य 4
4 भैया भगवतीदास, **द्रव्य संग्रह**, मूल सहित कवित्त बंध, छं0 2
5 भैया भगवतीदास, **शत अष्ठोत्तरी**, छं0 सं0 85
6. भैया भगवतीदास, **द्रव्य संग्रह कवित्त बंध**, छं0 सं0 7
7. भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छं0 सं0 9
8. भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छं0 सं0 24
9. भैया भगवतीदास, **द्रव्य संग्रह कवित्त बंध**, छं0 सं0 17
10. भैया भगवतीदास, **अनादिबत्तीसिका**, छं0 सं0 7
11. भैया भगवतीदास, **द्रव्य संग्रह कवित्त बंध**, छं0 सं0 19
12. भैया भगवतीदास, **अनादिबत्तीसिका**, छं0 सं0 11,14
13 भैया भगवतीदास, **अनादिबत्तीसिका**, छं0 सं0 23, 24, 25, 26, 27
14. पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री, **जैन धर्म**, पृ0 सं0 94
15. गुरू गोपालदास वरैया, **जैन जॉगरफी**, गुरू गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृ0 सं0 243

16. भैया भगवतीदास, **लोकाकाश क्षेत्र परिमाण कथन**, छं0 सं0 2
17. आचार्य उमास्वाति, **तत्वार्थसूत्र**, अध्याय 3, श्लोक सं0 7, 8
18. यति वृषभाचार्य, **तिलोयपण्णति**, प्रथम भाग, अनुवादक पं0 बालचन्द शास्त्री, पृ0 सं0 22, 23
19. पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री, **जैन धर्म**, पृ0 सं0 226
20. डॉ0 बासुदेव सिंह, **अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद**, पृ0 सं0 163
21.

इनमें चार कोण, स्वर्ग, नरक, तिर्यंच और मनुष्य चार गतियों के प्रतीक है। उसके ऊपर तीन बिन्दु मोक्षमार्ग स्वरूप-सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र के प्रतीक हैं। अद्र्धचन्द्र मोक्ष या निर्वाण की कल्पना है।
द्रष्टव्य-डॉ0 जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल, **जैन शासन का ध्वज**, पृ0 स0 16

22. भैया भगवतीदास, **द्रव्य संग्रह कवित्त बंध**, छं0 स0 14
23 बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्

    त्वं शकरो सि भुवनत्रयशंकरत्वात्।

धातासि धीर! शिव मार्ग विधेर्विधानात्

    व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमो सि।।

- मानतुगाचार्य, **भक्तामर स्तोत्र**, 25 वा पद्य।

24 भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छंद सं0 12, 13
25 भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छंद सं0 35
26 डॉ0 प्रेम सागर जैन, **हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि**, पृ0 सं0 2
27 पं0 जुगल किशोर मुख्तार, **सिद्धिसोपान**, छद सं0 13, 14
28 भैया भगवतीदास, **जिनधर्म पचीसिका**, छंद सं0 21
29 जैन सिद्धान्त ने आत्मोत्थान, विकास या संसार अवस्था से मोक्ष तक

पहुँचने को चौदह श्रेणियों में विभक्त किया है, इनको गुणस्थान की संज्ञा दी है। -श्री रतनलाल जैन, **जैन धर्म**, पृ0 सं0 108,

30. ''जैन'' वह आत्मा है जो 'जयति' कर्मशत्रून् इति जिन:' के अनुसार कर्म शत्रुओं के जीतने वाले देव को या परमात्मा को अपना उपास्य या आराध्य माने।'' -श्री हीरा लाल पांडे, 'जैन धर्म और कर्म सिद्धान्त', **श्री तनसुख राय स्मृति ग्रंथ,** पृ0 सं0 374
31. प्रो0 महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य, **जैन दर्शन**, पृ0 सं0 171
32. पं0 चैनसुखदास न्यायतीर्थ, **'जैन धर्म का आत्म तत्व और कर्म सिद्धान्त'**, **महावीर जयन्ती स्मारिका**, अप्रैल 1964 पृ0 सं0 125 से उद्धृत।
33. पूरण-गलन धर्माण: पुद्गल: **जैन-लक्षणावली**, द्वितीय भाग, पृ0 सं0 712 से उद्धृत।

तथा

न्याय वैशेषिक जिस द्रव्य को भौतिक तत्व और वैज्ञानिक जिसे मैटर (Mater) कहते है।, उसी को जैन दर्शन में पुद्गल की संज्ञा दी गई है।'' - श्री प्रेमकुमार अग्रवाल, जैन एवं न्याय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त, **श्रमण**, नवम्बर 1972 पृ0 सं0 16 से उद्धृत।

34 भैया भगवतीदास, **ईश्वर निर्णय पचीसी**, छं0 सं0 23

35. आचार्य उमास्वाति, **तत्वार्थ सूत्र**, 6, 1, 2

36 'आत्मा और कर्मों का संयोग सम्बंध है इसे ही जैन परिभाषा में एक क्षेत्रावगाह सम्बध कहते हैं।

- पंडित चैन सुखदास न्यायतीर्थ, **'जैनधर्म का आत्म तत्व और कर्म सिद्धान्त'**, **महावीर जयन्ती स्मारिका**, अप्रैल 1964 ई।

37 भैया भगवतीदास, **पुण्यपचीसिका**, छं0 सं0 19

38. भैया भगवतीदास, **अक्षरबत्तीसिका**, छं0 सं0 13

39. भैया भगवतीदास, **रागादिनिर्णयाष्टक**, छं0 सं0 5, 6

40. भैया भगवतीदास, **बारह भावना**, छं0 सं0 9, 10

41 आचार्य उमास्वाति, **तत्वार्थ सूत्र**, 9, 2, 3

42. भैया भगवतीदास, **अष्टकर्म की चौपाई**, छं0 सं0 25

43. प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आईंसटीन का 20वी शताब्दी का महत्वपूर्ण आविष्कार, **सापेक्षवाद का सिद्धान्त** (Theory of Relativity)

44. परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यंध सिंधुर विधानं।
सफल नय विलसिताना विरोध मंथनं नमाम्यनेकान्तं।
अर्थात् मैं (अमृतचन्द आचार्य) उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ जो परमागम का बीज है जिसने जन्मांध व्यक्तियों के हाथी के एक अंश को पूर्ण हाथी मानने के भ्रम को दूर कर दिया है, तथा जो वस्तु निरूपण सम्बन्धी विरोधों को दूर करता है। -श्री अमृत चन्द्र आचार्य, **पुरुषार्थ सिद्धयुपाय**, छंद सं0 2।
45. कविवर दिनकर, अनेकान्त या अहिंसावाद, **आगमपथ**, निर्वाण रजतशती अंक, पृ0 सं0 6
46. पं0 दौलतराम-**छहढाला**, 3 सरी ढाल छंद सं0 2
47 'दंसण मूलो धम्मो, आचार्य कुन्दकुन्द, **दंसणपाहुड़ गाथा**, 2
48. भैया भगवतीदास, **जिनधर्म पचीसिका**, छं0 सं0 14
49. भैया भगवतीदास, **मूढाष्टक**, छद सं0 2
50 भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छंद सं0 38
51. भैया भगवतीदास, **मिथ्यात्व विध्वंसन चतुर्दशी**, छंद स0 12
52 भैया भगवतीदास, **शत अष्टोत्तरी**, छद सं0 46, 90
53. भैया भगवतीदास, **चतुर्दशी**, छंद सं0 10
54 भैया भगवतीदास, **पुण्य पाप जग मूल पचीसी**, छद स0 9
55. भैया भगवतीदास, **सुबुद्धि चौबीसी**, छंद सं0 10
56. भैया भगवतीदास, **सुपंथ कुपंथ पचीसिका**, छद सं0 5, 21
57. भैया भगवतीदास, **पुण्य पचीसिका**, छद सं0 23
58 भैया भगवतीदास, **अनित्य पचीसिका**, छद सं0 3
59 भैया भगवतीदास, **द्रव्य संग्रह मूल सहित कवित्त बंध**, छंद स0 45
60. भैया भगवतीदास, **पुण्य पचीसिका**, छंद सं0 10
61 भैया भगवतीदास, **उपादान-निमित्त-संवाद**, छं0 सं0 61
62 आचार्य उमास्वाति, **तत्वार्थसूत्र**, 5, 21
63 पं0 दौलतराम, **स्तुति, जैन पूजा संग्रह**, पृ0 सं0 310 से उद्धृत।
64 कविवर बनारसीदास, **उपादान निमित्त दोहा**, मूल में भूल, पृ0 स0 124 से उद्धृत
65 श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, **मूल में भूल**, पृ0 सं0 115, 133

अध्याय - 7

मूल्यांकन एवं प्रदेय

भैया भगवतीदास के काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय स्पष्ट हो गया है कि वे एक आध्यात्मिक संत और भक्त कवि थे। उनके अंतर से ज्ञान, भक्ति और काव्य की समन्वित एवं पृथुल धारा प्रवाहित होती रही। वस्तुत: ज्ञान और भक्ति में पारस्परिक विरोध नहीं है। ''जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होता है तो वह अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुरूप या तो श्रद्धा के माध्यम से आत्मा को पाता है या विवेक के। इस तरह अध्यात्म के ही दो रूप हो जाते हैं: एक भक्ति का और दूसरा ज्ञान का। श्रद्धा-भक्ति मानव के विकास मार्ग की पहली मंजिल है। ज्ञान दूसरी, और विवेकपूर्ण आचरण तीसरी मंजिल है। श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के समन्वय का ही नाम सर्व-अर्थ-सिद्धि है और यही मोक्ष है।''[1] ज्ञान के भार से भक्त का हृदय और अधिक विनम्र हो जाता है तथा भक्ति ज्ञान को सरसता एवं माधुर्य प्रदान करती है। भैया भगवतीदास के काव्य मे ज्ञान और भक्ति दोनों का ही सुन्दर समन्वय है। उन्होंने भगवान के चरणो में नमन करने के पश्चात् ही प्रत्येक रचना का आरम्भ किया है किन्तु उनकी भक्ति कोरी अन्धश्रद्धा नहीं थी, उसकी पृष्ठभूमि मे पुष्ट जीवनदर्शन है। वे जानते हैं कि-

''मैं ही सिद्ध परमातमा, मैं ही आतम राम।।
मैं ही ज्ञाता ज्ञेय का चेतन मेरो नाम।।''[2]

प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है, तब दोनों में अन्तर क्या है वे स्वयं बताते है-

''ईश्वर सो ही आत्मा, जाति एक है तंत।।
कर्म रहित ईश्वर भये, कर्मरहित जगजंत।।''[3]

आत्मा और परमात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं है, सांसारिक जीव कर्म-मल से युक्त होते हैं तथा कर्म-मल से विमुक्त होकर ये ही परमात्मा बन जाते हैं, किन्तु इस वास्तविकता को मनुष्य दृष्टिभ्रम के कारण देख भी नहीं पाता-

"जो परमातम सिद्ध मैं, सो ही या तन माहिं।
मोह मैल दृग लगि रह्यो तातैं सूझे नाहिं।।"[4]

मोहरूपी मल के कारण ही उसकी दृष्टि में विकार आता है और यह मोह ही समस्त कर्म-बंधन का मूल है-

"कर्मन की जर राग है, राग जरे जर जाय।
प्रगट होत परमातमा, भैया सुगम उपाय।।"[5]

इस प्रकार मानव जीवन का ध्येय कर्म-बंधन से मुक्ति प्राप्त करना ही है। कर्म के बंधन ढीले होते ही जीव का ब्रह्मत्व प्रकट होने लगता है किन्तु राग-द्वेष से मुक्त होना कोई सरल कार्य नहीं, यह तो अत्यन्त कठिन साधना के पश्चात् ही सम्भव है, अतः जैन धर्म मे कठिन पुरुषार्थ का ही महत्व है, वहाँ अवतारवाद को कोई मान्यता नही दी गई। अन्य धर्मों के समान वहाँ ईश्वर को सृष्टि का कर्ता अथवा नियामक नहीं माना जाता, न वह किसी को सुख देता है, न किसी को दु:ख, जो स्वय वीतराग है वह किसी को सुख, किसी को दु:ख, क्योंकर देगा। ऐसी स्थिति में भक्त को भगवान की उपासना से क्या लाभ है? भैया भगवतीदास कहते हैं-

"ज्यों दीपक सयोग तैं, बत्ती करै उदोत।।
त्यों ध्यावत परमातमा, जिय परमातम होत।।"[6]

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित दीपक के सम्पर्क से बुझी हुई वर्तिका जल उठती है उसी प्रकार भगवान के अनुपम गुणो का ध्यान करने से भक्त के हृदय मे वैसा ही बनने की लौ-लग जाती है, उसके परिणाम शुद्ध होने लगते हैं और कर्म-मल स्वय ही छूटने लगते हैं। अत: भैया भगवतीदास के काव्य मे अध्यात्ममूला भक्ति का उत्कर्ष है।

भैया भगवतीदास ने काव्य का सृजन स्वान्त: सुखाय किया था, किन्तु पर्वतों के वक्षस्थल फोडकर जो निर्झर स्वत: ही फूट पडते है, वे जन जन को तृप्त करते हैं। उन्होने स्व-आत्मा को नाम दिया है 'चेतन' और उसकी प्रबोधना ही उनके काव्य का अभीष्ट है। विभिन्न रूपको आदि के माध्यम से वे उसको संसार की क्षणभंगुरता एवं निस्सारता, शरीर की निकृष्टता, मनुष्य जन्म की दुर्लभता आदि से परिचित कराना तथा संसार से विरक्त करना चाहते है। अत: उनके काव्य में नव रसो मे शान्त रस, और भक्ति के क्षेत्र में शान्ता भक्ति की धारा प्रवाहित हो रही है। जैन धर्म में ईश्वर में कर्तृत्व शक्ति का

आरोप नहीं किया गया है, अतः उससे किसी भी प्रकार की याचना करना निरर्थक है, फिर भी जैन भक्त दीन बनकर ईश्वर से कुछ न कुछ मांग ही बैठता है। और कुछ नहीं तो भक्ति और मुक्ति की ही याचना करता है जैसे कविवर द्यानतराय का प्रस्तुत पद-

''मेरी बेर कहा ढील करी जी।

सूली सो सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी।।''[7]

किन्तु भैया भगवतीदास के काव्य में इस प्रकार के दैन्य भरे याचना के स्वर कहीं सुनाई नहीं पड़ते। वे चेतन को भगवद् भक्ति के लाभ बताकर भाँति-भाँति से समझाते तो हैं किन्तु ईश्वर से कुछ नहीं मांगते। अतः हम कह सकते हैं कि उनकी भक्ति भावना जैन-धर्म के सिद्धान्तों के अनुकूल है।

भैया भगवतीदास के काव्य में शान्त रस प्रमुख है। वीर, वीभत्स और अद्‌भुत जैसे विपरीत प्रकृति के रसों का शांत रस के सहायक रूप में आना भी महत्व की बात है। भैया भगवतीदास की रचनाएं काव्य के दोनों रूपों- प्रबंध तथा मुक्तक में मिलती हैं। उन्होंने अध्यात्म जैसे गम्भीर विषय को अत्यन्त कुशलता से प्रबन्धात्मकता प्रदान कर सरस और सरल बना दिया है। चेतनकर्म-चरित्र तथा मधुबिन्दुक चौपाई खंडकाव्य उनकी प्रबन्धपटुता के सुन्दर उदाहरण हैं। उनके प्रत्येक छंद का स्वतंत्र रूप में भी पूर्ण रसास्वादन किया जा सकता है। शेष सब कृतियाँ आध्यात्मिक भावों तथा सैद्धान्तिक विवेचन से भरपूर है, अतः उन्हें छोटे और लम्बे मुक्तकों की कोटि में रखा जा सकता है। उपमा, रूपक, सांगरूपक, अन्योक्ति, दृष्टान्त, विरोधाभास आदि अर्थालंकारो तथा अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकारों का सौंदर्य यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। चेतनकर्म-चरित्र जैसे विस्तृत सांगरूपक हिन्दी साहित्य में विरल है। पद्यों को भावो के अनुकूल विविध छंदों में बद्ध करना अत्यंत समर्थ कवि के वश की ही बात है। दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, दुर्मिल सवैया, छप्पय, कुंडलिया, अनंगशेखर आदि उनके प्रिय छंद है। कवित्तों पर उनका विशेष अधिकार था। लय एवं संगीतात्मकता से युक्त होकर उनके भावपूर्ण पद्य अपनी निराली छटा विकीर्ण कर रहे हैं। अलंकार तथा छंद उनके काव्य में सप्रयास नहीं अपितु सहज स्वाभाविक रूप में आये हैं। उनकी भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुणों से युक्त है। अतः उनके काव्य के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों ही पक्ष अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

भैया भगवतीदास के काव्य का सांगोपांग अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के पश्चात् विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान एवं महत्व पर विचार करना उचित होगा, ये निम्नलिखित हैं- (1) धार्मिक, (2) सामाजिक, (3) सांस्कृतिक, (4) साहित्यिक।

धार्मिक-

भैया भगवतीदास जैन धर्मावलम्बी थे, उन्हें सस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राकृत में जैन साहित्य की समृद्ध परम्परा पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी, जिसमें अधिकतर जैन-धर्म के सिद्धान्तों का गूढ विवेचन उपलब्ध था। स्पष्ट है कि धर्म का सैद्धन्तिक विवेचन वह भी दूसरी भाषाओं में, सामान्य जनता को बोधगम्य नही हो पाता और न ही वह उसे आकृष्ट कर पाता है। ऐसी स्थिति मे जनमानस धर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ ही रह जाता है तथा उसमे अनेक विकृतियां व्याप्त होने लगती हैं। ऐसे समय मे आवश्यकता इस बात की होती है कि कोई उन्हें धर्म का सच्चा स्वरूप सीधे सरल और रोचक ढंग से उनकी अपनी भाषा मे बताये। भैया भगवतीदास ने यही किया है। उनके पूर्ववर्ती जैन कवि बनारसीदास, प0 हीरानन्द आदि ने भी ऐसा प्रयास किया था। कविवर बनारसीदास ने समयसार नाटक के रूप में कर्म-सिद्धान्त का सरल और सरस स्पष्टीकरण किया है। पं0 हीरानन्द ने कुंदकुंदाचार्य कृत पचास्तिकाय का प्राकृत से सरल हिन्दी मे पद्यानुवाद किया। भैया भगवतीदास ने इस परम्परा को अग्रसर किया। उन्होंने आचार्य नेमिचन्द्रकृत द्रव्य-सग्रह का प्राकृत से हिन्दी में पद्यानुवाद किया, जिसमे सृष्टि निर्माण के षट-द्रव्य, कर्मसिद्धान्त के सात तत्व तथा मोक्ष मार्ग स्वरूप रत्नत्रय का वर्णन किया गया है। इस प्रकार जैन धर्म के गूढ एव आधारभूत सिद्धान्तो को उन्होंने सीधी सरल हिन्दी मे जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त धर्म के सिद्धान्तों को उन्होने व्यावहारिक रूप प्रदान किया। सामान्य जनता के लिए धर्म का सैद्धान्तिक विवेचन उतना महत्व नहीं रखता जितना उसका व्यावहारिक रूप। उन छ: द्रव्यों का अनादि अस्तित्व, जिनसे सृष्टि का निर्माण हुआ है, अस्तित्व के तीन लक्षण,- ध्रौव्य, व्यय, उत्पत्ति तथा ईश्वर के अकर्तृत्व को वे अत्यंत सरल भाषा में हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत करते हैं-

''छहों सु द्रव्य अनादि के, जगत माहि जयवंत।
को किस ही कर्ता नहीं, यों भाखै भगवंत।।

अपने अपने सहज सब, उपजत विनशत वस्त।

है अनादि को जगत यह, इहि परकार समस्त।।"[8]

कर्म-बंधन में बंदी आत्मा की दशा को वे अत्यधिक आकर्षक ढंग से दो ही पंक्तियों में प्रकट कर देते हैं-

"ये ही आठों कर्ममल, इनमें गर्भित हंस।

इनकी शक्ति विनाश के, प्रगट करहि निजवंस।।"[9]

इसके अतिरिक्त धर्म की कठिन साधना को उन्होने कथा कहानी का रूप देकर आकर्षक रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जिस प्रकार औषधि की कटुतिक्त गोलियों को चीनी से आवेष्टित कर दिया जाता है, जिससे ग्रहण करने वाले को उसकी कटुता का जरा भी आभास नही हो पाता। उसी प्रकार चेतनजीव के द्वारा ज्ञान विवेक संयम आदि की सहायता से मोह, अज्ञान, लोभ, क्रोध आदि पर विजय चेतन-कर्म-चरित्र में, काल की भयानकता तथा जीव की असहाय अवस्था मधु-बिन्दुक चौपाई में, इन्द्रियों की लोलुपता पंचेन्द्रिय सवाद के रूप मे प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार भैया भगवतीदास ने अध्यात्म के नीरस और शुष्क सैद्धान्तिक विवेचन को सरस रूप प्रदान किया।

सामाजिक-

तत्कालीन परिस्थितियो का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि तत्कालीन समाज विभिन्न प्रकार के अध-विश्वासो तथा विकृतियों से ग्रस्त था। आचरण के कोई मापदंड न थे, अनैतिकता का बोलबाला था, धर्म के नाम पर बाह्य आडम्बर ही शेष रह गये थे। ऐसे समय में भैया भगवतीदास ने जन-समाज के सम्मुख धर्म का वास्तविक स्वरुप रखने का प्रयास किया। उन्होने अपनी समस्त रचनाओं में जीव को मिथ्याबुद्धि का त्याग करके आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होने का संदेश दिया है।

उदाहरणार्थ एक कवित्त प्रस्तुत है-

"नरदेह पाये कहा पंडित कहाये कहा,

तीरथ के नहाये कहा तीर तो न जैहै रे।

लच्छि के कमाये कहा अच्छ के अघाये कहा,

छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहै रे।

केश के मुंडाये कहा, भेष के बनाये कहा,

जोबन के आये कहा, जराहू न खैहै रे।

भ्रम को विलास कहा, दुर्जन में वास कहा,
आतम प्रकाश विन पीछे पछतैहै रे।।''[10]

इस प्रकार उन्होंने समाज को धर्म के बाह्य नहीं अपितु आन्तरिक पक्ष से अवगत कराने का प्रयास किया।

सांस्कृतिक-

औरंगजैब का शासनकाल सामान्य हिन्दू जनता के लिये विपत्तिकाल था। उसकी धर्मान्धता, भेदभावपूर्ण नीति, हिन्दू धर्म के प्रति विद्वेष, मंदिरों तथा मूर्तियों का भंजन, दारुण व्यथा के विषय थे। हिन्दू के लिये हिन्दू होना ही अपराध था। ऐसी नैराश्य की स्थिति में एक ओर तो भक्तिकाल के भक्त कवियों की वाणी की गूंज उनके हृदय को ईश्वर के प्रति आस्था से अनुप्राणित कर रही थी तथा दूसरी ओर जैन भक्त कवि कर्म-सिद्धान्त का संदेश देकर उनमें सन्तोष सुधा की वर्षा कर रहे थे। यही कारण है कि इतने भीषण आघातों को सहकर भी हमारी संस्कृति का विशाल भवन सुदृढ़ बना रहा। इसके अतिरिक्त मुस्लिम संस्कृति का विलासिता का तत्व जन जन में व्यापत हो गया था। अपने शासकों तथा सामन्तो के अनुकरण पर जनमानस कनक, कामिनी और कादम्ब में व्यस्त था, कामिनी के एक कटाक्ष पर अथवा कादम्ब के एक प्याले पर सब कुछ न्यौछावर कर देने की होड़ लगी हुई थी, ऐसी स्थिति मे शरीर के स्थूल सौंदर्य की उपेक्षा, देह की निकृष्टता, संसार की असारता एव अनित्यता का संदेश देकर भैया भगवतीदास जैसे आध्यात्मिक कवि चंचल जनमानस पर अंकुश लगाने का कार्य कर रहे थे। विलासिता तथा शृगार की उस आँधी में भी हमारी अध्यात्म प्रधान संस्कृति का वट-वृक्ष धराशायी नहीं हो गया इसका श्रेय इन्हीं कवियों को है जो शान्त रस की धारा से उसकी जडों का सिंचन कर रहे थे।

साहित्यिक-

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तीन वर्गों में विभाजित किया है। रीति सिद्ध कवि, रीतिबद्ध कवि तथा रीति-मुक्त कवि।[11] इस दृष्टि से भैया भगवतीदास का स्थान रीतिमुक्त कवियों मे निर्धारित होता है क्योंकि उन्होंने न तो संस्कृत के लक्षण-ग्रंथ लिखने की परम्परा को अपनाया और न ही वे उनसे प्रभावित थे। अलंकार आदि उनके काव्य में सहज स्वाभाविक रूप में आये हैं। वे भावाभिव्यक्ति के साधन ही

बने रहे, साध्य नहीं बने। चित्रकाव्य तथा कुछ अन्य चमत्कारपूर्ण शैलियों के रूप में उन पर उस युग का जो प्रभाव दृष्टिगत होता है वह नगण्य है। श्रृंगार रस की जो सरिता उस युग में प्रवाहित हो रही थी और अधिकांश कवि जिसमें आकंठ-मग्न हो रहे थे वह उनका स्पर्श भी न पा सकी अत: वे रीतिकाल में रहते हुए भी रीतिमुक्त कवि थे। किन्तु केवल रीतिमुक्त कवि कहने से उनकी प्रमुख विशेषताएं अप्रकाशित ही रह जाती हैं। रीति मुक्त कवि तो घनानंद भी थे, ठाकुर भी थे, बोधा भी थे किन्तु क्या भैया भगवतीदास को भी उसी कोटि में रखा जा सकता है? ऐसा करने पर उनके प्रति पूर्ण न्याय नहीं हो सकता। वस्तुत: आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले नवीन लेखक 'रीतिकाल के भक्त एवं संत कवियों' का एक पृथक वर्ग बनायें जिनमें 'ब्रह्म में विलास कराने वाले काव्य' के रचयिताओं को स्थान दिया जाये, तभी भैया भगवतीदास जैसे आध्यात्मिक कवियों को हिन्दी साहित्य में उचित स्थान तथा सम्मान प्राप्त हो सकेगा।

सभी तथ्यो को दृष्टि में रखते हुए हम नि:सकोच कह सकते हैं कि भैया भगतवीदास रीतिकालीन रीतिमुक्त कवि ही नहीं अपितु एक आध्यात्मिक संत एव भक्त कवि थे, जिनके काव्य में ज्ञान और भक्ति की धारा साथ-साथ प्रवाहित हो रही है। साथ ही वे एक उच्च कोटि के कवि भी थे। अत: हिन्दी साहित्य की भूमि को शान्त-रस की काव्य-धारा से सिंचित करने में भैया भगवतीदास का महत्वपूर्ण स्थान है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. लक्ष्मीचन्द्र जैन, **अध्यात्म-पदावली** (सं0 डॉ0 राजकुमार जैन) के आमुख पृ0 सं0 11 से उद्धृत।
2. भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छं0सं0 12
3. भैया भगवतीदास, **ईश्वर निर्णय पचीसिका**, छं0सं0 23
4. भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छं0सं0 9
5. भैया भगवतीदास, **परमात्म छत्तीसी**, छं0सं0 18
6. भैया भगवतीदास, **जिनधर्मपचीसिका**, छं0सं0 26

7. सम्पादक डॉ0 राजकुमार जैन, **अध्यात्म पदावली**, पृ0 सं0 295 से उद्धृत।
8. भैया भगवतीदास, **अनादि बत्तीसिका**, छं0सं0 2, 26
9. भैया भगवतीदास, **अष्टकर्म की चौपाई**, छं0स0 25
10. भैया भगवतीदास, **अनित्य पचीसिका**, छं0सं0 9
11. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, **हिन्दी साहित्य का अतीत** (2), शृंगारकाल, विभाजन तथा सीमा के अन्तर्गत।

परिशिष्ट

ग्रथ में व्यवहृत जैनधर्म की पारिभाषिक शब्दावली

1. **अकृत्रिम चैत्य एवं चैत्यालय**- अकृत्रिम अनादि अनिधन देव प्रतिमाएं तथा देव मंदिर।
2 **अधातिया कर्म**- अष्टकर्मों में से चार कर्मो- आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय का समूह। ये कर्म आत्मा के स्वरूप का किंचित घात करते हैं।
3. **अढ़ाई द्वीप**- मध्य लोक में जम्बूद्वीप, धातकी खंड द्वीप तथा अर्द्ध पुष्कर द्वीप पर्यन्त अढ़ाई द्वीप कहलाता है। इसमें ही मनुष्य की गति है इससे बाहर नहीं है इसीलिए इसे मनुष्य लोक भी कहते हैं।
4. **अणुव्रत**- गृहस्थ क लिए हिसा, असत्य, स्तय (चारी) अब्रह्मचय तथा परिग्रह इन पाँच पापों का यथासम्भव त्याग अणुव्रत कहलाता है तथा इनका पूर्णत: त्याग ही महाव्रत कहलाता है।
5 **अनन्त चतुष्टय**- अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य- ये चार गुण केवली अरहंत भगवान के प्रकट होते हैं।
6 **अनायतन**- (षट अनायतन)- मिथ्यादर्शन आदि के आधार अनायतन हैं जो छ: माने गये हैं- कुदेव, कुगुरू, कुधर्म तथा इन तीनों के सेवक।
7. **अन्तराय**- विघ्न। मुनि के आहार सम्बन्धी विघ्न जिनके घटित होने पर मुनि आहार ग्रहण नहीं करते।
8. **अनुप्रेक्षा**- वैराग्यभाव लाने के लिये जिन भावनाओं का बार-बार चिन्तन किया जाये उन्हीं 12 भावनाओं को अनुप्रेक्षाएं कहते हैं, वे इस प्रकार हैं: 1. अनित्य, 2. अशरण, 3. संसार, 4. एकत्व, 5. अन्यत्व, 6. अशुचि, 7. आस्रव, 8. संवर, 9. निर्जरा, 10. लोक, 11. बोधिदुर्लभ, 12. धर्म।
9 **अभव्य**- जिन जीवों में संसार से मुक्त होने की योग्यता नहीं होती वे जीव अभव्य कहलाते हैं।
10. **अरहंत**- परमेष्ठी के पाँच भेदों में से एक भेद। चार घातिया कर्मरूपी अरि को नष्ट करने के कारण ये अरिहंत अथवा अरहंत कहलाते हैं। ये ही सकल परमात्मा हैं।

11 **अष्टकर्म**- देखिये कर्म।

12 **अष्ट प्रातिहार्य**- देखिये प्रातिहार्य।

13 **अलोकाकाश**- जैन भूगोल के अनुसार आकाश द्रव्य के दो भेद हैं- लोकाकाश तथा अलोकाकाश। सर्वव्यापी अलोकाकाश के मध्य मे लोकाकाश स्थित है। उसके चारों ओर सर्वव्यापी अनन्त अलोककाश है। इसमें केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है।

14. **अस्तेय**- चोरी का त्याग।

15. **आकाश**- सृष्टि के आधारभृत छ: द्रव्यों में से एक द्रव्य जो समस्त द्रव्यों को स्थान देता है। इसके दो भाग हैं लोकाकाश तथा अलोकाकाश।

16 **आस्रव**- कर्मो का आना आस्रव है। कर्म सिद्धात से सम्बन्धित सात तत्वो में से एक भेद, देखिये तत्व।

17 **ईर्या**- मुनियों की पाँच समितियों मे से एक समिति- जीव दया के लिये चार हाथ आगे दखकर चलना ईर्या समिति है।

18 **उत्पाद**- द्रव्य के तीन लक्षणों मे से एक लक्षण उत्पत्तिशीलता।

19 **उपशम**- सम्यग्दर्शन के तीन भेदो में से एक भेद।

20 **उपशम श्रेणी**- अष्टम, नवम्, दशम्, एकादश गुणस्थानो की एक श्रेणी।

21. **ऊर्ध्व गति**- जीव ऊर्ध्वगामी होता है। मृत्यु के पश्चात यदि कर्मबंधन उसे न रोके तो वह लोक के अग्रभाग मे पहुँच कर स्थित हो जाता है। अर्थात मुक्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

22 **ऐलक**- ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक जो एक वस्त्र, लंगोटी मात्र धारण करते हैं।

23 **ओम्**- पाँच परमेष्ठी नाम मंत्र। पाचो परमेष्ठी के प्रथम अक्षर के योग से निर्मित, यथा-
अरहंत का अ,
सिद्ध (अशरीर) अ, आचार्य आ,
उपाध्याय उ, साधु (मुनि) म्,
अ + अ + आ + उ + म् = ओम्

24. **कर्म**- कर्मवर्गणा रूप पुद्गल के स्कंध, जीव के रागद्वेषादिक परिणामों के निमित्त से जीव के साथ बंध जाते हैं। बंधने से पहले ये कर्म-वर्गणा कहलाते हैं। कर्म के मूल भेद आठ हैं- 1. ज्ञानावरण, 2 दर्शनावरण, 3. मोहनीय, 4 अन्तराय, 5 आयु, 6. नाम, 7. गोत्र,

8. वेदनीय। प्रथम चार समूह का घातिया कर्म तथा अन्तिम चार का समूह अघातिया कर्म कहलाता है।

25. **कषाय**- क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव, जिनके कारण संसारी जीवों के कर्मों का बंधन होता है।

26. **काललब्धि**- किसी कर्म के उदय होने के समय की प्राप्ति।

27. **केवलज्ञान**- (कैवल्य)- पूर्ण ज्ञान।

28. **केवली**- सर्वज्ञ वीतराग अरंहत परमात्मा।

29. **क्षपक**- अष्टम, नवम्, दशम् तथा द्वादश गुणस्थान की एक श्रेणी। क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले मुनि 11वें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते।

30 **क्षायिक**- सम्यग्दर्शन का एक भेद।

31 **क्षायिक सम्यग्दृष्टि**- क्षायिक सम्यक्त्व को धारण करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

32 **क्षायोपशमिक**- सम्यग्दर्शन का एक भेद, इसे ही वेदक कहते हैं।

33. **क्षुल्लक**- ग्यारह प्रतिमाधारी उद्दिष्ट भोजन का त्यागी श्रावक, जो एक लंगोटी तथा एक अन्य वस्त्र (चादर) धारण करता है।

34. **गति**- इस संसार मे जीव चार गतियों-नरक, तिर्यंच, देव तथा मनुष्य में भ्रमण करता रहता है।

35 **गुण**- अष्ट गुण जो सिद्धों के प्रकट होते है- 1. क्षायिक सम्यक्त्व, 2. अनन्तदर्शन, 3 अनन्तज्ञान, 4 अनन्तवीर्य, 5. सूक्ष्मत्व, 6. अवगाहनत्व, 7 अगुरुलघुत्व, 8. अव्याबाधत्व।
मुनि के लिये 28 मूल गुण आवश्यक है- जो इस प्रकार हैं- 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 पंचेन्द्रिय-निरोध, 6 आवश्यक, 7 प्रकीर्णक, (केशलौंच, नग्न रहना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तघर्षण, दिन में केवल एक बार भोजन तथा खड़े होकर भोजन लेना)

36. **गुणस्थान**- मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अंतरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है, ये चौदह हैं- 1- मिथ्यात्व, 2- सासादन सम्यग्दृष्टि, 3- सम्यक् मिथ्यात्व, 4- असंयत सम्यग्दृष्टि, 5- देशविरत्, 6- प्रमत्त संयत, 7- अप्रमत्त संयत, 8- अपूर्वकरण, 9- अनिवृत्तिकरण, 10- सूक्ष्म साम्पराय, 11- उपशांत कषाय, 12- क्षीण कषाय, 13- सयोग केवली, 14- अयोग केवली।

37. **गुप्ति**- मन, वचन व काय के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। ये तीन प्रकार की होती है- मनगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

38 **ज्ञान**- ज्ञान के पाँच प्रकार हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवल।

39. **घातिया कर्म**- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, इन चार कर्मो का समूह घातिया कर्म कहलाता है।

40. **जीव**- षट द्रव्यों में से एक द्रव्य जिसमें चेतना गुण पाया जाता है। ये पाँच प्रकार के होते हैं- एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

41. **तत्व**- कर्म सिद्धान्त से संबद्धित सात तत्व होते हैं- 1- जीव, 2- अजीव, 3- आस्रव, 4- बंध, 5- संवर, 6- निर्जरा, 7- मोक्ष। इसमें पाप पुण्य का योग करके नव तत्व भी माने जाते हैं।

42 **तप**- 12 प्रकार के तप होते हैं- 6 बहिरंग-अनशन, अवमौदर्य (भूख से कम भोजन करना) रस परित्याग, वृत्ति परिसंख्यान (कोई नियम लेकर आहार के लिये जाना) विविक्त शय्यासन, कायक्लेश। 6 अतरग-प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कुत्सर्ग, (ममता मोह का त्याग), ध्यान।

43 **त्रसजीव**- द्विन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक शरीरधारी जीव।

44. **त्रसनाली (त्रसनाड़ी)**- लोकाकाश के मध्य में एक राजू लम्बी, एक राजू चौडी, 14 राजू ऊँची नाली। इसमें त्रस जीव रहते है।

45 **त्रिगुप्ति**- देखिये गुप्ति।

46 **त्रिमूढ़ता**- लोक मूढता, देवमूढता, गुरु मूढता, तीन प्रकार की अन्ध श्रद्धा त्रिमूढता कहलाती है।

47 **त्रिरत्न (रतनत्रय)**- मोक्षमार्गस्वरूप तीन रत्न- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहलाते हैं।

48 **त्रिलोक**- देखिये लोकाकाश।

49 **थावर**- देखिये स्थावर।

50 **दान**- चार प्रकार का दान- आहार दान, शास्त्रदान, औषधि दान, अभयदान।

51 **दिव्यध्वनि**- केवली भगवान के मुख से प्रकट होने वाली मेघ की गर्जना के समान ध्वनि, जिसे सुनने वाले अपनी-अपनी भाषा में सुनते और समझ लेते हैं।

52. **देव**- चार प्रकार के होते हैं- 1- भवनवासी, 2- व्यंतर, 3- ज्योतिषी, 4- कल्पवासी।

53 **दोष**- (अठारह दोष) भगवान अठारह दोषों से मुक्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं- क्षुधा, तृष्णा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और खेद।

54. **द्रव्य**- (षट द्रव्य) गुणों का समूह द्रव्य है। द्रव्य छ: हैं- इन्हीं से सृष्टि का निर्माण हुआ है। ये इस प्रकार हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। द्रव्य के तीन लक्षण होते हैं, उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय।

55. **द्वादश तप**- देखिये तप।

56. **द्वादशांग वाणी**- 1- आचारांग, 2- सूत्रकृतांग, 3- स्थानांग, 4- समवायांग, 5- व्याख्याप्रज्ञप्त्यांग, 6- धर्म कथांग, 7- उपासकाध्ययनांग, 8- अंत: कृद्शांग, 9- अनुत्तरौपपादिकदशांग, 10- प्रश्न व्याकरणांग, 11- विपाक सूत्रांग, 12- दृष्टि वादांग।

57 **धर्म**- आत्मा को उन्नत करने वाले तत्व धर्म हैं जो इस प्रकार हैं 1- उत्तम क्षमा, 2- उत्तम मार्दव, 3- उत्तम आर्जव, 4- उत्तम शौच, 5- उत्तम सत्य, 6- उत्तम संयम, 7- उत्तम तप, 8- उत्तम त्याग, 9- उत्तम अकिंचन, 10- उत्तम ब्रह्मचर्य।

58. **ध्यान**- चार प्रकार के हैं- आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल।

59 **ध्रौव्य**- द्रव्य के तीन लक्षणों मे से एक, स्थायित्व।

60. **नन्दीश्वर द्वीप**- मध्यलोक के बीचोबीच से आठवा द्वीप।

61 **निगोद**- बहुत से जीवों का एक ही शरीर होता है उस शरीर को निगोद तथा उन जीवा को निगोद शरीरी जीव कहते हैं।

62. **निमित्त**- (उपादान निमित्त)- जो स्वयं कार्यरूप मे परिणत होते हैं वे उपादानकारण कहलाते हैं। और जो कार्य के सम्पन्न होते समय अनुकूल कारण उपस्थिति होते हैं, उन्हें निमित्त कारण कहते हैं।

63. **निष्कल**- शरीर रहित।

64. **पंचमगति**- मोक्ष, निर्वाण।

65. **पंचास्तिकाय**- काल द्रव्य के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश।

66. **परमाणु**- सबसे छोटा पुद्गल जिसका भाग न हो सके।

67. **परमेष्ठी**-(पंच परमेष्ठी) इन्हें ही पंचगुरु भी कहते हैं- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु।

68. **परिणाम**- पाँच प्रकार के होते हैं- औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। ये ही भाव कहलाते हैं।

69 **परीषह**- 22 प्रकार के कष्ट। मन को विचलित किये बिना इनको सहना परीषह जय कहलाता है। ये इस प्रकार हैं- ग्रीष्म, शीत, क्षुधा, तृषा, दंशभषक, शय्या, वधबंध, चर्या, तृणस्पर्श, ग्लानि, रोग, नग्न, रतिअरति, स्त्री, मान-अपमान, थिर, कुवचन, अयाचना, अज्ञान, प्रज्ञा, अदर्शन, अलाभ।

70 **पाप**- पाप पाँच प्रकार के होते हैं- हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह।

71. **प्रतिमाएं**- (एकादश प्रतिमाएं) श्रावक के पालनयोग्य धर्म को 11 श्रेणियों मे विभक्त किया गया है, ये ही 11 प्रतिमाए कहलाती है- 1- दर्शन, 2- व्रत, 3- सामयिक, 4- प्रोषधोपवास, 5- सचित्त विरति, 6- रात्रिभोजन त्याग, 7- ब्रह्मचर्य, 8- आरम्भत्याग, 9- परिग्रह त्याग, 10- अनुमति त्याग, 11- उद्दिष्ट भोजन त्याग।

72 **प्रदेश**- आकाश के छोटे से छोटे अविभागी अश का नाम प्रदेश है अर्थात् एक परमाणु जितनी जगह घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।

73 **प्रातिहार्य**- (अष्ट प्रातिहार्य) केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान के आठ शुभ चिह्न अष्टप्रातिहार्य कहलाते है- 1- अशोकवृक्ष, 2- पुष्पवर्षा, 3-दुदुभि, 4- आसन, 5- दिव्यध्वनि, 6- त्रिछत्र, 7- दो चमर, 8- प्रभामडल।

74 **बंध**- कर्मो का आत्मा से सयुक्त होना बध कहलाता है।

75 **भव्य**- जिन जीवों में संसार से मुक्त होने की योग्यता होती है, वे जीव भव्य कहलाते हैं।

76 **भाव**- देखिये परिणाम।

77 **भावनाएं**- देखिये अनुप्रेक्षा।

78. **महाव्रत**- अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पूर्णत: पालन।

79 **मोहनीय कर्म**- अष्टकर्मो में से एक प्रबल कर्म।

80 **मोक्ष**- भवभ्रमण से मुक्ति ही मोक्ष है।

81 **योजन**- 4545.45 मील (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार)।

82 **रतनत्रय**- देखिये त्रिरत्न।

83. **राजू**- 4545.45 × 2057172 × 6 × 30 × 24 × 60 × 540000 मील (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार)

84. **लोकाकाश**- आकाश का वह भाग जो छः द्रव्यों से निर्मित है। लोकाकाश के बाहर केवल आकाश द्रव्य है, जो अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश को ही लोक अथवा त्रिलोक कहते हैं। इसकी ऊँचाई 14 राजू हैं मोटाई (उत्तर-दक्षिण दिशा में सर्वत्र 7 राजू तथा चौड़ाई पूर्व-पश्चिम दिशा में) मूल में 7 राजू, धीरे-धीरे कम होकर 7 राजू की ऊँचाई पर एक राजू पुनः क्रमशः बढ़कर साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर 5 राजू तथा क्रमशः घटते-घटते अन्त में चौदह राजू की ऊँचाई पर केवल एक राजू है। इसके तीन भाग हैं, ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोलोक। मूल से सात राजू की ऊँचाई तक अधोलोक तत्पश्चात 1 लाख योजन तक मध्य लोक, तत्पश्चात् 14 राजू की ऊँचाई पर लोक के अन्त तक ऊर्ध्वलोक है।

85 **विकलत्रय**- द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव।

86 **विदेह क्षेत्र**- जम्बू द्वीप मे 46000 योजन में निषध और नील पर्वतो के अन्तराल में एक क्षेत्र।

87 **विद्याधर**- कुछ विद्याओं के धारणकर्ता विद्याधर कहलाते हैं।

88 **व्यय**- द्रव्य के तीन लक्षणों मे से एक, विनाशशीलता।

89 **श्रावक**- जिनधर्मावलम्बी।

90 **षट् अनायतन**- देखिये अनायतन।

91 **षट् आवश्यक**- मुनि के लिये 6 आवश्यक धर्म- 1- सामायिक, 2- स्तुति, 3- वन्दना, 4- स्वाध्याय, 5- प्रतिक्रमण (अपनी दिनचर्या का अवलोकन), 6- कायोत्सर्ग।

92 **षट्कर्म**- गृहस्थों के लिये षट आवश्यक कार्य- 1- देवपूजा, 2- गुरु की उपासना, 3- स्वाध्याय, 4- संयम, 5- तप, 6- दान।

93. **षट्काय जीव**- 1- पृथ्वी कायिक, 2- जलकायिक, 3- अग्निकायिक, 4- वायुकायिक, 5- वनस्पति कायिक तथा त्रसजीव।

94 **सकल**- शरीर सहित। सकल परमात्मा- अरहंत भगवान।

95 **समवशरण**- वह सभास्थल जहाँ तीर्थंकर केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् धर्मोपदेश देते हैं।

96. **समिति**- मुनि के लिये सावधानीपूर्वक करने योग्य पांच कार्य समिति कहलाते हैं- 1- ईर्या, 2- भाषा, 3- ऐषणा, 4- आदान निक्षेपण, 5- प्रतिष्ठापन।

97. **समुद्घात**- केवलज्ञानी जीव की जब आयु अल्प शेष रह जाती है तथा नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म अधिक होते हैं तब उसकी आत्मा के प्रदेश मूल शरीर को न छोडकर फैलकर बाहर निकल जाते हैं, यही समुद्घात है।

98. **सम्यग्दृष्टि**- वह प्राणी जिसे सम्यग्दर्शन हो चुका हो।

99. **सप्तभंगी**- जब हम कोई भी कथन करते हैं तो किसी अपेक्षा से करते हैं। कथन के अधिक से अधिक सात प्रकार हो सकते है, इन्हें ही सप्तभंगी कहते है। ये इस प्रकार हैं- 1- अस्ति, 2- नास्ति, 3- अस्तिनास्ति, 4- अवक्तव्य, 5- स्यात्अस्ति, 6- स्यात् नास्ति, 7- स्यात् अस्तिनास्ति।

100 **स्कंध**- दो या दो से अधिक अनन्तानत परमाणुआ के परस्पर बध का स्कंध कहते हैं।

101 **स्थावर**- स्पर्शनेन्द्रिय सहित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति-कायिक एकेन्द्रिय जीव।

102 **सिद्ध**- जिस आत्मा के आठो कर्म नष्ट हो गये हो तथा आठ गुण प्रकट हो गये हो, वह शरीर रहित मुक्त आत्मा सिद्ध कहलाती है।

103 **सिद्ध शिला**- लोकाकाश का अग्रभाग जहाँ मुक्ति के पश्चात् आत्माए अनन्त काल तक रहती है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

संस्कृत ग्रंथ

1. **काव्य प्रकाश**- आचार्य मम्मट, भट्ट वामनाचार्य की टीका सहित, षष्ठ संस्करण, 1950 ई0, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटिट्यूट, पूना।
2. **काव्यादर्श**- आचार्य दंडी, व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
3. **तत्वार्थ सूत्र**- आचार्य उमास्वाति, टीकाकार व प्रकाशक ब्रह्मचारी मूलशंकर देसाई, चाकसू का चौक, जयपुर।
4. **नाट्यशास्त्र**- श्री भरतमुनि, सम्पादक डॉ0 रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
5. **पुरुषार्थसिद्धयुपाय**- श्री अमृतचन्द्र आचार्य, प0 टोडरमल कृत टीका सहित, तृतीय सस्करण 1950 ई0, दिगम्बर जैन मंदिर सराय, रोहतक।
6. **भक्तामर स्तोत्र**- श्री मानतुंगाचार्य, श्री मगनलाल हीरालाल पाटनी, दिगम्बर जैन पारमर्थिक ट्रस्ट, मारोठ (मारवाह)।
7. **महावीराष्टक स्तोत्र**- श्री योगीन्दु, प्रकाशक प0 बाबूलाल जैन जमादार, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद, बडौत।
8. **रत्नकरंड श्रावकाचार**- आचार्य समन्तभद्र, प0 सदासुख द्वारा सम्पादित, अनूदित एव प्रकाशित।
9. **रूप गोस्वामी कृत भक्ति-रसामृत सिंधु**- सम्पादक डॉ0 श्यामनारायण पांडेय, प्रथम सस्करण 1965, ई0, साहित्य निकेतन, कानपुर।
10. **शास्त्रसार समुच्चय**- आचार्य माघनन्दी, आचार्य देशभूषण जी की टीका सहित, प्र0 श्री राजेन्द्र कुमार जैन, नई दिल्ली।
11. **साहित्य-दर्पण**- आचार्य विश्वनाथ, प्रथम संस्करण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।
12. **सिद्धभक्ति**- आचार्य पूज्यपाद।
13. **स्वयंभू स्तोत्र**- आचार्य समन्तभद्र, पं0 जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित एवं अनूदित, 1951 ई0 वीर सेवा मंदिर, सरसावा।

प्राकृत ग्रंथ

1. **गोम्मट सार**- आचार्य नेमिचन्द्र, पं0 टोडर मल कृत टीका सहित, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था के महामंत्री पन्नालाल बाक्लीवाल द्वारा प्रकाशित।
2. **तिलोयपण्णत्ति (भाग-१)**- यतिवृषमाचार्य, सं0 प्रो0 आदिनाथ झा तथा प्रो0 हीरा लाल जैन, पं0 बालचन्द्र शास्त्री द्वारा अनूदित, जैन संस्कृति संरक्षक सघ, शोलापुर।
3. **दंसणपाहुड**- श्री कुंदकुंदाचार्य।
4 **द्रव्य संग्रह**- श्री ब्रहमदेव की टीका सहित, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, धनबाद, बिहार।
5 **पंचास्तिकाय**- श्री कुंदकुदाचार्य।
6 **प्रवचनसार**- श्री कुदकुदाचार्य।
7 **भावपाहुड**- श्री कुंदकुदाचार्य।
8 **समयसार**- श्री कुदकुदाचार्य, सम्पादक प0 पन्नालाल। साहित्याचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रथ माला, वाराणसी।

अपभ्रंश ग्रंथ

1 परमात्म प्रकाश- श्री योगीन्दु।

हिन्दी ग्रंथ

1 अध्यात्म पदावली- सम्पादक डॉ0 राजकुमार जेन, द्वितीय सस्करण 1964 ई0, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।
2 **अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद**- डॉ0 बासुदेव सिंह, प्रथम सस्करण स0 2022 वि0, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी।
3 **अद्र्धकथानक (कवि बनारसीदास कृत)**- सम्पादक प0 नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
4 **अलंकार मंजूषा**- लाला भगवानदीन, नवम सस्करण, सं0 2004 वि0, रामनारायण लाल, इलाहाबाद।
5 **अलंकारों का स्वरूप विकास**- डॉ0 ओमप्रकाश, 1973 ई0, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।
6 **औरंगजेब**- सर यदुनाथ सरकार, नया संस्करण 1970 ई0, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई, दिल्ली।

7. **औरंगजेब के उपाख्यान**- सर यदुनाथ सरकार, प्रथम संस्करण 1967 ई0, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा।
8. **कबीर काव्य संग्रह**- सं0 डॉ0 राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, प्र0 1969 ई0, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
9. **कबीर-ग्रंथावली**- सं0 डॉ0 श्यामसुन्दर दास, पांचवां संस्करण सं0 2011, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
10. **कबीर ग्रंथावली**- सं0 डॉ0 पारसनाथ तिवारी, प्रथम संस्करण 1961 ई0, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
11. **कबीर बीजक**- सं0 डॉ0 शुकदेव सिह, प्रथम संस्करण 1972 ई0, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद।
12. **कविवर बनारसीदास जीवनी और कृतित्व**- डॉ0 रवीन्द्र कुमार जैन, प्रथम संस्करण 1966 ई0, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।
13. **कवि-प्रिया**- केशवदास, केशव ग्रंथावली खंड 1, सं0 श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद।
14. **कामायनी के अध्ययन की समस्यायें**- डॉ0 नगेन्द्र, प्र0 1962 ई0, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, देहली।
15 **काव्य-दर्पण**- विद्यावाचस्पति प0 रामदहिन मिश्र, चतुर्थ संस्करण 1960 ई0, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना।
16. **काव्य-प्रदीप**- पं0 रामबहोरी शुक्ल, चौदहवा संस्करण, 1964 ई0, हिन्दी-भवन, जालंधर और इलाहाबाद।
17. **काव्य-कल्पद्रुम प्रथम भाग (रसमंजरी)**- सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण, सं0 2004, वि0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चूड़ीवालों का मकान, मथुरा।
18. **क्षुल्लक चिदानन्द स्मृति ग्रंथ**- प्रधान सम्पादक गोरेलाल शास्त्री, चिदानन्द स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति, द्रोणगिरि, छतरपुर।
19. **गुरू गोपालदास बरैया ग्रंथ**- मुख्य सं0 सिद्धान्ताचार्य पं0 कैलाशचन्द्रशास्त्री, प्रथम संस्करण 1967 ई0, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद, सागर।
20. **चिन्तामणि (भाग एक)**- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 1956 ई0, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

21. **चेतन-कर्म-चरित्र (भैया भगवतीदास कृत)**- पं0 पन्नालाल जैन साहित्याचार्य द्वारा पद्यानुवाद सहित, प्रथम संस्करण 1970 ई0, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत।
22. **छहढाला (पं० दौलतराम कृत)**- श्री मगनलाल जैन के द्वारा अनुवादित, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़, (सौराष्ट्र)।
23. **छंद विज्ञान की व्यापकता**- पं0 हरिशंकर शर्मा, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा।
24. **छंद-प्रभाकर**- साहित्यवाचस्पति जगन्नाथ प्रसाद 'भानुकवि' नवम् संस्करण 1939 ई0, जगन्नाथ प्रेस, बिलासपुर।
25. **जैन शोध और समीक्षा**- डॉ0 प्रेम सागर जैन, प्रथम संस्करण 1970 ई0, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर।
26. **जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि**- डॉ0 प्रेमसागर जैन, प्रथम सस्करण 1963 ई0, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
27 **जैन शासन का ध्वज**- डॉ0 जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल, वीर निर्वाण सवत् 2499, वीर-निर्वाण भारती, मेरठ।
28 **जैन धर्म**- प0 कैलाश चन्द्र जैन शास्त्री, तृतीय संस्करण 1955 ई0, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा।
29 **जैन धर्म**- मुनि सुशील कुमार, प्रथम सम्करण 1958 ई0, अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस भवन, नई दिल्ली।
30 **जैन धर्म**- श्री रतनलाल जैन, प्रथम सस्करण 1974 ई0, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।
31. **जैन दर्शन**- प्रो0 महेन्द्र कुमार जैन, प्रथम संस्करण, 1955 ई0, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, काशी।
32 **जैन साहित्य और इतिहास**- श्री नाथूराम प्रेमी, द्वितीय संस्करण, 1956 ई0, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई।
33 **तनसुख राय जैन स्मृति ग्रंथ**- सम्पादक मंडल- श्री जैनेन्द्र कुमार जैन, श्री अक्षय कुमार जैन, श्री यशपाल जैन, तनसुखराय जैन स्मृति-ग्रंथ समिति, दिल्ली।
34 **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ**- डॉ0 हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रथम सस्करण 1974 ई0, पं0 टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।

35. **दाराशिकोह**- डॉ0 कालिका रंजन कानूनगो, प्रथम संस्करण 1958 ई0, गयाप्रसाद एंड संस, आगरा।
36. **पं० टोडरमल व्यक्तित्व और कृतित्व**- डॉ0 हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रथम संस्करण 1973 ई0, पं0 टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
37. **पंचास्तिकाय**- पं0 हीरानन्द।
38. **प्रिया-प्रकाश (कवि केशवदास कृत कवि-प्रिया)**- टीकाकार लाला भगवानदीन, द्वितीय संस्करण, सं0 2014 वि0, कल्याणदास एंड ब्रदर्स, ज्ञानवाणी, वाराणसी।
39. **ब्रजभाषा**- डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, 1954 ई0, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।
40. **ब्रह्मविलास**- भैया भगवतीदास, प्रथम संस्करण 1903 ई0, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
41 **ब्रह्मविलास**- भैया भगवतीदास, द्वितीय संस्करण 1926 ई0, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
42 **बिहारी रत्नाकर**- सम्पादक श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', ग्रंथकार शिवाला, बनारस।
43 **बोलचाल**- पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', द्वितीय संस्करण सं0 2013 वि0, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
44. **भारत का इतिहास**- डॉ0 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, चतुर्थ सस्करण 1974 ई0, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा।
45. **भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग (१)**- सम्पादक बलभद्र जैन, प्रथम संस्करण 1974, ई0, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ कमेटी, हीराबाग बम्बई।
46. **भारत में संस्कृति एवं धर्म**- डॉ0 एम0 एल0 शर्मा, प्रथम संस्करण 1969 ई0, रामा पब्लिशिंग हाऊस, बडौत (मेरठ)।
47. **भारतीय इतिहास एक दृष्टि (खण्ड २)**- डॉ0 ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
48. **भारतीय ज्योतिष**- श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, प्रथम संस्करण 1952 ई0, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
49. **भारतीय दर्शन**- श्री बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, बनारस।
50. **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान**- डॉ0 हीरालाल जैन, प्रकाशन 1962 ई0, मध्य प्रदेश शासन, साहित्य परिषद, भोपाल।

51. **मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण**- इन्द्रविद्यावाचस्पति।
52. **मूल में भूल**- (भैया भगवतीदास एवं कवि बनारसीदास कृत दोहों पर कानजी स्वामी के प्रवचन)- प्राप्तिस्थान आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया (काठियावाड़)।
53. **रस सिद्धान्त**- डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
54. **राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची (चार भाग)**- डॉ0 कस्तूरचंद कासलीवाल, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी, जयपुर।
55. **रीति काव्य की भूमिका**- डॉ0 नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, 1953 ई0, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
56 **विनयपत्रिका**- तुलसीदास, षष्ठ संशोधित संस्करण, संवत् 2007 वि0, साहित्य सेवा सदन, बनारस।
57 **शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत**- डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत, एस0 चाद एड कम्पनी, दिल्ली।
58 **श्रावक धर्म संस्कृति**- स्व0 दरयाव सिंह जी सोंधिया, प्रथम संस्करण 1975 ई0, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली।
59 **संस्कृति के चार अध्याय**- रामधारी सिंह 'दिनकर'।
60 **सिद्धि सोपान**- पं0 जुगलकिशोर मुख्तार, हिन्दी ग्रथ रत्नाकर, बम्बई।
61 **सूर विनयपत्रिका**- सम्पादक सुदर्शन सिंह, गीताप्रेस, गोरखपुर।
62 **हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि**- डॉ0 प्रेमसागर जैन, प्रथम सस्करण 1964 ई0, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
63. **हिन्दी जैन साहित्य का परिशीलन (भाग १)**- श्री नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, प्रथम संस्करण, 1956 ई0, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
64. **हिन्दी जैन साहित्य का परिशीलन (भाग २)**- श्री नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
65. **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास**- पं0 नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
66. **हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास**- स्व0 श्री कामता प्रसाद जैन।
67. **हिन्दी नीति काव्य**- डॉ0 भोलानाथ तिवारी, प्रथम संस्करण 1958 ई0, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
68 **हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास**- आचार्य चतुरसेन शास्त्री, विद्यार्थी संस्करण, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

69. **हिन्दी साहित्य का इतिहास (भाग २)**- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण सम्वत् 2017 वि0, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी।

70. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवां संस्करण, सम्वत् 2009 वि0, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

71. **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, द्वितीय संस्करण 1957 ई0, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना।

72. **हिन्दी साहित्य की भूमिका**- डॉ0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, षष्ठ संस्करण 1959 ई0, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई।

73. **हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, षष्ठ भाग**- सम्पादक डॉ0 नगेन्द्र प्रथम संस्करण, सम्वत् 2015 वि0, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

74. **हिन्दुस्तान के निवासियों का इतिहास**- डॉ0 ताराचन्द।

हस्तलिखित ग्रंथ

1 **ब्रह्मविलास**- भैया भगवतीदास, लिपिकाल संवत् 1778 वि0, प्राप्ति स्थान नया मंदिर (जैन मंदिर) धर्मपुरा, दिल्ली।

2. **ब्रह्मविलास**- भैया भगवतीदास, लिपिकाल संवत् 1881 वि0, प्राप्ति स्थान दिगम्बर जैन पुराना पंचायती मंदिर आबूपुरा, मुजफ्फरनगर।

3. **ब्रह्मविलास**- भैया भगवतीदास, लिपिकाल सम्वत् 1939 वि0, प्राप्ति स्थान जैन मंदिर, बिजनौर।

कोश ग्रंथ

1 **देवनागरी उर्दू-हिन्दी कोश**- सं0 रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

2 **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग चार)**- क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

3. **जैन लक्षणावली (भाग १ व २)**- सम्पादक बालचंद्र सिद्धान्त शास्त्री, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली।

4. **वृहत् जैन शब्दार्णव (प्रथम खण्ड)**- सम्पादक श्री बी0 एल0 जैन चैतन्य, सं0 1982 वि0, चैतन्य प्रेस, बिजनौर।

5. **वृहत् जैन शब्दार्णव (द्वितीय खण्ड)**- सं0 ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद 1930 ई0, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत।

6. **हिन्दी शब्द सागर**- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

7. **हिन्दी साहित्य कोश**- प्रधान सं0 डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मंडल लिमिटेड, बनारस।

पत्रिकाएं

1. **अनेकान्त**, फरवरी, मार्च 1942, फरवरी 1944, दिसम्बर, जनवरी 1944-45, नवम्बर 1956, फरवरी 1957, मार्च 1957, अप्रैल 1957, अगस्त 1971, तथा अप्रैल 1972.
2. **अहिंसावाणी**, सितम्बर 1969, ई0
3. **आगमपथ**, निर्वाण रजत शती अंक,
4. **जैन संदेश**, शोधांक अगस्त 1964, ई0
5. **तुलसी प्रज्ञा**, प्रवेशाक जनवरी, मार्च 75, ई0
6. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, वर्ष 67 अंक 4, सोलहवां विवरण (1935-36).
7 **महावीर जयंती स्मारिका**, अप्रैल 1964, ई0
8. **महावीर जयंती स्मारिका**, 1973 ई0 राजस्थान जैन सभा, जयपुर।
9. **महावीर जयंती स्मारिका**, 1975 ई0 राजस्थान जैन सभा, जयपुर।
10. **मानस मयूख**, वर्ष 2, अंक 1.
11 **मुक्ति दूत-भगवान**, महावीर 2500वां निर्वाण महोत्सव समापन, स्मारिका नवम्बर, 1975, ई0.
12 **वीर वाणी**, वर्ष 2, अक 1, 3 अप्रैल 1948, ई0.
13. **श्रमण** नवम्बर 1972, तथा नवम्बर, दिसम्बर 1973, ई0.
14 **हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण**, द्वितीय खंड।

अखिल भारतीय साहित्य कला मंच

स्थापना

'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच' की अपनी साहित्यिक गतिविधियों, अपने अनेक प्रकाशनों तथा हिन्दी के प्रचार-प्रसार के अपने पारदर्शी उद्देश्यो के कारण भले ही दशको पुराना-सा लगे किन्तु अपनी उम्र से बहुत बडा-सा लगने वाले इस मंच की उम्र मात्र 18 वर्ष है। वर्ष **1988** में **4** मार्च को मंच के सस्थापक अध्यक्ष **डॉ० महेश 'दिवाकर'** डी0 लिट0 (हिन्दी), अध्यक्ष व रीडर, हिन्दी विभाग, गुलाब सिंह हिन्दू (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, चाँदपुर (बिजनौर) के आवास पर आयोजित गोष्ठी में यह मच वैचारिक स्तर पर अस्तित्व म आया। मंच ने अपनी यात्रा **'नवजात साहित्यकार मंच'** के नाम से आरम्भ की। आरम्भ मे इसका स्वरुप और क्षेत्र केवल चाँदपुर तक सीमित था। कुछ ही समय म जनपद की सीमाएँ पार कर इसन कई प्रान्तों के सुधी पाठको/साहित्यकारो का अपनी निजता का परिचय दिया। विस्तृत स्वरुप व क्षेत्र के अनुरुप कुछ परिवर्तन के साथ मच को **1992** में **'साहित्य कला मंच'** नाम दिया गया। मच के साहित्यिक कार्यों में निरन्तर फैलाव होता रहा। अपने आरम्भ से मच ने अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम आयोजित किए। अनेक काव्य सकलनो व अन्य साहित्यिक ग्रथों का प्रकाशन किया। अखिल भारतीय स्तर पर साहित्यिक प्रतियोगिताएँ आयोजित की गईं। कुछ प्रमुख पत्रिकाओं मे साहित्यकारों के विशेषाक प्रकाशित कराये गये। मच की ओर से अब तक अनेक काव्य-संकलनों और ग्रथों का प्रकाशन व सम्पादन किया गया। वस्तुत: इन्हीं कुछ उपलब्धियों के कारण **'साहित्य कला मंच'** ने भारत के लगभग हर प्रदेश को सुवासित किया है। फलत: **'कार्यकारिणी'** ने अपने साहित्यकारो के परामर्श पर **वर्ष 1996** में इसका स्वरुप **'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच'** कर दिया। साथ ही 'मच' ने **बरेली, मेरठ, फैजाबाद, नैमिषारण्य, लखनऊ, सुल्तानपुर, गाजियाबाद, प्रयाग** आदि नगरों में अपनी शाखाएँ स्थापित की हैं, और यह विस्तार निरन्तर जारी है।

आश्चर्य जनक लग सकता है किन्तु यह सत्य है कि **'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच'** ही सम्भवत· एक मात्र ऐसा साहित्यिक मंच है कि जिसका अभी तक कोई भी मासिक, वार्षिक अथवा अन्य किसी प्रकार का सदस्यता शुल्क नहीं है। साहित्य के प्रति सहृदयता और राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति आपकी सच्ची निष्ठा ही इसकी प्रतीकात्मक सदस्यता रही है। **'मंच'** के द्वारा आयोजित किए जाने वाले साहित्यिक-समारोहों/आयोजनों

और प्रकाशनो का अधिकाश व्यय **स्व० श्री सतीश चन्द्र अग्रवाल, 'संस्थापक-संरक्षक'** के सुपुत्र **श्री मनोज कुमार अग्रवाल**, संरक्षक करते रहे हैं। अब मच के **नये संरक्षक श्री राजकुमार अग्रवाल** और **श्री लक्ष्मण प्रसाद अग्रवाल** का सहयोग भी हमें मिलता है। यदा-कदा कुछ अन्य समाज-सेवी और सरस्वती के उपासक तथा हिन्दी-प्रेमी भी साहित्यिक-कार्यक्रमों मे अपना आंशिक सहयोग करते रहे हैं, जिसके परिणाम स्वरुप माँ सरस्वती की कृपा से **'मच'** के अब तक के सारे साहित्यिक अनुष्ठान सफलता पूर्वक सम्पन्न होते जा रहे हैं। **'मंच'** की ओर से प्रत्येक वर्ष स्थायी रूप से **स्व० सतीश चन्द्र अग्रवाल** (सस्थापक सरक्षक) की स्मृति में **2101/-** का समग्र साहित्य सम्मान/पुरस्कार 1998 स निरन्तर दिया जा रहा है जिसे उनके पुत्र **श्री मनोज कुमार अग्रवाल** एडवोकेट चाँदपुर अपने करकमलो से प्रदान करते हैं। इसी प्रकार सन् 2001 से साहित्य के क्षेत्र मे **'प्रो० रामप्रकाश गोयल साहित्य शिरोमणी-सम्मान'** और व्यग्य के क्षेत्र मे **'डॉ० परमेश्वर गोयल-व्यंग्य शिखर सम्मान'** और गीतों के क्षेत्र में **'रामकिशन अग्रवाल स्मृति गीति-सम्मान'**, बाल साहित्य के क्षेत्र में **'लक्ष्मण प्रसाद अग्रवाल बाल साहित्य-सम्मान'** भी शुरू किये गये हैं, जो प्रत्येक **2101/- रूपये के हैं।** सन् 2004 से साहित्य के क्षत्र म **महाकवि डॉ० हरिशंकर आदेश साहित्य-सिंधु सम्मान** तथा **महाकवि डॉ० हरिशकर आदेश साहित्य-चूड़ामणि सम्मान** प्रत्येक **5000/-** रूपये के भी प्रारम्भ किये गये हैं। इसी प्रकार कुछ और भी विधागत पुरस्कार शुरू किए जा रहे हैं।

उद्देश्य

'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच' अपनी स्थापना से ही अराजनीतिक एव अव्यावसायिक सस्था के रुप मे चिरपरिचित है। इसका उद्देश्य **'चेतना, चरित्र एव एकता** का विकास' करना है; जिसे बिन्दुश. उद्देश्यो में विभाजित किया गया है-

1 हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना और सामयिक गोष्ठियाँ कराना।

2 साहित्यकारों को सगठित एव प्रोत्साहित करना।

3 बाल प्रतिभाओ/नवोदित प्रतिभाओं को प्रकाश में लाना।

4 सास्कृतिक चेतना व राष्ट्रीय सौहार्द को बढाना।

5 अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करके लोकार्पण-समारोह करना और साहित्यकारो को **'साहित्यश्री'** से सम्मानित करना।

6 साहित्यकारो के सम्मान हेतु **मुख्यालय मुरादाबाद में 'साहित्यिक न्यास'** की स्थापना और **'सांस्कृतिक भवन'** का निर्माण।

प्रतीक

माँ सरस्वती का प्रतीक चिन्ह ही मच का प्राण है।